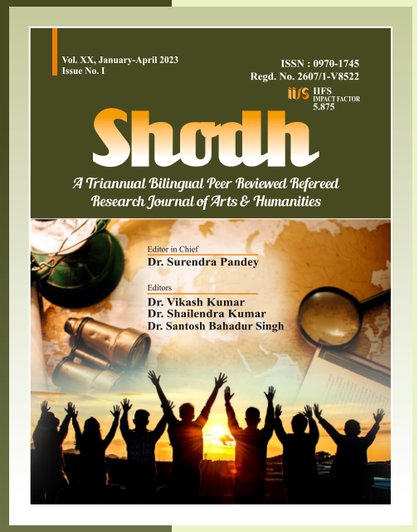

Published by

History & Historical Writing Association,
U.P., Varanasi (INDIA)
HIG-4, VDA Colony, Lalpur-II, Chandmari,
Varanasi, Email: shodh1984@gmail.com

Shodh A Triannual Bilingual Refereed Journal of Arts & Humanities ■ January-April 2023

Vol. XX, January-April 2023
Issue No. I

ISSN : 0970-1745
Regd. No. 2607/1-V8522
IIFS
IMPACT FACTOR
5.875

Shodh

A Triannual Bilingual Peer Reviewed Refereed Research Journal of Arts & Humanities

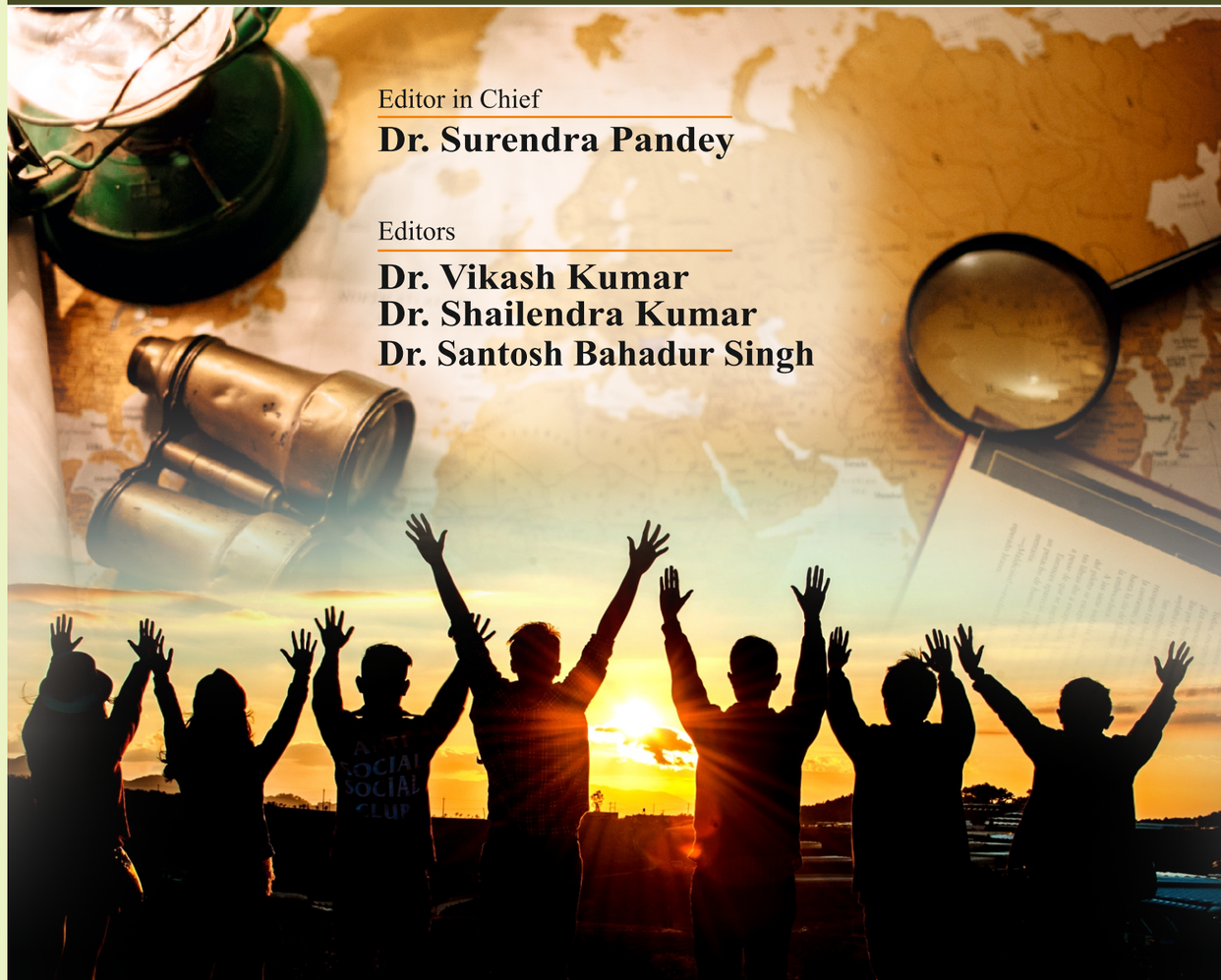

Vol. XX Issue No. 1, Jan.–April. 2023, ISSN: 0970-1745 **Impact Factor 5.875**

Regd. No. 2607/1-V8522 ISSN: 0970-1745

SHODH

[A Triannual Bilingual Peer Reviewed Refereed Research Journal of Art & Humanities]

Chief Editor
Dr. Surendra Pandey
Editors
Dr. Vikash Kumar
Dr. Shailendra Kumar
Dr. Santosh Bahadur Singh

Published by
History & Historical Writing Association, U.P., Varanasi (India)
HIG-4, VDA Colony, Lalpur-II, Chandmari, Varanasi
Mob. 9451173404, 9868477818, 9470828492 Email: shodh1984@gmail.com

Printed by
Akhand Publishing House, Delhi (India)
L-9/A, First Floor, Street No.42, Sadatpur Extension, Delhi
Mob. 9968628081, 9555149955, 9013387535 Email: akhandpublishing@yahoo.com

Note: The responsibility of the facts given and opinions expressed in articles of journal is solely that of individual author and not to the publisher.

First Issue Publication 1984

Chief Editor :

Dr. Surendra Pandey
Assistant Professor,
Kuba P.G. College,
Dariyapur, Newada, Azamgarh

Editor

(i) **Dr. Vikash Kumar**
Assistant Professor,
Department of Hindi,
Sri Varshney College, Aligarh, U.P

(ii) **Dr. Shailendra Kumar**
Assistant Professor,
Department of Management
Sikkim University, Sikkim

(iii) **Dr. Santosh Bahadur Singh**
Assistant Professor
Department of English
Lady Irwin College, University of Delhi

Executive-Editor

Dr. Varsha Singh
Associate Professor
Department of English
Deshbandhu College, University of Delhi

Co-Editor

Dr. Ripunjay Kumar Singh
Assistant Professor, Hindi,
S.N.R.K.S. College, Saharsa (Bihar)

Sub-Editor

Dr. Abhay Kumar
Assistant Professor, BRM College, Munger
Munger University, Bihar

Vol. XX Issue No. 1, Jan.–April. 2023, ISSN: 0970-1745 **Impact Factor 5.875**

SHODH

.....A Triannual Bilingual Refereed Research Journals of Arts & Humanities

Patrons
Dr Jai Ram Singh
Principle Degree College, Palahipatti, Varanasi

Editorial Board

1. Prof. Hirocko, Nagasaki, Osaka University, Japan.
2. Prof. Ashok Singh, Department of Hindi, Banaras Hindu University.
3. Prof. Ravindra Nath Singh, AIHC Department, Banaras Hindu University.
4. Prof. Rangnath Pathak, Department of Hindi, Banaras Hindu University.
5. Prof. Chandrakala Tripathi, Department of Hindi, Banaras Hindu University.
6. Prof. Anita Singh, Department of English, Banaras Hindu University.
7. Prof. Abha Singh, Pro Vice Chancellor, B.N. Mandal University, Bihar.
8. Prof. Yogesh Kumar Sharma, Department of English, Swami Shraddhanand College, University of Delhi.
9. Prof. Sanghmitra, Department of Political Science, Bodoland University Assam.
10. Dr Nirmla Kumari, Associate Professor, Hindi Department, Shri Varshney College, Aligarh.
11. Dr Varsha Singh Associate Professor English Department, Deshbandhu College, University of Delhi.
12. Dr Anupam Kumar, Associate Professor of English, SGT University, Budhera, Badli Road, Gurugram, Haryana
13. Dr O.P. Singh, Harishchandra P.G. College, Varanasi.
14. Santosh Patel, Assistant Registrar, Delhi Teacher University, Delhi.
15. Dr Ratnesh Tripathi, Assistant Professor, Department of History, Satyawati College, University of Delhi.
16. Dr Vikash Kumar Singh, Assistant Professor, AIHC Department, Banaras Hindu University.

17. Satyendra Kumar, Assistant Professor, Department of English, Kirori Mal College, University of Delhi.

18. Dr. Shubhanku Kochar, Assistant Professor, Department of English, Guru Govind Singh Indraprastha University, Dwarka New Delhi.

19. Vijay kumar, Assistant Professor, Department of English, Satyawati College, University of Delhi.

20. Dr Bhartendu Kumar Pathak, Assistant Professor, Department of Hindi, Kashmir University, Shrinagar (J&K).

21. Dr Priyadarshini, Assistant Professor, Department of Hindi, The English Foreign Languages University, Haiderabad, Telangana.

22. Dr.Rashmika Mishra Assistant professor department of vocal music Mmv Bhu.

23. Dr. Bhupendra Kumar, Assistant Professor Department of Sanskrit Kirori Mal College, University of Delhi. Delhi-110007

विषय-सूची
Contents

PART–I

1. अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र की बैगा जनजाति की सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक दशाओं का नृजातिशास्त्रीय अध्ययन 3
*—*हरिशंकर कुमार, **अनिल कुमार, ***मुकेश कुमार*

2. एलिस एक्का की कहानियों में आदिवासी महिला संघर्ष: एक अध्ययन 19
—ऋतु

3. माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि पर विद्यालय त्याज्यता के प्रभाव का अध्ययन 28
—राकेश कुमार

4. शिकंजे का दर्द आत्मकथा में छिपी सुशीला टाकभौरे की पीड़ा 39
—राज श्री

5. ग्रामीण समाज पर ग्रामीण नगरीय सातत्य के प्रभाव 43
*—*जय प्रताप सिंह, **डॉ. अतुल कुमार यादव*

6. डॉ० विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंध में मानव मूल्य 52
—डॉ० अरुण कुमार मिश्र

7. कबीर, भोजपुरी एवं चंपारण 63
—डॉ. संतोष पटेल

8. गालिब के खुतूत : 1857 के गदर के आईने में 70
—डॉ. मोहम्मद आदिल

9. परम्परा अतीत-अनुकरण नहीं है
(परम्परा का मूल्यांकन – रामविलास शर्मा) 82
—प्रभात कुमार मिश्र

10. गीतकार शैलेंद्र 86
—डॉ शालिनी सिंह

11. 'तथागत' जैसा कोई नहीं 93
—डॉ. मधुलिका बेन पटेल

12. जीवन-प्रवाह और मानवीय संवेदना की सटीक पहचान
(प्रेमचन्द और उनका युग- रामविलास शर्मा) 98
—प्रभात कुमार मिश्र

13. मीरा पदावली में अंतर्कथाओं का संबंध 103
—डॉ. मंजु रानी

14. राष्ट्रकवि दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना 110
—डॉ० ज्योति कुमारी

15. आत्मकथात्मक उपन्यास : स्वरूप एवं अवधारणा 121
—राज मणि सरोज

16. आधुनिक कवियों की काव्य चेतना 126
—डॉ० वनीत कौर

17. उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के काफी थाट के प्रचलित एवं अप्रचलित राग 131
—डॉ० कविता शर्मा

18. सड़क दुर्घटनाओं की प्रवृत्तियों को व्यवस्थित करने के लिए सड़क सुरक्षा
कानूनः अधिकार और कर्त्तव्य 138
—अमर प्रताप सिंह

19. जनपद कुशीनगर (उ०प्र०) की जनसंख्या की संरचनात्मक विशेषताएं 147
—रामप्रवेश गुप्ता

20. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में जनजातीय आन्दोलन की भूमिका 157
—सत्य बहादुर सिंह

21. परिवार कल्याण का क्षेत्रीय स्वरूप एवं ग्रामीण विकास लालगंज तहसील, जनपद-आजमगढ़ 167
—डॉ० दिग्विजय सिंह

22. अवध क्षेत्र के भौगोलिक पृष्ठभूमि पर अवधी भाषा का प्रभाव 172
—डॉ० कौशल किशोर मिश्र

23. धार्मिक सहिष्णुता : समाजशास्त्रीय विश्लेषण 176
—डॉ० सतीश चन्द्र तिवारी

24. औपनिवेशिक भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 181
*—*प्रो० प्रतिभा शर्मा, **दिनेश सिंह*

25. रघुवीर सहाय की रचनाओं में लोकतंत्र के विविध रूप 185
—डॉ० भावना सिंह शाक्य

26. योग - जीवन जीने की एक दिव्य कला 196
—डॉ० रवेन्द्र राजपूत

27. वर्तमान परिदृश्य में उरांव जनजाति के बदलते परंपरागत प्रतिमान: सामाजिक- सांस्कृतिक संदर्भ में 203
*—*डॉ. विकास कुमार, **अंकुर कुमार पाण्डेय*

28. पर्यावरण में जैव विविधता के संरक्षण का महत्व 217
—प्रियंका राय

29. नागार्जुन का उपन्यास शिल्प 221
*—*पौल्टी कुमारी, **डॉ० आनंद कुमार सिंह*

30. रोहतास जिला (बिहार) में भूमि उपयोग प्रतिरूप : एक भौगोलिक अध्ययन 228
—अभिषेक कुमार

31. हिन्दी कहानी और आदिवासी स्त्रियों की कथा-व्यथा 233
—डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय

32. गोदान : संवेदनात्मक अन्तर्विरोध 236
—डॉ० विकास कुमार

PART–II

1. Renaissance and its Importance in the Transformation of Europe and the Entire World) 3
—Dr. Anshika Arthur

2. A Study Effect of Weight Training Program on Selected Physical Fitness Variables Among Inter Collegiate Level Handball Players 14
—Dr Amarjeet

3. Intellectual Property Rights and Its Evaluation 22
—Aditya Kumar Yadav

4. Identity-Crisis Under the Compulsive Social Forces in Perumal Murugan's novel 'One Part Woman' 30
—Dr. Neeru Varshney

5. The Historical Background of Physical Education and Sports: Development and Contribution to Social Health Upliftment 37
—Dr Shahanawaz Kha

6. Impact of Dr. Ambedkar's Ideas on Women's Status and Rights 49
—Rekha

PART – I

अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र की बैगा जनजाति की सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक दशाओं का नृजातिशास्त्रीय अध्ययन

हरिशंकर कुमार
(सीनियर रिसर्च फैलो) भूगोल विभाग
इन्द्रिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय अमरकन्टक मध्यप्रदेश।
****अनिल कुमार***
(सहायक आचार्य)
समाजशास्त्र विभाग, (बी.पी.जी.सी.)
वीर बहादुर सिंह पूर्वान्चल विश्वविद्यालय
जौनपुर, उत्तर प्रदेश
*****मुकेश कुमार***
समाजशास्त्र विभाग बरेली कालेज बरेली

शोध सार

पृथ्वी पर विभिन्न प्रजातियों के जीव एवं वनस्पतियां पाई जाती हैं, इसमें क्षेत्रों में बहुत अधिक विविधता होने के कारण विभिन्न क्षेत्रों में बांटा गया है। जैव विविधता को लंबे समय तक सुरक्षित रखने के लिए जैव मंडल को संरक्षित किया जाता है, इसके क्षेत्रों को कार्यों एवं मानव संख्या जनसंख्या के दबाव एवं हस्तक्षेप के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में बांटा गया है, केंद्रीय भारत में अचानकमार अमरकंटक जैवमंडल उनमें से एक है। भारतीय वन्य जीव संरक्षण अधिनियम 1972 के तहत स्थापित इस जैवमंडल को 2009 में टाइगर रिजर्व घोषित किया गया। भारत सामाजिक सांस्कृतिक विभिन्नताओं का द्रवण पात्र है। मध्य भारत का क्षेत्र जनजातियों का निवास स्थल है, जिनमें बैगा जनजाति प्रमुख है, प्रस्तुत गुणात्मक एवं परिमाणात्मक शोध पत्र बैगा जनजाति पर आधारित हैं, जिसमें साक्षात्कार अनुसूची एवं अवलोकन द्वारा प्राथमिक आंकड़े एकत्रित किए गए हैं। बैगा जनजाति विभिन्न उप जनजातियों में विभाजित है। बैगा जनजाति प्रकृति के अत्यधिक निकट होने के कारण चिकित्सा एवं जीवन यापन के लिए अधिकांशत प्रकृति पर निर्भर है, क्षेत्रीय प्रमुखता के कारण धार्मिक जीवन एवं कला संस्कृति में प्राकृतिक वस्तुएं सम्मिलित हैं। यह जनजाति सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से प्रकृति के अत्यधिक निकट है, बाहरी संपर्क एवं हस्तक्षेप के कारण बैगा जनजाति के आर्थिक, राजनैतिक जीवन के साथ सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन प्रभावित हो रहा है।

कुंजी शब्द - बैगा जनजाति, अचानकमार अमरकंटक, संरक्षित जैव मंडल क्षेत्र, जैव विविधता।

प्रस्तावना

जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र, जैवविविधता के विशाल क्षेत्र हैं। इसमें वनस्पतियों एवं जीव-जन्तुओं का संरक्षण किया जाता है। अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र अर्न्तराष्ट्रीय प्रकृति संरक्षण संघ के अनुसार छः प्रकार की संरक्षित श्रेणियाँ में से एक प्रकार का संरक्षित क्षेत्र है। इसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति संरक्षण संघ द्व ारा निर्धारित पांचवीं श्रेणी में सम्मिलित किया गया है (IUCN Gaudeline 1994, 2008 Barcelona)। वर्तमान में यूनेस्को द्वारा विश्व के 124 देशों में से कुल 701 जैवमंडल संरक्षित हैं (MAB-ICC meeting in Paris 2019), इनमें से भारत के 11 जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र शामिल हैं। पर्यावरण वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय, भारत सरकार ने भारत में 18 जैवमंडल रिजर्व क्षेत्रों को सम्मिलित किया है (भारत-2019)। ये जैवमंडल रिजर्व वनस्पतियों एवं जीव-जन्तुओं के साथ-साथ यहां के निवासियों एवं उनके जीवन-शैली को भी संरक्षित करते हैं। जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र के मुख्य तीन प्रकार्य हैं, प्रथम- जैवविविधता को संरक्षित करना, द्वितीय-आर्थिक एवं मानव विकास को बढ़ावा देना, जो सामाजिक-सांस्कृतिक एवं पारिस्थितिक से स्थायी बने एवं तृतीय-संरक्षण एवं विकास के स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों से सम्बन्धित अनुसंधान, निगरानी, शिक्षा और सूचना विनिमय के लिए सहायता प्रदान करना।

यूनेस्को ने मानव एवं प्रकृति के मध्य होने वाली गतिविधियों एवं मानव जनसंख्या दबाव व आकार के आधार पर 'क्रोड, कर एवं संक्रमण क्षेत्र' में विभाजित किया है। क्रोड क्षेत्र जैवमंडल का केन्द्रीय व सबसे छोटा भाग होता है; जिसमें जैवविविधता संरक्षण की दृष्टि सुरक्षित व मानव मुक्त होता है। इसके बाहरी भाग के किनारे-किनारे पर मध्यम आकार का 'बफर' क्षेत्र होता है; जिसमें मानव समाज प्राकृतिक संसाधनो का उपयोग परम्परागत ढंग से करते हैं। जैवमंडल के बाहरी भाग को 'संक्रमण क्षेत्र' कहते है यह जैवमंडल का सबसे बड़ा भाग होता है। इस क्षेत्र में भी मानव प्रकृति के साथ परम्परागत ढंग से रहते हैं।

'अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र' भारत में क्षेत्रफल की दृष्टि से 11वां और क्रमांक सूची में चौदहवां जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र है। इसका विस्तार मैकाल श्रेणी, विन्धयन और सतपुडा पर्वत श्रृंखला के पूर्वी भागों में मध्यप्रदेश के अनूपपुर और डिंडोरी जिला एवं छत्तीसगढ़ बिलासपुर, मुंगेली और गौरेला-पेन्ड्रा-मरवाही (नवीन सृजित जिला-2019) जिलों तक है। त्रिभुजाकार अवस्थिति में इसका क्षेत्रफल 3835.51 किमी0^2 है (यूनेस्को- 2010)। इस जैवमंडल रिजर्व में अचानकमार वन्यजीव अभ्यारण्य, भारतीय वन्यजीव संरक्षण अधिनियम 1972 के प्रावधान के तहत स्थापित किया गया है। इसे वर्ष 2009 में प्रोजेक्ट टाइगर के द्वारा टाइगर रिजर्व घोषित किया गया है। इस जैवमंडल के क्रोड क्षेत्र में 22 व कर और संक्रमण क्षेत्र में 399 गाँव अवस्थित हैं। इनमें पारम्परिक जनजातीय और गैर-जनजातीय समुदाय निवास करते हैं।

भारतीय समाज की अपनी विशिष्ट संरचना है, जिसकी प्रमुख विशेषता इसकी सामाजिक-संस्कृतिक विविधता है (एम.एन. श्रीनिवास)। इस विविधता में विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, मत, संस्कृति, भाषा, प्रजाति,

जाति, जनजाति आदि सम्मिलित हैं। यहां की सम्पूर्ण जनसंख्या में 8.6 प्रतिशत जनजातियों की भागीदारी है (भारतीय जनगणना रिपोर्ट–2011)। भील, गोण्ड, संथाल, ओंराव, मुण्डा, कोली धोर, नागा, गुज्जर, कोरकू, बैगा आदि भारत की मुख्य जनजातियां हैं। बैगा जनजाति भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र में निवास करती है। इस क्षेत्र में झारखण्ड़ (तत्त्कालीन बिहार), पश्चिमी बंगाल, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, और महाराष्ट्र राज्य सम्मिलित हैं (डॉ.बी.एस. गुहा)। बैगा जनजाति की कुल जनसंख्या 5,52,495 है, जिसमें 2,77,245 पुरूष और 2,75,250 स्त्रियां हैं (Statistical Profile of Scheduled Tribes in India, 2013)। बैगा जनजाति के लोग द्रविड़ प्रजाति के है, जोकि सात उप–जातियों में विभाजित हैं जैसे– नरोतियां, भारोतिया, कहभईना, राइभईना, गोंडवैना, बिंझवार और कोंडवन।

भारत सरकार द्वारा गठित यू.एन.ढ़ेबर आयोग 1960–61 ने सुझाव दिया कि विकास के पैमाने पर निम्न तबके के– खाद्य संग्राहक एवं शिकारी, पारम्परिक कृषि, नकारात्मक एवं निम्न जनसंख्या वृद्धि दर और अत्याधिक निम्न सारक्षता दर के आधार पर भारतीय जनजातियों को असुरक्षित व अत्यन्त पिछड़ी जनजातीय समूह में सम्मिलित किया जाए। चौथी, पांचवी (52 जनजातियाँ), छठवीं (20 जनजातियाँ), सातवीं (2 जनजाति) और आठवीं (1 जनजाति) पंचवर्षीय योजनाओं में इनके समूह को भारत सरकार ने लगातार चिन्हित कर असुरक्षित व अत्यन्त पिछड़ी जनजातीय समूह की श्रेणी में जोड़ा है। वर्तमान में इनकी कुल संख्या 75 है। बैगा एक विशेष रूप से अत्यन्त पिछड़ी असुरक्षित जनजातीय समूह (PVTGs) की जनजाति है जो बैगानी भाषा (छत्तीसगढ़ी बोली का अपभ्रंष रूप) बोलते हैं (हीरालाल–2007)।

यह प्रकृति के अत्यधिक निकट होने के कारण प्रकृति–पुत्र माने जाते हैं, इन्हें जड़ी–बूटिओं की बहुत अच्छी जानकारी है (डॉ.टी.के.वैष्णव–2000)। इनके शारीरिक लक्षणों में– त्वचा का रंग प्रायः श्याम, आँखें मध्यम आकार की काली व भूरी, नाक चौड़ी, ओंठ कुछ मोटे, शरीर सुडौल, कद मध्यम एवं लम्बे काले लहरदार केश आदि, लक्षण हैं, इसके अलावा बैगा स्त्रियों की पहचान उनके पूरे शरीर पर चित्राकंन परम्परा 'गोदना' (विशेषताः माथे पर) से की जाती है। गोदना का सामान्य प्रकार्य पहचान (चिन्हारी) करना है। बैगा स्त्री का अपने शरीर पर गोदना गोदवाने का विशेष महत्त्व है, एक बैगा लड़की के माथे पर सामान्यतः पाँच वर्ष की आयु में गोदना (चलवा) और विवाह के समय पूरे शरीर पर गोदना (दीपा) गोदवाने का प्रचलन है।

बैगा अपने जीवन यापन के लिए गैर–व्यवसायिक तौर पर मुर्गी, तीतर, बकरी, सुअर, गाय, बैल और नये तौर पर भैस (कुछ परिवारों में) का पालन करते हैं। इस जनजाति की अर्थव्यवस्था बहुत सरल है। बैगा सीमित साधनों में ही अपना गुजारा करते हैं। सभी बीमारियों का उपचार झाड़–फूंक के द्वारा गुनिया (वैद्य) करता है और उपचार से फायदा होने पर मुर्गा/बकरी/सुअर की बलि देनी प्रथा है। इसके अतिरिक्त वे टोटका, काड़ी मापन और सूपा–तुमा विधि द्वारा भी उपचार करते हैं।

वन उत्पाद (माहुल का पत्ता और छाल, तेन्दू पत्ता, सतकत्था, महुआ, शहद, हर्रा और बहेड़ा) एवं परम्परागत बेवर दहिया काटना विधि (बन्धान) खेती द्वारा जीवनयापन कर रहें हैं। इसके साथ–ही–साथ वे बांस की डलिया (टोकरी), मछली के फंदे, कुल्हाड़ी चलाने और धनुष–बाण चलाने में कुशल होते हैं, लेकिन

भारतीय वन संरक्षण अधिनियम–2006 द्वारा स्वतन्त्र रूप से वनोपज संग्रह पर प्रतिबन्ध लगने के कारण बैगा जनजाति की स्वनिर्भर अर्थव्यवस्था अब लगातार भंग हो रही है। इसलिए बैगा रोजगार के वैकल्पिक साधनों की तलाश कर रहें हैं। कुछ बैगा परिवार दिहाड़ी मजदूरी (कूटी–कवारी) कार्य करने लगे हैं। कुछ बैगा परिवार अपनी जीविका की तलाश में कस्बों एवं नगरों की ओर प्रव्रजन कर रहे हैं।

सामाजिक–आर्थिक स्थिति व्यक्ति के सामाजिक जीवन, संस्कृति, धार्मिक जीवन, व्यवसाय और किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था में आय का आंकलन करती है। वर्तमान में बैगा जनजाति अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत है, जनजातियों की समस्याएं आधुनिक संचार एवं बाहरी लोगों के सम्पर्क के कारण उत्पन्न हुई हैं (वेरियर एल्विन–1939)।

शोध समस्या– मध्य भारतीय अत्यंत पिछड़ी जनजातियों में बैगा जनजाति निम्नतम पायदान पर पाई गई है। बैगा जनजाति सम्बन्धित पूर्व में हुए शोधकार्यो का मूल्यांकन व स्व–अवलोकन करने के पश्चात् इनसे जुड़ी अनेक समस्याएं प्रकाश में आयी हैं जैसे– घटती जनसंख्या, अशिक्षा, चिकित्सात्मक सेवाओं की कमी, यातायात एवं संचार साधनों की कमी, बेरोजगारी एवं बेगारी, अस्वच्छता, ललिक कलाओं का ह्रास, पलायन और विस्थापन आदि।

शोध कार्य के उद्देश्य– प्रस्तुत शोध अध्ययन के लिए निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं–

1. अचानकमार–अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र के बैगा जनजाति की सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।
2. अचानकमार–अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र के बैगाओं की समस्याओं का नृजातिशास्त्रीय अवलोकन करना।

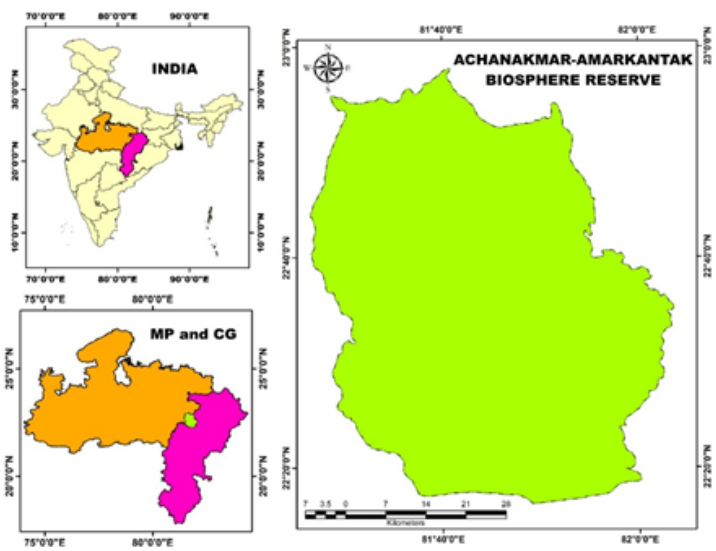

**First Author, **Corresponding Author, ***Co-Author*

अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र का मानचित्र

अध्ययन क्षेत्र- प्रस्तुत शोध कार्य क्षेत्र अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र है। यह उत्तरी अक्षांश 22015' से 20058' एवं 81025' उत्तर से 8205' पूर्व तक अवस्थित है। इसका विस्तार मैकाल श्रेणी, विन्धयन और सतपुडा पर्वत श्रृंखला के त्रिभुजाकार अवस्थिति में मध्यप्रदेश के अनूपपुर जिले के (15.8 प्रतिशत) भाग और डिंडोरी जिले के (16.2 प्रतिशत) भाग एवं छत्तीसगढ़ के बिलासपुर, मुंगेली और गौरेला-पेन्ड्रा-मरवाही (नवीन सृजित जिला-2019) जिलों के (68 प्रतिशत) भाग में फैला हुआ हैं, इसका क्षेत्रफल 3855.51 किमी0^2 है। इस जैवमंडल क्षेत्र में मुख्य यातायात साधन के रूप में छत्तीसगढ़ राजकीय राजमार्ग संख्या-8 जो बिलासपुर से कोटा, अचानकमार, छपरवा, लमनी, केंवची, पेन्ड्रा और जनकपुर बड़वाही तक जाती है। इस जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र के अन्य भागों से मुख्य राज्यकीय मार्ग को जोड़ने वाले तीन सहायक मार्ग हैं जिसमें प्रथम- छपरवा से लोरमीं और द्वितीय- केंवची से अमरकन्टक मार्ग एवं तृतीय-खोंगसरा से अमगवाँ मार्ग। कटनी-बिलासपुर मुख्य रेलमार्ग पर अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र के बाहर निकटतम रेलवें स्टेशनों में पेन्ड्रारोड़, खोगसरा, टेंगामाड़ा और करगीरो़ अवस्थित है। अध्ययन क्षेत्र के रूप में बैगा जनसंख्या बाहुल्य 6 गाँव- छपरवा, जलदा, लमनी, महामाई, राजकी और सुर्ही है। ये सभी गाँव लोरमी विकास खण्ड जिला मुगेली में अवस्थित हैं।

शोध पद्धति एवं आंकड़ा का स्त्रोत- प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक शोध प्रारूप का प्रयोग करते हुए बैगा जनजाति की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को ज्ञात करने का प्रयास किया गया है।

1. **शोध प्रविधि**- प्रस्तुत शोध पत्र गुणात्मक एवं परिमाणात्मक विधि पर आधारित है, इसमें नृवंश शास्त्रीय (एथनोग्राफिकल), व्याख्यात्मक और अवलोकन विधि का प्रयोग करते हुए गृहस्थ परिवारों को चयनित कर सहभागी अवलोकन द्वारा प्राथमिक सूचनाओं का संकलन किया गया है, इसके अतिरिक्त चयनित बैगा परिवारों का केन्द्रीय साक्षात्कार विधि द्वारा सूचनाएँ एकत्रित की गई हैं।

2. **न्यादर्श एवं चुनाव** - न्यादर्श, अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल रिजर्व क्षेत्र के तीनों मण्डलों से बैगा जनसंख्या बाहुल्य गाँव से बहुस्तरीय निदर्शन विधि द्वारा छः गाँवों (छपरवा, जलदा, लमनी, महामाई, रजकी और सुर्ही) से 60 गृहस्थ बैगा परिवारों को चयनित किया गया है।

3. **तथ्यों का स्त्रोत** - प्रस्तुत शोध पत्र में प्राथमिक तथ्यों को अवलोकन पद्धति, खुली साक्षात्कार अनुसूची प्रविधि के माध्यम से बैगा जनजाति से सम्बन्धित शोधकार्य हेतु समस्त सूचनाओं का संकलन किया गया है इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात एवं संचार, रोजगार, स्वच्छता और विस्थापन जैसे मुद्दे सम्मिलित है। द्वितीयक तथ्यों के रूप भारत सरकार, जनजातीय कार्य मंत्रालय, मध्य-प्रदेश और छत्तीसगढ़ शासन की सरकारी व गैर-सरकारी जनजातियों से सम्बन्धित प्रकाशिक रिपोर्ट, शोध-पत्र, पत्रिकाओं एवं पुस्तकों द्वारा संकलित किया गया है।

बैगा जनसंख्या– मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ में बैगा जनजाति की जनसंख्या का विवरण इस प्रकार है:–

तालिका संख्या–01

राज्य	गृहस्थ परिवार	बैगा जनजाति का जनसंख्या			लिंगानुपात	बाल लिंगानुपात	साक्षरता दर			कार्यशील जनसंख्या	मुख्य श्रमिक	सीमान्त श्रमिक
		कुल	पुरूष	स्त्री			कुल	पुरूष	स्त्री			
मध्यप्रदेश	1,00,135	4,14,526	2,07,588	2,06,938	997	980	47.2	56.4	37.9	51.4	48.7	51.3
छत्तीसगढ़	21,860	89,744	44,847	44,897	1001	1021	40.6	50.4	30.8	53.5	57.0	43.0

*(**स्त्रोत**– Statistical Profile of Scheduled Tribes in India 2013)*

जनसंख्यात्मक विवरण– छपरवा, जलदा, लमनी, महामाई, राजकी, सुर्ही ग्रामों की जनसंख्या का विवरण इस प्रकार है:–

तालिका संख्या–02

ग्राम का नाम	जनसंख्या			जनजाति जनसंख्या		
	कुल	पुरूष	स्त्री	कुल	पुरूष	स्त्री
छपरवा	512	279	233	304	161	143
जलदा	292	133	159	279	126	153
लमनी	512	279	233	304	161	143
महामाई	1473	753	720	1177	601	576
रजकी	333	175	158	313	166	147
सुर्ही	802	400	402	634	316	318
कुल	3924	2019	1905	3011	1531	1480

बैगा जनजाति की सामाजिक आर्थिक स्थिति

सामाजिक जीवन– बैगा जनजाति परम्परागत ढंग से सामूहिक जीवन व्यतीत करते आ रहें हैं। इनके सामाजिक संगठन की इकाई परिवार है। परिवार का आकार छोटा और परस्पर सम्बन्ध सुदृढ़ होते हैं।

बैगा जनजाति का सामाजिक संगठन– बैगा जनजाति के सामाजिक संगठन को निम्नलिखित आधारों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

1. **बैगा की उत्पत्ति**– बैगा जनजाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है। यह प्रचलित लोककथाओं के आधार पर ही अनुमान लगाया जा सकता है (डी.एस.नाग–1958)। ईश्वर ने पृथ्वी पर प्रथम

मानव नांगा बैगा (पुरूष) तथा नांगी बैगिन (स्त्री) के रूप में उत्पत्ति की, जिनकी दो सन्तानें 'बैगा' और 'गोंड' उत्पन्न हुई (रार्बट वने रसेल–1916)। इस जनजाति के लोग प्रकृति के बहुत निकट हैं। इनकी भूमि से अत्याधिक निकटता के कारण इन्हें भूमिया जाति की ही एक शाखा माना जाता है (वैरियर एल्विन–1939)। सम्भवत: भूमिया जाति के लोग जो दवा–दारू और गुनियाई भुताई का कार्य करते थे उनकी पहचान 'बैगा' के रूप में निर्मित हुई (राबर्ट वेन रसेल एवं हीरालाल–1916)।

2. **संस्कार**– बैगा जनजाति में प्रचलित संस्कार निम्नलिखित हैं– **प्रथम,** जन्म संस्कार– बैगा जनजाति, गर्भ धारण को देवता की कृपा मानती है। गर्भाधान से लेकर प्रसवकाल तक स्त्रियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं हैं वे सभी काम सामान्य रूप से करती रहती है। बैगा स्त्री के गर्भवती होने पर कोई विशेष खुशी नहीं मनायी जाती। सयानिन प्रसव कराने में मदद करती है; लड़का/लड़की के जन्म होने पर वे समान रूप से हर्षित होते हैं। शिशु के नाल काट कर उसमें कंडा की राख लगा देते हैं और उसे सूप में कोदो–कुटकी के दाने डाल कर सुलाते हैं। शिशु की कमल नाल गिरने के बाद घर की स्काई की जाती है यह सोहार उठाई कहलाती है। प्रसूति नदी में स्नान कर छठी का आयोजन करती है। **द्वितीय,** नामकरण संस्कार– प्रसूति के गृह प्रवेश के दूसरे दिन शिशु का नामकरण संस्कार आयोजित किया जाता है। इसमें परिवार तथा के सभी लोगों को आमंत्रित किया जाता है। घर की सयानिन देहरी में बैठकर बच्चे के पैर काँस की थाली में लटकाती है। बच्चे का नामकरण मुकद्द, भोई, या कोटवार करता है। महुआ की शराब से बच्चे के पैर धोकर उसे नेंग देते है और सभी दाल–भात के साथ–साथ शराब पीते है। तीन माह तक प्रसूता अपवित्र मानी जाती है इन माह में उसका रसोई में प्रवेश और पति से संसर्ग निषेधित होता है। **तृतीय,** विवाह संस्कार–बैगा जनजाति में विवाह के नियम– बैगा जनजाति अन्त:विवाही है। अचानकमार–अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र की बैगा जनजाति तीन उपभागों में विभक्त हैं इनमें संगोत्र विवाह वर्जित है–

तालिका संख्या–03

बैगा जनजाति की उपजाति	1	भैना बैगा की उपजाति 1– दुधभैना 2– कठभैना 3– रायभैना
	2	भूमिया बैगा – सबसे मौलिक, विचित्र एवं निराली।
	3	सौंटा बैगा

एक अविवाहित बैगा कन्या अपने बालों को सवारने के लिए अपनी मां की कंघी का उपयोग करती है। जब तक उसे कोई लड़का या उसका पति कंघी भेंट न करे (टी.डी.शर्मा–2012)। बैगा जनजाति में स्त्रियों को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त है और स्त्रियां अपने विवाह सम्बन्धी मामलों में स्वतन्त्र हैं। ममेरे–फुफेरे लड़के–लड़कियों के विवाह को प्राथमिक दी जाती है। बैगा जनजाति में विवाह को पवित्र बन्धन माना जाता है (डॉ. विजय चौरसिया–2009)। इनमें विवाह के छह प्रकार प्रचलित हैं। प्रथम, **मंगनी विवाह या चढ़ विवाह**– इस प्रकार के विवाह में वर और उसके पिता के साथ कुछ सयाने व्यक्ति वधू के घर जाकर विवाह का प्रस्ताव रखते हैं। वधू की रजामंदी होने पर दोनों पक्ष के लोग, वर पक्ष द्वारा लायी गई शराब पीते है और विवाह सम्बन्धी विधि को पूरा करते हैं। द्वितीय, **उठवा विवाह**– इस प्रकार के विवाह में वर पक्ष विवाह का सम्पूर्ण व्यय वहन करता है। वधू और उसके सगे–सम्बन्धी वर के घर पहुँच जाते है और विवाह की रस्मों को पूर्ण किया

जाता है। तृतीय, **पैठुल विवाह**- इस प्रकार के विवाह में कन्या अपनी इच्छा से स्वयं लड़के के घर में रात्रि के समय चुपचाप घुसकर लड़के को ऊपर हल्दी और चावल छिड़कती है। इस मतलब लड़की ने लड़के का अपना जीवन साथी के रूप में चयनित कर लिया। लड़के के पिता यह जानकारी मुकद्दम, समरथ और दीवान आदि को देता है तत्पश्चात लड़के और लड़की का विवाह सम्पन्न किया जाता है। चतुर्थ, **लमसेना विवाह**- इस प्रकार के विवाह को सेवा विवाह भी कहते हैं। यदि वर पक्ष विवाह करने में अक्षम है तो वर, वधू के घर जाकर सेवा करता है। यह सेवाकाल सामान्यत: 3 से 7 वर्ष तक का हो सकता है। पंचम, चोर विवाह- इस प्रकार के विवाह में लड़का-लड़की अपनी राजीवाजी (प्रेमविवाह) से भाग जाते है। इसलिए इसे 'ले भगा ले भगी' विवाह भी कहते है। लड़का अपने किसी मित्र के माध्यम से यह जानकारी अपने घर भेजता है तत्पश्चात उनके माता-पिता उन्हें मनाकर अपने-अपने घर ले आते हैं और सामाजिक नियमानुसार उन्हें प्रेम-सूत्र में बाँध देते है। छष्टम्, **उधरिया विवाह**- इस प्रकार के विवाह में लड़का-लड़की अपनी इच्छा से अपने रिश्तेदार की मदद से विवाह कर लेते हैं।

बैगा जनजाति में बहुपत्नी विवाह का रिवाज है (डॉ. विजय चौरसिया-2009)। इनमें विवाह सम्बन्धी नियम बहुत मजबूत हैं जैसे- अनाचार सम्बन्ध निषेध, बाहरी लोगों से विवाह की अनुमति नहीं और तलाक प्रथा का प्रचलन नहीं, लेकिन बांझपन या विवाहेत्तर सम्बन्ध पाये जाने पर या पति-पत्नी के मध्य अलगाव होने पर पारिवारिक बन्धन सुगमता से तोड़े जा सकता है और लड़किया अपनी इच्छा से दूसरा विवाह भी कर सकती हैं।

चतुर्थ- मृत्यु संस्कार- बैगा जनजाति में शव को दफनाने और जलाने की दोनों प्रथाएँ प्रचलित हैं (डॉ. विजय चौरसिया-2009) लेकिन सामान्यत: वे शवों का दफनाते है इनमें संक्रमित बीमारी से मरने वाले व्यक्ति भी शामिल हैं। इनका श्मशान नदी या नाले के पार होता है क्योंकि ये विश्वास करते है प्रेतात्मा कभी भी इसे पार नहीं सकती।

3. **जीवन शैली**- बैगा जनजाति अपनी जीवन शैली सदियों से परम्परागत ढ़ंग से बनाये हुए है ये लोग अपने प्रत्येक सामाजिक-सांस्कृतिक एवं धार्मिक अवसरों पर महुए की शराब का भोग नारियल के खुरला या पोतकी (दोना) द्वारा करते हैं। बैगा पुरूष जन्म संस्कार के दौरान एक बार ही अपने बाल कटवाता है और वह प्राय: लंगोटी व सिर पर पगड़ी पहनते हैं। बैगा स्त्रियाँ अपने शरीर पर साड़ी लपेटती है और कार्य करते समय अपने बच्चे को लुगरा से पीठ पर बाँध लेती हैं इसे बागा कहते हैं। ये लोग नृत्य के समय अधिक सजते-सवरते हैं। बैगा जनजाति, जनजातियों में भी अत्यन्त निर्धन है, निर्धनता के कारण उनके पास वस्त्र नहीं है। उन्हें प्राय: अर्द्ध नग्न ही रहना पड़ता है।

बैगा समूह सामान्यत: पहाड़ियों, जंगलों में आवास बनाना पंसद करते हैं। उनके खपरैल घर लगभग बीस फुट लम्बे एवं आठ से तेरह फुट तक चौड़े, बांस, लकड़ी और मिट्टी से बनी बगैर खिड़की वाली दीवार में एक मुख्य प्रवेश द्वार होता है। इन घरों के बाहर लकड़ी का बाड़ा बनाया जाता है इसके एक भाग में लकडी के खंम्बे और पत्थर गड़े होते हैं यहाँ वे पूजा करते हैं। इसके अतिरिक्त वे सुअर पालन के लिए बखोर और मुर्गी की दड़वा भी बनाते हैं।

बैगाओं का मुख्य आहार कोदो, कुदकी, मक्का, भात, मछली, पेज और पेय हैं। ये महलोन के पत्ते से बनी थाली में खाना खाते हैं। इनका भोजन प्राय: उबला या भुना हुआ होता है। इस जनजाति के लोग मांसाहारी

होते हैं लेकिन शेर, भालू, लकड़बग्घा, बिल्ली, बंदर, कुत्ता, नीलकंठ, गौरैया और गाय का माँस नहीं खाते।

बैगाओं की जीवन–यापन शैली अत्यंत सरल है। बैगा स्वभाव से भोले और ईमानदार, जो अपनी परम्पराओं का पालन करते है। इस जनजाति की स्त्रियां अपने कार्य के प्रति सजग और परिश्रमी होती हैं, जो व्यवहार में मधुर और मृदुभाषी होती हैं। बैगा महिलायें ही प्रायः घर बनाने और रख–रखाव का कार्य करती हैं।

4. **पर्व एवं त्यौहार**– वनों से निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण बैगाओं के पर्व एवं त्यौहार प्रकृति से जुड़े हुए हैं (डॉ. विजय चौरसिया–2009)। ठाकुर गाँव के देवता और खैरमाई गाँव की रक्षक देवी हैं। ये बिदरी पूजा (बीज बोने से पूर्व), देवली पूजा (नसल रक्षा), हरेली पूजा (हरियाली/हरितालिका तीज), पच्छर पूजा (खलियान), नवा खानी (नई नसल का अनाज), दीवाली और छेतरा (धरती माता) आदि धार्मिक कृत्य करते हैं।

5. **धार्मिक जीवन**– बैगा जीववादी धर्म का अनुकरण करते हैं (जनगणना रिपोर्ट–1931) लेकिन बैगाओं ने स्वयं का हिन्दू घोषित किया है (जनगणना रिपोर्ट–1941)। बैगा जनजाति की अपने देवियां–देवता है वे पराशक्तियों पर गहरा विश्वास करते हैं (डॉ. विजय चौरसिया–2009)। गाँव की रक्षा के लिए देवी खैरमाई एवं ठाकुर देव की पूजा की जाती है, सामान्यतः देवी और देवता का निवास गाँव के बाहर ही किसी वृक्ष या पत्थर पर माना जाता है, कभी–कभी पहाड़ियों पर भी इन देवों और अपने पूर्वजों की आत्माओं का निवास स्थल माना जाता है। बैगा जनजाति के प्रमुख देवी–देवता इस प्रकार हैं– धरती माता, नरबदामाई, अन्नमाता, दूल्हादेव, बड़ा देव, म्हारा देव, पत्थर देव और पत्ता देव आदि। बैगा जनजाति स्वर्ग–नरक और पुनर्जन्म के नियम को मानते है (डॉ. विजय चौरसिया–2009)। इस जनजाति के कुछ निषेध इस प्रकार हैं– गोत्र से सम्बन्धित पशु–पक्षियों को हानि नहीं पहुचाना, स्त्रियाँ शव यात्रा में नहीं जा सकती और वे हल भी नहीं चला सकती और पूजा स्थल के पास के पेड़ नहीं काटे जा सकते आदि। बैगा जनजाति में ऐसी मान्यता है कि व्यक्ति के मरने के बाद उसकी आत्मा भूत–प्रेत का रूप धारण कर लेती है। इस लिए ये लोग भूत–प्रेत, जादू–टोना पर सहज विश्वास कर लेते है। ईसाई धर्म प्रचारकों के प्रभाव के कारण कई बैगाओं ने धर्म परिवर्तन कर लिया है इसका परिणाम यह हुआ कि अब बैगा जनजाति में भी ईसाई धर्म के अनुयायी बन गये जिससे उनमें आपसी भेदभाव पनप रहा है।

6. **संस्कृति**– बैगा जनजाति प्रकृति के अत्यधिक निकट होने के कारण प्रकृति–पुत्र माने जाते है। बैगा पुरूषों द्वारा लम्बे केश रखना और स्त्रियों का अपने माथे पर प्राकृतिक वस्तुओं का चित्र गोदवाना, बैगापन होने की निशानी है। अचानकमार–अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र के वे बैगा परिवार जो छत्तीसगढ़ राजकीय राजमार्ग संख्या–8 के निकट रहते है उनका बाहरी लोगों के साथ सम्पर्क के परिणामस्वरूप भाषा, संस्कृति एवं जीवन शैली में परिवर्तन आया है, वे अपनी मूल संस्कृति से विमुख होने लगे है इन परिवारों में कुछ ऐसे भी परिवार है जिन्हें शासकीय सेवा प्राप्त है उनका जीवन सांस्कृतिक रूप से पूर्णतः भिन्न है। ऐसी स्थिति में उनमें परस्पर सामाजिक दूरी पनपी है।

7. **लोक नृत्य एवं गीत**– बैगा जनजाति अपने संगीत एवं नृत्य में बहुत समृद्ध हैं वे विभिन्न परिस्थितियों में अपने सुख–दुःख की अभिव्यक्ति अपने गीत– संगीत से करते है जो बहुत ही हृदय स्पर्शी होते हैं। बैगाओं

का दशरेली नृत्य, एक युगल नृत्य है इस नृत्य के आरम्भ में पुरूष 'बिलमा' गीत गाते हैं और स्त्रिओं के आने के पश्चात् परस्पर परिचय, मेल-मिलाप और नृत्य करते हैं। इसी अवसर अविवाहित लड़कियां अपने पंसद के लड़के का चयन कर उनके साथ जीवन जीने का प्रस्ताव रखती हैं। राजी-बाजी होने पर वे विवाह कर लेते हैं। इसके अलावा सैला, करमा, झरपट, रीना, छेरता, बिलमा, भड़ौनी और परधौनी नृत्य भी प्रचलित हैं। कुछ बैगा परिवार आधुनिक टेलीविजन एवं मोबाइल फोन के प्रभाव के कारण सांस्कृतिक प्रसार एवं परसंस्कृतिकरण की चपेट में आ रहे हैं जिससे उनके परम्परागत गीत-संगीन और वाद्य यंत्रों को बजाने की शैली में परिवर्तन आया है।

8. **लोक कथाएं**- बैगा जनजाति में अनेक लोक कथाएं प्रचलित हैं जो इस प्रकार हैं- पैसा का घमण्ड, नगरिया का नागर, सुरही गाय की कृपा, एक राजा और तीन रानी की कहानी, नेवला और सात भाई, सात बहनों का विवाह, सात भाईयों का विवाह, बुढ़िया और खरगोश, बांसुरी का विवाह और बाघ और बैगा आदि।

9. **ललित कलाओं का ह्रास**- बैगा जनजाति हस्तकलाओं और ललित कलाओं में बहुत कुशल है लेकिन वर्तमान में उनमें कई परिवर्तन आये हैं जैसे- अपने घरों की दीवारों पर प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग करते हुए चित्रकारी करना, दरवाजों, हल, लकड़ी के स्मृति खम्बों पर नक्काशी के काम आदि का दिन पर दिन ह्रास होता जा रहा है। सरकार द्वारा विगत वर्षों में निर्मित किये गयें पक्के मकानों की दीवारों पर बैगा परिवार चित्रकारी नहीं करते जिससे उनके द्वारा अपने घरों की प्राकृतिक रंगों से रंगाई-पुताई और चित्रकला करने की प्रतिभा भी विलुप्त हो रहीं है।

10. **शिक्षा**- शिक्षा का मुख्य सामाजिक उद्देश्य समाजीकरण करना है। बैगा जनजाति में आज भी शिक्षा का अनौपचारिक रूप ही कायम हैं, औपचारिक शिक्षा ने उन पर बहुत ही कम प्रभाव डाला है। परम्परागत रूप से युवागृह मनोरंजन, शिक्षा, समाजीकरण के साधन रहे हैं अब यह संस्था समाप्त हो रही है। बैगाओं का एमिक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात हुआ कि अशिक्षित बैगा वह है जिन्हें अपने जनजाति के रिवाज, वर्जना, गोत्र, कुल, प्रथा, मान्यताओं और विश्वास आदि का ज्ञान नहीं है। एटिक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात हुआ कि वे औपचारिक शिक्षा के प्रति उदासीन है। इसका मुख्य कारण नियुक्त अध्यापक को बैगानी भाषा का ज्ञान नहीं है और बच्चों को मातृभाषा के अलावा दूसरी भाषा के माध्यम से पढ़ना असहज लगता है। बैगा जनजाति में शिक्षा का अभाव है इसके कई कारण हैं- प्रथम, प्रत्येक गाँव में प्राथमिक और उच्च प्राथमिक विद्यालय नहीं है। द्वितीय, विद्यालय भवन तो है लेकिन अध्यापकों की कमी है। तृतीय, अध्यापक है लेकिन उनकी अनुपस्थिति। चतुर्थ, एक अध्यापक विभिन्न वर्ग के बच्चे और पंचम, शिक्षण सामग्री का अभाव आदि।

11. **साक्षरता का विवरण**- अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल के संरक्षित क्षेत्र के छः गाँवों में साक्षरता का विवरण निम्नलिखित है-

तालिका संख्या-04

क्र०स०	ग्राम का नाम	साक्षरता			निरक्षरता		
		कुल साक्षर व्यक्ति	साक्षर पुरूष	साक्षर स्त्रियाँ	कुल निरक्षर व्यक्ति	निरक्षर पुरूष	निरक्षर स्त्रियाँ
01	छपरवा	251	169	82	261	110	151
02	जलदा	107	60	47	185	73	112
03	लमनी	312	229	83	322	125	197
04	महामाई	518	320	198	955	433	522
05	रजकी	99	76	23	234	99	135
06	सुर्ही	365	224	141	437	176	261

(Source: District hand book of Bilaspur, 2011)

स्वास्थ्य एवं पोषण- मानव विकास सूचकांक जीवन प्रत्याशा, शिक्षा तक पहुंच और प्रति व्यक्ति आय संकेतकों का एक समग्र आंकड़ा है, जो विकास का पैमाना है। जीवन प्रत्याशा एक व्यक्ति के औसत जीवनकाल का अनुमान है यह उनके स्वास्थ्य एवं पोषण की दशाओं पर आधारित है। बैगा जनजाति के लोग जल-जनित रोगों से संक्रमित रहते हैं। आधे पेट खाना इन जनजाति की आम बात है जो उनके स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। पहाड़ियों पर निवास और वनों की कटाई के कारण उन्हें आधारभूत वस्तुओं जैसे- जल, खाद्य-पदार्थो और लकड़ी आदि के लिए अक्सर लम्बी दूरियाँ करनी पड़ती है। सन्तुलित एवं विटामिन युक्त भोजन के अभाव में इनका स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता जा रहा है। कुपोषण के कारण शिशुमृत्यु दर उच्च है जिसके परिणाम स्वरूप बैगा जनजाति की जनसंख्या घट रही है, भारत सरकार ने इनके संरक्षण के लिए परिवार नियोजन को प्रतिबन्धित किया है।

पलायन- बैगा जनजाति में पलायन करने के दो प्रमुख कारण हैं प्रथम, परम्परागत कारण- बैगा जनजाति में परिवार सामान्यत: सीमित होता है और उनमें एकल व संयुक्त दोनों प्रकार के परिवारों का स्वरूप विद्यमान है जब किसी बैगा परिवार में लगातार दो या अधिक सदस्यों की मृत्यु किसी कारणवश हो जाती है तब वह बैगा अपना घरवार छोड़कर दूसरे जगह चला जाता है। बैगा स्वभाव से बहुत ही सीधे, सन्तोषी और ईमानदार होते है वे जिस भूमि पर खेती-बाडी करते है यदि उस भूमि को कोई दूसरी जनजाति जोतने लगे तब भी बैगा अपना वह स्थान को छोड़ देता है और द्वितीय, वर्तमान दशा- वर्तमान में वन विधान, पर्यावरणीय दशाओं और परम्परागत जीवन में परिवर्तन आया है जिससे बैगाओं का जीवन भी प्रभावित हुआ है, जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वे कस्बों एवं नगरों में श्रमिक बनकर कार्य करने को मजबूर हैं।

विस्थापन- बाघों के संरक्षण के लिए वर्ष 2009 में अचानकमार टाईगर संरक्षित क्षेत्र घोषित किया कर वहाँ के 25 गाँवों को विस्थापित करने का प्रस्ताव रखा गया लेकिन सरकार केवल 6 गाँवों (जलदा, कूबा, सांभर

धसान, बोकरा कछार, बांकल और बहाउड़ गाँव) का विस्थापित किया गया (NTCA, 2009)। इस विस्थापन में व्यापक तौर पर अनियमितायें विद्यमान हैं, बैगाओं को प्रताड़ित कर उन्हें जबरन बिना उचित पुर्नवास के विस्थापित किया गया। इस विस्थापन में बहाउड़ गाँव के लोगों को उनके जीवन यापन हेतु जो भूमि आवंटित की गई वह भूमि राजीव गांधी जलाशय खुड़िया के जल से अक्सर जलमग्न हो जाती है जिससे उनकी फसल नष्ट हो जाती है, बाकी 19 गाँवों को विस्थापित करने की योजना है जिसमें 3700 परिवार प्रभावित होगें। इस योजना के प्रथम चरण में तिलाईडबरा, बिराजपानी और छिर्राहट्टा गाँव का विस्थापन किया जायेगा।

अर्थव्यस्था- बैगा जनजाति की अपनी विशिष्ट पहचान है, वे आमतौर पर शिकार, खेती, पशुपालन, मुर्गीपालन, लकड़ी बेचना और दवा-दारू का काम करते हैं इस यह कहना उचित ही है कि बैगाओं की पहचान वैद्य के रूप में है जो जड़ी-बूटियों से पीलिया, मोतीझरा, बुखार, सिर दर्द, गठिया जोड़ दर्द, दाँन्त दर्द आदि रोगों का उपचार करते हैं लेकिन वर्तमान में घटती वनस्पति विविधता से जड़ी-बूटियों के सम्बन्ध में अब कुछ बैगा ही उपचार का कार्य करते है जिन्हें गुनिया कहा जाता है। झूम खेती, बकरी, सुअर, मुर्गी पालन करना उनके जीवन का एक अभिन्न अंग है। वे लगातार किसी एक क्षेत्र पर खेती नहीं करते और न ही आवश्यकता से अधिक फसल उपज करते हैं क्योंकि बैगा जनजाति भविष्य की चिन्ता किये बिना वर्तमान में सीमित साधनों का उपभोग करते हुए खुश रहते हैं। वे स्थानान्तरित खेती करते है लेकिन भूमि सम्बन्धी नवीन विधानों के कारण बैगाओं भूमि पर से स्वतन्त्र अधिकार समाप्त हो गया, साथ ही साथ वे अधिकतर पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करते हैं जहां कृषि-योग्य भूमि का अभाव है। बैगा वन उत्पाद का संग्रह करके अपनी आजीविका चलाते थे, लेकिन अचानकमार-अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र-2005, भारतीय वन संरक्षण अधिनियम-2006, और अचानकमार टाईगर संरक्षित क्षेत्र-2009 घोषित होने से वन उत्पाद संग्रहण करने में कुछ प्रतिबन्ध लगे हैं, जिसका परिणाम यह हुआ कि अब उनका परम्परागत काम छिन रहा है। जीविका चलाने के उन्हें अपने क्षेत्र से काम की तलाश में बाहर जाना पड़ता है। अतः जगलों पर बैगा जनजाति की निर्भरता में लगातार गिरावट आ रही है।

तालिका संख्या-05

क्र०स०	ग्राम का नाम	कृषि कार्य में संलग्न व्यक्ति			कृषि मजदूरी में संलग्न व्यक्ति			लघु कुटीर उद्योग में संलग्न व्यक्ति		
		कुल व्यक्ति	पुरूष	स्त्रियाँ	कुल व्यक्ति	पुरूष	स्त्रियाँ	कुल व्यक्ति	पुरूष	स्त्रियाँ
01	छपरवा	5	3	2	1	1	0	73	33	40
02	जलदा	1	1	0	88	45	43	33	17	16
03	लमनी	3	3	0	122	120	2	13	7	6
04	महामाई	363	190	173	469	227	242	1	1	0
05	रजकी	2	1	1	144	23	76	23	76	23
06	सुर्ही	24	24	0	32	24	8	7	2	5

(Source: District hand book of Bilaspur, 2011¼

राजनैतिक संगठन– बैगा एक पितृसत्तात्मक जनजाति है जनजातीय संगठन के लिए गोत्र अत्यंत आवश्यक माना जाता है, लेकिन बैगा जनजाति में प्रचलित गोत्र, अन्य जनजातियों के समान नहीं होता। बैगा जनजाति एक शीर्षस्थ समुदाय है। राजनैतिक संगठन का नेतृत्व मुकद्दम पारम्परिक ढंग से वंशानुगत करता है उसे धार्मिक एवं सामाजिक समर्थन प्राप्त होता है। मुकद्दम के सहायक सयाना और सिखे होते हैं। वह गाँव का प्रबन्धक होता है उसकी अनुपस्थिति में दीवान यह कार्य करता है। कोटवार एक शासकीय सेवक है लेकिन बैगा जनजाति में भी उसका महत्वपूर्ण स्थान है। दवार गाँव का पुरोहित एवं वैद्य होता है।

परम्परागत ढंग से बैगा पंचायत की संरचना इस प्रकार होती है–

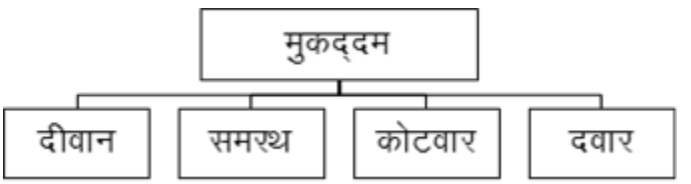

यह पंचायत आमतौर पर सम्पत्ति, अपराध, यौन–अपराध, विवाह, लड़ाई–झगड़े, मवेशियों की हत्या और सामाजिक वर्जनाओं का उल्लंघन करने आदि से सम्बन्धित मामलों की सुनवाई और न्याय करती है। अब इस राजनैतिक संगठन पर सरकारी अधिकारियों द्वारा निरीक्षण किया जा रहा है।

यातायात एवं संचार– अचानकमार टाईगर संरक्षित क्षेत्र के मुख्य मार्ग को संरक्षण के दृष्टि से वन विभाग ने बन्द कर दिया था जिसे हाईकोर्ट बिलासपुर के आदेश पर पुनः खोला गया। शिवतराई बैरियर में वन विभाग ने आज भी सड़क को बन्द करके रखा है। अचानकमार–अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र के तीनों जोन के मुख्य मार्ग के अतिरिक्त कुछ ही गाँव तक पक्की सड़कों की पहुँच है। बरसात के मौसम कई गाँवों के कच्चे मार्ग लगभग चार माह तक बन्द ही हो जाते हैं। भौगोलिक क्षेत्र अत्यधिक विविधतापूर्ण होने के कारण कुछ विशेष पहाड़ी स्थानों पर मोबाइल नेटवर्क कवरेज क्षेत्र है। बैगा जनजाति अकसर पहाड़ियों और ढालानों पर निवास करती है जहां सड़को का अभाव है। दुर्गम स्थानों पर निवास के कारण संचार की समस्या आज भी बनी हुई है। डाकखाना, समाचार पत्र और पत्रिकाओं की सुविधाएं इन क्षेत्रों में अभी तक नहीं पहुंची है। छत्तीसगढ़ राज्यकीय राजमार्ग संख्या–8 के किनारे–किनारे छपरवा और लमनी जबकि छपरवा से लोरमी मार्ग से औसतन 15 से 20 किमी. पर राजकी, महामाई, जलदा और सुर्ही अवस्थित है।

निष्कर्ष एवं परिणाम– बैगा जनजाति की अपनी विशिष्ट संस्कृति एवं अनूठी परम्परा है। वे विशेष रूप से चिकित्सा एवं हस्तशिल्प वस्तुओं के उत्पादन में कुशल हैं। वर्ष–2005 में केन्द्रीय वन, पर्यावरण एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय की एजेंसी भारतीय वन सर्वेक्षण के निर्देश पर अचानकमार–अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र के रूप में संरक्षित करने की योजना बनी लेकिन उसका अभी तक पूर्णतः क्रियान्वयन नहीं हुआ। बैगा जनजाति सदियों से वनों में जीव–जन्तुओं के साथ रहते आ रहे हैं, लेकिन

विगत कुछ वर्षों में पर्यावरण संरक्षण सम्बन्धी योजनाओं और विधानों के कारण उन्हें उनके अधिवास से विस्थापित किया जा रहा है। जीवन के लिए आधारभूत आवश्यकताओं (रोटी, कपड़ा और मकान) की पूर्ति आवश्यक है और पर्यावरण पारिस्थितिकी में प्रत्येक जैविक और अ–जैविक की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, एक जीव का अस्तित्व सम्पूर्ण जीवन–चक्र को प्रभावित करता है जोकि पर्यावरण असंतुलन का कारण है। ऐसी स्थिति में केवल संरक्षण और स्वार्थ के लिए बैगा जनजाति को उनके प्राकृतिक अधिवास से विस्थापित करना न्यायसंगत नहीं है।

अचानकमार–अमरकन्टक जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र में मूल आदिवासी समाज के कई जनजातीय समूह अधिवास करती हैं जिसमें एक बैगा जनजाति प्रमुख स्थान रखती है। बदलते सामाजिक परिवेश में बैगाओं की आर्थिक–सामाजिक–राजनैतिक समस्याएं अन्य जनजातियों से पृथक हैं जो दिन पर दिन बढ़ती जा रही हैं। यह जनजाति समूह अपने अस्तित्व के लिए सतत रूप से संघर्षरत है।

संदर्भ

1. https://www.iucn.org/theme/protected-areas/about/protected-area-categories
2. Tiple, Ashish (October 2010). Joshi, K.C.; Negi, M.S.; Tiple, Ashish (eds.). "Achanakmar-Amarkantak Biosphere Reserve". *Biosphere Reserve Information Series (BRIS). Jabalpur: Tropical Forest Research Institute.* 2. Retrieved 15 June 2013.
3. सूचना एवं प्रसारण मत्रांलय भारत सरकार–2019
4. Nandi S., Joshi D., Gurung P., Yadav C., Murugan G. (2018) Denying access of Particularly Vulnerable Tribal Groups to contraceptive services: a case study among the Baiga community in Chhattisgarh, India, *Reproductive Health Matters,* 26 (54) , pp. 84-97.
5. Naidu PR. Bharat Ke Adivasi Vikas Ki Samasyae, Radha Publication New Delhi 110002. 39. ISBN-81-7487-104-7.
6. Boaz AA. Bio-cultural Community Protocol of the Baigas, Traditional Healers Community, Tatidhar Village, Marwahi Forest Division, Chhattisgarh Chief Executive Officer, Chhattisgarh State medicinal Plants Board, 2012.
7. http://www.peoplesoftheworld.org/hosted/baiga/
8. Boaz AA. Bio-cultural Community Protocol of the Baigas, Traditional Healers Community, Tatidhar Village, Marwahi Forest Division, Chhattisgarh Chief Executive Officer, Chhattisgarh State medicinal Plants Board, 2012.
9. Chhattisgarh Adivasi Blog | Tribal India Group Adivasi.in: Baiga Adivasi, Tribal India Lifestyle 28/10/201.
10. Nag D.S., Tribal Economy - A Econotnic study of the Baiga, Bharatiya Adimjati Sevak Sangh, New Delhi, 1958
11. Elwin Verrier., *The Baiga,* Oxford University Press, 1939.
12. Report of the High Level Committee on Socio-economic, Health and Educational Status of Tribal Communities of India Ministry of Tribal Affairs Government of India, 2014.
13. https://tribal.nic.in/ST/StatisticalProfileofSTs2013.pdf
14. शुक्ल हीरालाल–2007, *छत्तीसगढ़ का जनजातीय इतिहास,* मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
15. वैष्णव, टी.के.–2000, *मध्यप्रदेश की अनुसूचित जनजातियाँ,* आदिम जाति अनुसंधान एवं विकास संस्था, रायपुर

16. Russel R.V. & Hiralal, *The Tribe and Caste of the Central Provinces of India,* Vol-1 to 4 Macmillion and co. limited London Reprint Cosmo, Publication Delhi, 1916.

17. https://projecttiger.nic.in/Ntcamap/108_1_9_mapdetails.aspx (NTCA, 2009)

18. Daya Shankar Nag, *Tribal economy, an economic study of the Baiga,* Delhi, Bharatiya Adimjat Sevak Sangh, 1958.

एलिस एक्का की कहानियों में आदिवासी महिला संघर्षः एक अध्ययन

ऋतु

शोध - सार

समकालीन आदिवासी समाज में स्त्रियों की समस्या दोहरे रूप में सामने आ रही है। इसी कारण इसे कुछ कथाओं के माध्यम से प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। एलिस एक्का पहली आदिवासी महिला कथाकार है। इसी कारण उनकी कथाओं के अध्ययन से आदिवासी स्त्रियों के संघर्ष को समझ पाना और भी सरल हो जाता है। "बेशक सृजन के समय रचनाकर सृष्टा होता है लेकिन उसके सृष्टा के भीतर बैठा बोध उसके वर्ग, धर्म, लिंग और वय से निर्देशित, प्रभावित होता हुआ उसे जो दृष्टि और संवेदना देता है। वही उसके लेखकीय व्यक्तित्व का सृजन करता है और रचना में प्रतिफलित होता है।"#23

बीज शब्दः- आदिवासी, आदिवासी महिला, समाज, स्त्री, संघर्ष, एलिस एक्का, आंदोलन, हिंदी, वनकन्या, दुर्गी, जुगनी, पितृसत्ता, रूढ़ियां, जागरूकता, शिक्षा, अहिंसा, आधुनिकता, कथा, कहानी

एलिस एक्का एक बेहद चर्चित आदिवासी कहानीकार थीं। इनका जन्म 8 सितंबर 1917 को राँची में हुआ तथा 5 जुलाई 1978 को इनका निधन हो गया। ये हिंदी में लिखने वाली पहली आदिवासी महिला थीं। एलिस 1947 में शुरू हुई साप्ताहिक पत्रिका 'आदिवासी' की नियमित लेखिका रही है। उनकी पहली प्राप्त रचना 'खलील जिब्रान' के साहित्य का हिंदी अनुवाद है। जो 'आदिवासी' के अगस्त 1959 के विशेषांक में छपी थी। वे झारखंड की पहली महिला ग्रेजुएट भी है।

एलिस एक्का की प्राप्त कहानियों में पहला स्थान 'वनकन्या' का है। जो 'आदिवासी' में 17 अगस्त 1961 को रांची में छपी थी। एलिस एक्का का पूरा नाम 'एलिस ख्रिस्तीयानी पूर्ति' था। इनके माता व पिता 'मेरी पूर्ति' तथा 'नुअस पूर्ति' है। ये आदिवासियों के भगवान 'बिरसामुंडा' के परिवार से संबंध रखती थीं। 'ग्रेस पूर्ति' तथा 'बसंत पूर्ति' इनके भाई-बहन है। "इन्होंने पेशे के रूप में शिक्षकीय जीवन को चुना। गवर्नमेंट गर्ल्स स्कूल पुरुलिया, संत मार्ग्रेट स्कूल, बहू बाजार और चांदमल बाल मंदिर स्कूल, रातु रोड रांची में उन्होंने समय-समय पर अध्यापन कार्य किया। लेकिन उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें अध्यापन कार्य तभी मिला जब नवंबर 1971 में झारखंड आंदोलन के आदिवासी बुद्धिजीवी डॉ. निर्मल मिंज की अगुआई में 'गिस्सनरस' कॉलेज की स्थापना हुई। डॉ. मिंज के आमंत्रण पर वे कालेज से जुड़ी और 1972 से उन्होंने वहां अंग्रेजी पढ़ाना शुरू किया। जीवन का साथ छोड़ देने से पहले तक वे वहीं अध्यापक रहीं।"[1]

'कुमार सुरेश सिंह' लिखते है "बिरसा मुंडा के पूर्वज पूर्ति गोत्र के थे। वे सदियों पहले अपने निवास के लिए स्थान खोजते हुए डोमडा गाड़ा नदी के पास पहुँचे। संभवत: यही नदी आधुनिक रांची के उपनगर चुटिया के निकट बहती है। उन लोगो ने नदी की धार में लकड़ी का एक बहता हुआ कुंदा देखा तो उसे पकड़ने के लिए नदी में कूद गए। उसे पकड़ा और उसके साथ तैरते हुए नदी के उस पार पहुंचे। वहां जब उन्होंने उसे ठीक से देखा तो पाया कि उसके भीतर एक छेद में चूहा (चुट्टू) था। इसे उन्होंने शुभ लक्षण समझा और इसे ही अपनी सुरक्षा और सौभाग्य का कारण माना। फिर वे उस जगह ही रुके और वही बस गए। वह स्थान चुटिया कहलाया और इसी के अनुसार बिरसा के पूर्वज पूर्ति वंश की जिस शाखा के साथ थे उसका नाम चुटियापूर्ति कहलाया।"[2]

आदिवासियों के देवता तथा उनकी मान्यताएं किसी चमत्कार या अवतार पर आधारित नहीं है। पौराणिक समय में स्वाभाविक से आश्चर्य या यह कहा जा सकता है कि जहां इनको संरक्षण मिला उसी में उनकी आस्था हो गई। एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस तरह जन्म लेता है। कि लकड़ी को यदि खोखला कर दिया जाए तो वह डूबेगी नहीं। नदी पार करने का यह साधन उस समय जरूर आधुनिक रहा होगा।

"झारखंड बनने के बाद जनसंपर्क विभाग के बिहारी पदाधिकारियों ने आदिवासी पत्रिका के सभी पुराने अंकों को रद्दी के भाव बेच दिया। इसे न सिर्फ एलिस एक्का की रचनाओं का एक स्त्रोत नष्ट हो गया बल्कि झारखंड के उन सभी साहित्यकारों की रचनाएं भी हमेशा हमेशा के लिए खो गई जो सिर्फ और सिर्फ आदिवासी में ही छपी थी।"[3]

आदिवासी विमर्श में स्त्री अस्मिता का जो प्रश्न है वह मुख्य धारा की स्त्री के प्रश्नों से भिन्न है। सभ्यता से दूर आदिवासियों के बीच की स्त्री, जाति व्यवस्था की मारी तथाकथित शुद्र स्त्री, सामंती व्यवस्था की रक्षा के लिए महलों में कैद स्त्री और बाजार में विक्रय तथा संसाधन रूप में उपयोग की स्त्री। किस-किस प्रकार से स्त्री का शोषण हो रहा है एक साथ सब पर विचार कर पाना संभव नहीं है। पर फिर भी हम एलिस एक्का की कहानियों में विभिन्न प्रकार से संघर्षरत आदिवासी स्त्रियों का चित्रण देख सकते है।

एलिस एक्का की अब तक प्राप्त कहानियों में पहली कहानी वनकन्या है। जो आदिवासी में 17 अगस्त 1961 में छपी थी। कथा के आरंभ में जंगल का मधुर प्राकृतिक चित्रण किया गया है। उसी का एक अंग आदिवासी युवतियां भी है जिनको वनकन्या नाम से अभिहित किया गया है। अधिकांश आदिवासी युवतियों को शूरवीरों की तरह तीर चलाते देखा जाता है। जैसे :-

"उलगुलान की औरतें
उतनी ही लड़ाकू थी
जितना कि उनके सेनापति
वे अपनी खूबसूरती से
कहीं ज्यादा खतरनाक थीं।"[4]

वनकायाओं का वन में जाना उनकी दिनचर्या का हिस्सा है। 'फेचो' इस कथा की नायिका है। पुरुष के जख्मी शरीर को अचानक जमीन पर पड़ा देख कर जंगलों में रहने वाली स्त्री भी उसी तरह विस्मित होती है जैसे कोई नगरीय स्त्री घबरा जाती है।

शंका की दृष्टि से लड़कियां उसे देखती है। बिना किसी आर्थिक या सामाजिक लोभ के उसे अपने घर ले जा कर उसका उपचार करती है और पूरे सेवा भाव से उसके उपचार में लग जाती हैं। इससे यह पता चलता है कि आदिवासियों की अर्थव्यवस्था का केंद्रीय तत्व श्रम हैं पूँजी नही। वनकन्या कहानी में फेंचो, बूटी, लुंदरी (तीनों लड़कियां) प्रकृति के नैसर्गिक वातावरण में श्रमशील है। इसके माध्यम से यह कहा जा सकता है कि आदिवासियों का श्रम थकाने वाला नहीं आनंद तथा उमंग का सृजन करने वाला है। ये सूखी लकड़ियां चुनती है। हरी लकड़ियों को काट कर सुखाती नहीं है। प्राकृति ने स्वेच्छा जो दिया है उसी में अपना गुजारा करती हैं। आदिवासी समुदायों में जल, जंगल, जमीन और जैव विविधता से जुड़ाव होता है। इस प्रकार आदिवासी समुदाय की उन महिलाओं का चित्रण किया गया है जिनमें एक ओर निश्छल सेवा भाव है तो वहीं दूसरी ओर अपनी प्रकृति से अत्यंत लगाव भी है।

"उसके हाथ में चेन लपेटता हुआ बोला; 'फेचो, मेरे पास कुछ नहीं। देखती हो इस चेन में कड़ियां किस तरह जुड़ी हुई हैं। इन्ही कड़ियों की तरह हमारा हृदय पवित्र प्रेम से जुड़ा रहेगा। तुम मेरे स्नेह की पहली कड़ी होगी फेचो। जब –जब मैं वन साहित्य लिखूंगा तुम्हें ही आगे रख कर लिखूंगा।"[5]

प्रेम और विरह के मार्मिक स्थल पर पहुंच कर भी वह अपनी सक्षम बुद्धि का प्रयोग करती है। आदिवासी स्त्री बेहतर जीवन स्तर तथा सुख- सुविधाओं के लालच में अपनी जड़ों से कटना नही चाहती है।

"फेचो ने कहा– 'बाबू, हमारे इस जंगल में आकर आपको कष्ट हो गया। हम लोगों को इसके लिए दुख है।"[6]

अनजान व्यक्ति को घायल अवस्था में देख कर आदिवासी लोग उसको अपनी जिम्मेदारी समझते है। किसी प्रकार का भेदभाव या हीन भावना यहां देखने को नही मिलती है। आगंतुक का पूर्ण सहयोग किया गया यह सोचे बिना कि यह ठीक होने के बाद हमारा मित्र होगा या शत्रु।

आदिवासी प्रारंभ से ही प्रकृति प्रेमी रहे हैं। यह प्रकृति प्रेम इनकी कथा साहित्य में सरल, सहज रूप में दिखाई पड़ता है।

एलिस एक्का अपनी दूसरी कथा "दुर्गी के बच्चे और एल्मा की कल्पनाएं" में दलित और आदिवासी महिला के जीवन का तुलनात्मक चित्रण करती है। यहां एल्मा शिक्षित मध्यवर्गीय आदिवासी महिला है। तथा दुर्गी अशिक्षित निम्नवर्गीय दलित महिला है। एलिस एक्का द्वारा "प्रकाशन के लिहाज से प्रेमचंद के बाद दलित विषय पर लिखी गई यह पहली कहानी है।"[7] इस कथा का सारांश यह है कि भेदभाव करना आदिवासियों के स्वभाव में नहीं है। वे दोनों महिलाएं साथ में बैठ कर अपने बचपन को याद करती है। सभी जातिगत

और वर्गगत भेदभाव को मिटा कर। दुर्गी के त्रासदी भरे जीवन की गाथा सुन कर किसी का भी हृदय भाव विभोर हो सकता है।

"दुर्गी ने कहा– 'का करब दीदी। पेट –चांडाल के कारण का नहीं करे के पड़े।..... एक महीना के बच्चा छोड़ ओकर बाप चल बसलई।,,,,,,, जब छाउआ–पूता दाना –पानी खातिर तरसे लगथी, तो एगो दुसर जमादार दया करके रख लेलई। लेकिन हमर फुटल कपार कि ऊहो हैजा बीमारी के चलते मर गेलई।"[8]

परंतु यहां पर दुर्गी के दो रूपों का चित्रण किया गया है। पहला रूप है जहां वह एक 14– 15 वर्ष की किशोरी कन्या है। उसके जीवन में विवाह के नए रंगों की मादक सुगंध है। वह चंचला है,फुर्तीली है। वाक् माधुर्य से भरी हुई है।

तो दूसरी ओर उसका विपरीत रूप है। जिसमे वह एक प्रौढ़ नायिका है। अपने जीवन के सभी नायकों का साथ छूट जाने पर भी अपनी नांव की वह अकेली खिवईया बनी एक जिम्मेदार माता का दायित्व निभा रही है।

"उम्र परिवर्तन लाती है, लेकिन जीवन की परिस्थितियां आदमी को कितनी शीघ्रता से परिवर्तित कर देती है।"[9]

यहां चिंताजनक बात यह है कि विवाह नमक संस्था एक मधुर विष की तरह काम करती है। जो किशोरावस्था में युवतियों को शहजादियों जैसे सपने दिखाती है। परंतु विवाह के पश्चात् जीवन के थपेड़े उसका जीवन दासी से भी बदतर बना देते है।

"हाय री दुनिया! एक ही सृष्टिकर्ता परम पिता की संतानों में इतना फर्क! कोई हिंडोले पर झूलता है और कोई सिर पर मैला की बाल्टी लेकर घर–घर डोलता है।"[10] यहां पर एल्मा दुर्गी के बच्चे के भविष्य के लिए चिंता में है तथा वह मैला उठाने के कार्य को देश भक्ति के बराबर सम्मान का अधिकारी मानती है।" सारी संताने एक साथ कंधे से कंधा मिला देश को ऊंचा उठा रही हैं।"[11]

'सलगी जुगनू और अंबा गाछ' कहानी 'आदिवासी' पत्रिका में 15 अगस्त 1964 को प्रकाशित हुई।

सलगी एक छोटी सी ग्रामीण आदिवासी लड़की है 'अंबा गाछ' यहां पर आम के पेड़ को कहा गया है। इस कहानी के पात्र राजू और सलगी दोनों मित्र है। उन दोनों का प्रेम जुगनू के समान है। जो चमकता तो है लेकिन पकड़ में आने पर अपनी चमक खो देता है।

जुगनू की बत्ती को देख कर दोनो बच्चे उनके पीछे दौड़ते है। राजू सवर्ण परिवार का लड़का है उसकी मां शिक्षित है वह उसे बचपन में ही उसके उज्वल भविष्य के संकेत देती है। "हां बेटा, तुम अच्छे लड़के बनो, तो तुम्हे भी बत्ती मिलेगी।"[12]

इस कहानी में दूर दराज के ग्रामीण इलाके में रह रहे ऐसे आदिवासी परिवारों का चित्रण किया गया है, जहां सरकार द्वारा चलाई गई जरूरी सुविधाएं नहीं पहुंच पा रही है। और इसी कारण यहां के आदिवासी एक

अभिशप्त जीवन जीने के लिए मजबूर है। "विश्व ने जैसे-जैसे तकनीकी और प्रौद्योगिकी विकास किया है। वैसे-वैसे महिलाओं के हिंसा और शोषण के प्रकारों में वृद्धि आई है। एक बच्ची को पैदा होने से पहले ही कितनी यातनाओं से गुजरना पड़ता है।"[13] इसी प्रकार इस कहानी में सलागी के साथ होता है जीवन की सभी यातनाओं के साथ उसके क्षेत्र में विकास की कमी का खमियाजा उसे अपनी जान गवां कर चुकाना पड़ा।

इसे एक तुलनात्मक चित्रण भी कहा जा सकता है। एक शिक्षित और अशिक्षित परिवार का जिसमे राजू की मां इतनी जागरूक है कि वह डॉक्टर को फोन कर के बुला सकती है शहर से दवाई मंगवा सकती है। परंतु वही सलगी की मां को इसके बारे में कुछ पता भी नहीं है। कि इस प्रकार की कोई सुविधा या सहायता उनको मिल सकती है।

"काश अस्पताल कुछ नजदीक होता!"[14] इसी प्रकार की समस्या का चित्रण 'कोयल की लाडली सुमरी' कहानी में भी किया गया है।

"ताउम्र पानी ढोती औरत
पता नहीं कब
बचपन बीता
यौवन बीता
और बीत गया सारा जीवन"[15]

नदी से पानी भरना और अपनी दिनचर्या के काम करना। आदिवासी महिलाओं का जीवन इसी में बीत जाता है। तथा पानी अर्थात मान-मर्यादा का बोझ सभी स्त्रियों को जीवन भर ढोना पड़ता है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है। कि आदिवासी लड़कियों के लिए खेल और मनोरंजन घर के काम करते समय गाए जाने वाले गीत। तथा खिलौने के रूप में खतरनाक जीव-जंतु हुआ करते है। इनके बीच इनका बचपन बीतता है। और कहीं न कहीं उनका जीवन भी उन्ही जीव जंतुओं जैसा बन कर रह जाता है। जैसे सुमरी और सलगी का जीवन बन गया।

"कोयल की लाडली सुमरी"

कोयल नदी झारखंड के डाल्टनगंज में है। यहां सुमरी नामक आदिवासी लड़की अपने पिता के साथ रहती है। वह अपने बीमार पिता की गंभीर हालत देख कर डॉक्टर को बुलाने जाती है। रास्ते में उसके साथ ट्रक ड्राइवरों द्वारा कुकर्म हो जाता है। इधर उसके पिता भी नहीं बचते है। वह अकेली रह जाती है। बाद में गांव वाले उसका सहारा बनते है।

इस कहानी के माध्यम से एलिस एक्का यह बताना चाह रही है। कि एक आदिवासी स्त्री के लिए जंगली जानवरों का सामना करना फिर भी उतना कठिन नहीं है। क्योंकि जानवर की प्रवृत्ति है शिकार करना और आदिवासी महिला इसके लिए खुद को तैयार रखती है। पर मनुष्य के अंदर कब पशुता उत्पन्न हो जाए

इसका अंदाजा स्त्री को नहीं रहता है। आदिवासी समाज में बलात्कार की अवधारणा ही नहीं थी। बल्कि यहां स्वतंत्र साहचार्य की प्रवृत्ति रही है।

जबरदस्ती जैसी चीजों का अस्तित्व ही नहीं है। तो इसके लिए तैयार रहना आदिवासी महिला के लिए संभव ही नहीं था।

अपनी ज्यादातर कहानियों में लेखिका ने आदिवासी नायिका के प्राकृतिक सौंदर्य का ही चित्रण किया है तथा साथ ही साथ निश्चल भावनाओं और विचारों का चित्रण भी किया है। वनकन्या कहानी में भी उन्होंने आदिवासी कन्या के हृदय के कोमल, संवेदनशील तथा साहसी पक्ष को प्रस्तुत किया है। उसी प्रकार यहां पर भी सुमरी पड़रू के लिए कोमल संवेदनशील है। पर अपने पिता के लिए बाघ से लड़ने का साहस दिखाती है। पर जिस प्रकार अभिमन्यु चक्रव्यूह को भेद नहीं पाया था उसी प्रकार सुमरि मानव रूपी पशुओं को पहचान नहीं पाई।

हमारे समाज में बलात्कार पीड़िता स्त्री को लोग एक छूत के रोगी की तरह देखते है । ऐसा लगता है जिसके साथ दुष्कर्म हुआ है उसके साथ रिश्ता रखने वालो को भी यह बीमारी हो जाएगी। एक बार दुर्घटना हो जाने के बाद उसे स्वस्थ होने में सहायता करने के बजाय इसके जख्मों को कुरेदने का काम करते है। और शर्म की बात यह है। कि उसके सबसे करीबी लोग उसे बार–बार उस घटना की याद दिलाते है। ऐसे में शारीरिक चोट उसकी दिमागी चोट बन जाती है।

कथा के अंत में स्त्री की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। हम ऐसी बीमार मानसिकता वाले समाज में जी रहे है। जिसे अपने विचारों का इलाज कराने की सख्त जरूरत है। किसी अन्य के कुकर्मो की सजा स्त्री को क्यों भुगतनी पड़ती है?

समाज से अकेले लड़ना उसके लिए कितना मुश्किल हो जाता है। हृदय की कोमल स्त्रियां इस पीड़ा को सहन नहीं कर पाती है और आत्म बलिदान कर देती है। "बलात्कार से पीड़ित महिलाओं को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उन्हें शादी न होने का डर, सम्मान प्रतिष्ठा खोने का डर, मानसिक एवं भावनात्मक उत्पीड़न, शारीरिक चोट और पीड़ा को भी झेलना पढ़ता है। भारत जैसे देश में समाज के डर से अधिकांश महिलाएं इसका खुलासा नहीं करती या आत्महत्या कर लेती है।"[16] इसी प्रकार समाज के तानों से परेशान होकर सुमरी भी आत्महत्या के लिए विवश हो जाती है।

इसी क्रम में उनकी एक और कथा प्रस्तुत है "बिलचो और रामू" इस कथा में लेखिका ने दो आदिवासी नारी पात्रों का चित्रण किया है। पहली है बिलों जो बिलचो की मां है। उसका पति शराबी है और कुछ काम नहीं करता है। पर बिलो बहुत मेहनती है। प्रसव पीड़ा सहन करते समय भी वह अकेली रहती है और हिम्मत नहीं हारती है। किसी दाई या डॉक्टर का सहारा लिए बिना ही शिशु को जन्म देती है। और अगले ही दिन से अपने दैनिक कार्यों में लग जाती है। यह नारी का वह रूप है। जो किसी के अधीन नहीं है। किसी पर आश्रित नहीं है। भले ही वह अशिक्षित है पर उसके अंदर समझदारी इतनी है। कि अकेले अपने परिवार का भरण पोषण करने के लिए तैयार है। "जीवन के हर नए पड़ाव पर आने के बाद महिलाओं को नए प्रकार

की शोषण प्रणाली से गुजरना पड़ता है। चाहे इसे परंपराओं और रीति -रिवाजों का संस्कृतिकरण कहा जाए या फिर शोषण की अंतहीन यात्रा। इन सभी समस्याओं और चुनौतियों से बचने के लिए महिलाओं का शिक्षित और आत्मनिर्भर होना जरूरी है।"[17] इसी प्रकार आधुनिक चुनौतियों का सामना करती हुई बिलो अपनी पुत्री को विद्यालय भी भेजती है।

दूसरी ओर है बिलचो। यह एक शिक्षित बालिका है। अपने समाज की रूढ़ी के अनुसार उसे कम उम्र में ही शादी के लिए सहमत कर लिया जाता है। "बिलचो, दुनिया बदलती है और उसके साथ-साथ समाज को भी बदलना पड़ता है। हम पढ़े लिखे ही कदम न उठाएंगे तो सुधार कैसे होगा । ..... मस्तिष्क की वृद्धि करो। रूढ़ियों को दूर करो।"[18] परंतु रामू के द्वारा समझाने पर वह फिर अपने संकल्प के प्रति चेतन हो जाती है। शादी का ख्याल छोड़ कर आगे की पढ़ाई में लग जाती है। और अपने जीवन के लक्ष्य को हासिल करती है। "अब बिलचो शहर के हायर सेकेण्डरी स्कूल में पढ़ती है। उसे पढ़ने में लगन और आनंद है। उसे छात्रवृत्ति मिलती है। पैसों की दिक्कत नहीं। शिक्षिका गण उससे बहुत प्रसन्न है। वह प्रत्येक साल उत्तीर्ण होती जा रही है।"[19]

यहां यह बात विचारणीय है। कि शिक्षा का महत्व जाती धर्म से ऊपर है। आदिवासी पिछड़े नहीं है। बस उनकी संस्कृति मुख्य धारा से अलग है। जीवन में विकास और देश की रक्षा का महत्व वे भलीभांति जानते है। अपने समाज की कुरीतियों का खण्डन वे भी कर रहे है। आदिवासी स्त्री अपने जीवन के फैसले लेने के लिए स्वतंत्र है। वह मान-मर्यादा और परंपराओं की बेड़ियों में जकड़ी हुई नहीं है। वह जब चाहे अपनी रूढ़ियों की चादर हटा कर खुली हवा में सांस ले सकती है।

आदिवासी स्त्री की एक दार्शनिक छवि आपको "धरती लहलहाएगी झाले नाचेगी गायेगी" में देखने को मिलती है। यह कथा मुख्य रूप से अकाल पर आधारित है। भारत की आजादी के बाद भारत को अकाल का सामना करना पड़ा था। "भारत ने चीन की और पाकिस्तान की लड़ाई भी देखी और अब रहे भूख और अकाल देख। हे भारत माता। गुलामी की बेड़ी टूटी भी तो क्या भूख और अकाल ही बदा था तेरे भाग्य में![20]

परंतु ये लोग हर परिस्थिति में नाचने, गाने तथा जश्न मनाने के लिए तत्पर रहते हैं। वर्षा न होने पर वर्षा को बुलाने के लिए भी गीत गया जा रहा है। परंतु दुख की बात यह है कि भूखे पेट मुख से स्वर भी कैसे निकले?

"कहां से आवे चरकी बदरिया नैन ना रे..
– – – – – – – – – –
भला बरसो थे बुंदिया हो नैन ना रे....!"[21]

झालों यहां पर एक विचारशील, तर्कशील आदिवासी लड़की का प्रतिनिधित्व करती है।

वह इस दुख के समय गीत गाने की परंपरा पर प्रश्न उठती है। "झाले सोचती है इस भूख पीड़ित धरती में नाच - गाना क्यों? पहले भूख दूर हो। झालो ठीक कहती है।"[22]

साथ ही सरकार की तरफ से राहत प्राप्त होने पर जहां अन्य लोग उत्साहित है। वहीं झालो चिंतित है। वह आगे की बड़ी समस्या के बारे में सोच रही है कि आगे क्या होगा?

इस प्रकार एक आदिवासी लड़की में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को देखा जा सकता है। वह पशु–पक्षी की भांति नहीं सोचती है। उसकी भूख केवल स्वयं तक सीमित नहीं है। वह समाज और देश के लिए विचारशील है। वह समस्या से समाधान का रास्ता खोजती है।

निष्कर्ष

सभी समाजों में सत्ता सदैव पुरुष की रहती है। परंतु जिम्मेदारी किसकी है यह अधिक मायने रखता है। आदिवासी स्त्री सत्ता की लोभी नही है। वह परिवार को अपनी जिम्मेदारी समझती है। समय बदलने के साथ–साथ वह खुद को भी बदलती है। और अपनी सामाजिक जिम्मेदारी को भी स्वीकार करती है। वहीं दूसरी ओर पुरुष सदैव से कमजोर रहा है। इसी कारण उसने अपने लिए समाज में एक महफूज स्थान तैयार किया है। जहां बैठ कर वह आराम फरमा सके। समाज के रीति –रिवाजों में, पौराणिक रूढ़ियों में, परिवारों में, यहां तक कि स्त्रियों के मन पर भी पुरुषवादी सोच हावी हो चुकी है। इस प्रकार की मानसिकता तैयार हो जाने के बाद आप देखेंगे कि पुरुषों के लिए जीवन अधिकांश क्षेत्रों में महिलाओं के बरक्स अधिक सुविधाजनक हो गया है। परंतु आदिवासी समाज में स्त्री की लड़ाई केवल पितृसत्ता से नहीं बल्कि सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक स्तर पर भी है। यहां पर स्त्री पुरुष आपस में नहीं बल्कि एक साथ मिल कर परिस्थितियों की चुनौतियों से लड़ रहे है।

सन्दर्भ

1. पृष्ठ 13, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
2. पृष्ठ 11, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
3. पृष्ठ 14, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
4. पृष्ठ 56, कलम को तीर होने दो –सं. रमणिका गुप्ता, उलगुलान की औरतें– अनुज लुगुन
5. पृष्ठ 43, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
6. पृष्ठ 38, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
7. पृष्ठ 28, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
8. पृष्ठ 47, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
9. पृष्ठ 49, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
10. पृष्ठ 49, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
11. पृष्ठ 50 अंतिम वाक्य, एलिस एक्का की कहानियां– सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015

12. पृष्ठ 51, एलिस एक्का की कहानियां- सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
14. पृष्ठ 55 अंतिम वाक्य, एलिस एक्का की कहानियां- सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
15. पृष्ठ 50 अंतिम वाक्य, एलिस एक्का की कहानियां- सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
16. पृष्ठ 201, नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार –शुभ्रा परमार
17. पृष्ठ 215, नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार –शुभ्रा परमार
18. पृष्ठ 65, एलिस एक्का की कहानियां- सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
19. पृष्ठ 65, एलिस एक्का की कहानियां- सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
20. पृष्ठ 68, एलिस एक्का की कहानियां- सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
21. पृष्ठ 69, एलिस एक्का की कहानियां- सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
22. पृष्ठ 71, एलिस एक्का की कहानियां- सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन –प्रथम संस्करण, 2015
23. पृष्ठ 44, रोहिणी अग्रवाल - समकालीन हिंदी उपन्यास और दिकू समाज का आदिवासी चिंतन, कथाक्रम, अक्टूबर –दिसंबर 2011

माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि पर विद्यालय त्याज्यता के प्रभाव का अध्ययन

राकेश कुमार
शोधछात्र
शिक्षक शिक्षा विभाग
नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय)
कोटवाँ–जमुनीपुर–दुबावल, इलाहाबाद

सारांश

शीर्षक "माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि पर विद्यालय त्याज्यता के प्रभाव का अध्ययन" है। अध्ययन को देखते हुए वर्णनात्मक कार्योत्तर विधि को अध्ययन के लिये उपर्युक्त विधि का प्रयोग किया गया है। जनसंख्या के रूप में उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद इलाहाबाद द्वारा संचालित प्रयागराज जनपद में स्थित माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत कक्षा 10 के समस्त विद्यार्थियों को माना गया है। माध्यमिक विद्यालयों से कुल 400 विद्यार्थियों (200 अध्ययनरत एवं 200 त्याज्य) एवं उनके अभिभावकों का चयन स्तरीकृत यादृच्छिक प्रतिदर्श चयन विधि से किया गया है। प्रस्तुत परीक्षण का निर्माण संवेगात्मक बुद्धि परीक्षण – डॉ0 शीतला प्रसाद द्वारा निर्मित मापन के लिए किया गया गया था। शोधार्थी ने दो समूहो के मध्य तुलना करने के लिए टी टेस्ट का प्रयोग किया है। परिणाम माध्यमिक स्तर के अध्ययनरत् विद्यार्थियों एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमा आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित विमा सहित एक–दूसरे से भिन्न पायी गयी।

की–वर्ड– माध्यमिक स्तर, अध्ययनरत् एवं त्याज्य विद्यार्थी, संवेगात्मक बुद्धि, तुलना

भूमिका

माध्यमिक शिक्षा के अत्यधिक महत्वपूर्ण होने के तीन प्रमुख कारण इस प्रकार है प्रथम, माध्यमिक शिक्षा सामान्य शिक्षा की परिसमाप्ति है, द्वितीय, माध्यमिक शिक्षा रोजगार व जीवन यापन के क्षेत्र में प्रवेश का द्व ार खोलती है तथा तृतीय माध्यमिक शिक्षा प्राथमिक शिक्षा व उच्च शिक्षा के स्तरों की गुणवत्ता को निर्धारित

करती है। क्योकि प्राथमिक स्कूलों के अधिकांश अध्यापक माध्यमिक शिक्षा प्राप्त होते है तथा उन्हे मिली शिक्षा की गुणवत्ता का प्रभाव माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों पर परोक्ष रूप से दिखाई पड़ता है अत: स्पष्ट है की तीनों ही दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा स्तर देश की सम्पूर्ण शिक्षा ब्यवस्था का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग होता है माध्यमिक शिक्षा ब्यवस्था की इस महत्वपूर्ण भूमिका के कारण इसे शिक्षा की मेरूदण्ड़ कहा जाता है। वर्तमान समय में प्रचलित भारतीय माध्यमिक शिक्षा की ऐतिहासिकता पर नजर डाले तो पता चलता है कि माध्यमिक शिक्षा की आधारशिला ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था में वर्ष 1854 के वुड घोषणा पत्र के द्वारा रखी गई थी तत्कालीन समय में यह शिक्षा ब्यवस्था कुछ सम्भ्रान्त वर्ग के चुनिन्दा छात्रों के लिए लागू की गई थी तब से लेकर आज तक माध्यामिक शिक्षा के स्वरूप में अनेक छोटे–बड़े परिवर्तन आए परन्तु मूल रूप में इसकी प्रवृत्ति लगभग वही बनी रही माध्यमिक शिक्षा की अवधि में अनेक बार संकुचन व विस्तार हुए वर्ममान समय में भी माध्यमिक शिक्षा की अवधि विभिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न है आज माध्यमिक शिक्षा के केन्द्र माध्यमिक विद्यालय है जो राज्यों के शिक्षा विभाग तथा माध्यमिक शिक्षा परिषदों द्वारा नियन्त्रित होते है।

किशोरावस्था जन्मोपरान्त मानव विकास की तृतीय अवस्था है जो बाल्यावस्था की समाप्ति के उपरान्त प्रारम्भ होती है। इस काल में किशोर–किशोरियों में शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक दृष्टि से क्रान्तिकारी परिवर्तन होते है। यह अवस्था युवावस्था की नींव है जिसके पास जीवन का सारा भविष्य पाया जाता है और यह विकास की चरमावस्था होती है। अत: माध्यमिक स्तर की शिक्षा ही विद्यार्थी के भविष्य को निर्धारित करती है। अत: इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के महत्व का औचित्य स्वमेव सिद्ध हो जाता है।

बाल्यावस्था, बढ़ी हुई संवेगशीलता का समय होता है, जिसमें मचलना, तीव्र भय और ईर्ष्या का अनुचित रूप दिखाई देता है। इस समय शैशवावस्था की अपेक्षा संवेगों का व्यक्तीकरण अधिक होता है और अभिव्यक्ति के प्रतिमान को अधिक आसानी से पहचाना जा सकता है। इस आयु में बच्चों की तीव्र संवेगशीलता अंशत: इन कारणों से हो सकती है। बहुत समय तक मेहनत के साथ खेलते रहने से उत्पन्न थकावट, सुलाए जाने का विरोध करने से उत्पन्न थकावट, जितना जरूरी है उससे बहुत कम खाना, जो इस आयु की एक आम समस्या यानि खाने के समय खाने का विरोध करने का फल होता है। अधिकांश छोटे बच्चे सोचते हैं कि, उनके माता–पिता उन्हें जितना करने देते हैं, वे उससे कहीं अधिक करने में समर्थ हैं और उनके ऊपर ही अंकुश लगाए जाते हैं जिसका वे विरोध करते हैं। इसके अलावा जब वे देखते हैं कि वे किस काम को आसानी और सफलता के साथ करने योग्य समझते थे उसे नहीं कर पा रहे हैं तब वे गुस्सा हो जाते हैं। जब बच्चे का सामाजिक पर्यावरण विशाल हो जाता है और रविवासरीय पाठशाला, शिशु विद्यालय या शिशु विहार में उसका प्रवेश हो जाता है तथा वह पड़ोस के बच्चों के साथ खेलने लगता है, तभी उसके अन्दर तंत्रिका–तनाव होता है जो समायोजन की प्रत्येक समस्या के साथ होता है, बच्चा जितना छोटा और अनुभवहीन होगा, तनाव के होने की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी।

भारत के गांवों, शहरों एवं कस्बों में देखा गया है कि कुछ अभिभावक निर्धन होने के कारण बच्चों को विद्यालय से बिना शिक्षा पूर्ण हुए निकाल लेते हैं। उनके लिए जीवन–यापन करने के लिए शिक्षा के स्थान पर

धन अर्जन करना अधिक महत्वपूर्ण है। इस कारण वे बच्चों से शिक्षा के स्थान पर धनार्जन करना शुरू कर देते हैं। जिसके कुछ प्रत्यक्ष लाभ तो उन्हें अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु बच्चे का विद्यालय छोड़ना उस परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिये दीर्घकालीन विकास में बाधक है। विद्यालय त्याज्यता में निर्जीव शैक्षिक पद्धति की भी अहम् भूमिका होती है। प्रायः जब छोटे बच्चे घर छोड़कर विद्यालय में प्रवेश करते हैं, तो घर की तरह वातावरण न पाकर या विद्यालय वातावरण रुचिकर न होने के कारण छोटे बच्चे विद्यालय जाने के लिये स्वयं को अभिप्रेरित नहीं कर पाते एवं धीरे-धीरे वह अपना सम्पूर्ण ध्यान शिक्षा से परिवर्तित करके किसी दूसरी दिशा में लगाने लगते हैं। कभी-कभी विद्यालय त्याज्यता में प्राकृतिक आपदायें भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं, जैसे गुजरात के भुज में आये भूकम्प के कारण लाखों लोग विस्थापित हो गये जो पुनर्स्थापित होने के मध्य उनके बच्चों की शिक्षा का अभाव रहा। जिसके कारण से विद्यालय शिक्षा अधूरी छोड़ दिये। योजना (मासिक पत्रिका) के सर्वेक्षण के अनुसार भारत में कक्षा एक से पांचवी तक 43.89 प्रतिशत विद्यालय त्याज्य बच्चे हैं।

माध्यमिक स्तर पर शिक्षा को रोजगारपरक प्रासंगिक तथा जीवनोपयोगी बनाने की दृष्टि से इस स्तर के पाठ्यक्रम में व्यावसायिक शिक्षा का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारी परम्परागत शिक्षा प्रणाली में संज्ञानात्मक पक्ष पर अधिक बल दिया जाता है और कौशलात्मक एवं भौतिक पक्ष की प्रायः उपेक्षा रही है। महात्मा गाँधी जी ने भी रोजगारपरक शिक्षा पर महत्त्व देने के उद्देश्य से कहा है कि "भारत का कल्याण उसके कुटीर उद्योगों में निहित है।" अलग-अलग बच्चों में और एक ही बच्चे में अलग-अलग समयों में संवेगशीलता, बहुत भिन्न होती है। संवेगशीलता के अन्तर अंशतः बच्चों के स्वास्थ्य के अन्तरों के और अंशतः पर्यावरण के अन्तरों के कारण होते हैं। उन पर शैशवावस्था के वर्षों के दौरान संवेगात्मक व्यवहार के जो प्रकार पक्के हो चुके होते हैं, उनका भी प्रभाव पड़ता है।

लिंग और परिवार में जन्म क्रमसंख्या का बच्चे की संवेगशीलता पर बहुत प्रभाव देखा गया है। पहले बच्चे की स्थिति इतनी अच्छी होती है कि उसे सुरक्षित रखने के लिए बच्चे को दूसरे बच्चे की अपेक्षा अधिक सावधान रहना पड़ता है। सहोदर के साथ प्रतियोगिता में माता-पिता द्वारा लगाए हुए अंकुश उसके बाधक होते हैं। दूसरे बच्चे को अपनी रक्षा हेतु माता-पिता से प्रोत्साहन मिलता है, जिससे उसे अपना क्रोध प्रकट करने और सीधा आक्रमण करने में कम संकोच होता है। बच्चे पर संवेगात्मक दबाव तब अधिक होता है जब सहोदर विपरीत लिंग का होता है या जब दोनों के बीच आयु का अन्तर इतना अधिक होता है कि माता-पिता दोनों की ओर एक समय में बराबर ध्यान नहीं दे सकते। लिंग या जन्म-क्रम संख्या जो भी हो, जिस बच्चे से उसके माता-पिता अपने निर्धारित आदर्शों तक पहुँचने की आशा रखते हैं, उसे संवेगात्मक तनाव का अनुभव ऐसे बच्चे की अपेक्षा अधिक होगा जिसके माता-पिता अधिक उदार हों।

शीर्षक

माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि पर विद्यालय त्याज्यता के प्रभाव का अध्ययन ।

अध्ययन के उद्देश्य

- अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि का तुलनात्मक अध्ययन करना।
- अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि का तुलनात्मक अध्ययन करना।
- अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि का तुलनात्मक अध्ययन करना।

परिकल्पना

- अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि में अन्तर होता है।
- अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि में अन्तर होता है।
- अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि में अन्तर होता है।

शोध प्रविधि

अध्ययन को देखते हुए वर्णनात्मक कार्योत्तर विधि को अध्ययन के लिये उपर्युक्त विधि का प्रयोग किया गया है। जनसंख्या के रूप में उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद इलाहाबाद द्वारा संचालित प्रयागराज जनपद में स्थित माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत कक्षा 10 के समस्त विद्यार्थियों को माना गया है। माध्यमिक विद्यालयों से कुल 400 विद्यार्थियों (200 अध्ययनरत एवं 200 त्याज्य) एवं उनके अभिभावकों का चयन स्तरीकृत यादृच्छिक प्रतिदर्श चयन विधि से किया गया है। प्रस्तुत परीक्षण का निर्माण संवेगात्मक बुद्धि परीक्षण – डॉ० शीतला प्रसाद द्वारा निर्मित मापन के लिए किया गया गया था। शोधार्थी ने दो समूहो के मध्य तुलना करने के लिए टी टेस्ट का प्रयोग किया है।

1. अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि का तुलनात्मक अध्ययन करना।

सारणी संख्या-1

अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से सम्बन्धित मध्यमान, मानक विचलन एवं टी० अनुपात

स्रोत	छात्र	संख्या	मध्यमान	मा० विचलन	मानक त्रुटि	टी मान
आत्मनियन्त्रित	अध्ययनरत	100	14.30	2.619	.262	1.818 **
	विद्यालय त्याज्य	100	13.62	2.670	.267	
विश्वासी	अध्ययनरत	100	4.91	1.995	.200	.1.081 **
	विद्यालय त्याज्य	100	5.24	2.310	.231	
नवीनतावादी	अध्ययनरत	100	10.67	1.633	.163	.113 **
	विद्यालय त्याज्य	100	10.70	2.082	.208	
जिम्मेदार	अध्ययनरत	100	5.17	1.864	.186	.1.194 **
	विद्यालय त्याज्य	100	5.49	1.925	.193	
समायोजित	अध्ययनरत	100	4.95	1.828	.183	.001 **
	विद्यालय त्याज्य	100	4.95	2.204	.220	
संवेगात्मक बुद्धि	अध्ययनरत	100	96.98	8.526	.853	.759 **
	विद्यालय त्याज्य	100	96.04	8.994	.899	

**0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक "0.05 सार्थकता स्तर पर असार्थक*

सारणी संख्या 1 के अवलोकन से यह ज्ञात है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से सम्बन्धित टी.मान .759 है जो कि 0.05 सार्थकता स्तर पर असार्थक है जिससे शून्य परिकल्पना "अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर नहीं होता है।" स्वीकृत हो जाती है और शोध परिकल्पना "अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर होता है", अस्वीकृत हो जाती है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर नहीं होता है, साथ

ही संवेगात्मक बुद्धि के सभी विमाओं जैसे. आत्मनियन्त्रित, विश्वासी, नवीनतावादी, जिम्मेदार एवं समायोजित से सम्बन्धित टी.मान क्रमशः 1.818, .1.081, .113, 1.194 एवं .001भी 0.05 सार्थकता स्तर पर असार्थक है, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि के साथ-साथ उसके सभी विमाओं जैसे. आत्मनियन्त्रित, विश्वासी, नवीनतावादी, जिम्मेदार एवं समायोजित में भी सार्थक अन्तर नहीं होता है। पूर्व में हुए शोध प्रस्तुत परिणाम की पुष्टि होती है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर होता है जबकि कुछ शोध जैसे आनन्द मणि (2006) आदि प्रस्तुत परिणाम के विपरीत परिणाम की पुष्टि करते है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर नहीं होता है।

सारणी संख्या 1 में मध्यमानों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि अध्ययनरत ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके सभी विमाओं जैसे- आत्मनियन्त्रित, विश्वासी, नवीनतावादी, जिम्मेदार एवं समायोजित से सम्बन्धित मध्यमान क्रमशः 96.98, 14.30, 4.91, 10.67, 5.17 एवं 4.95 है तथा माध्यमिक स्तर के विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके सभी विमाओं जैसे– आत्मनियन्त्रित, विश्वासी, नवीनतावादी, जिम्मेदार एवं समायोजित से सम्बन्धित मध्यमान क्रमशः 96.04, 13.62, 5.24, 10. 70, 5.49 एवं 4.95 है, इससे यह स्पष्ट होता है कि अध्ययनरत ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि, अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से अपेक्षाकृत समान ही होती है। अतः कि अध्ययनरत ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में दृष्टिगत अन्तर संयोगवश या मानवीय त्रुटि के कारण हो सकती है।

2. अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि का तुलनात्मक अध्ययन करना।

सारणी संख्या-2

अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से सम्बन्धित मध्यमान, मानक विचलन एवं टी० अनुपात

स्रोत	छात्र	संख्या	मध्यमान	मा0 विचलन	मानक त्रुटि	टी मान
आत्मनियन्त्रित	अध्ययनरत	100	13.76	2.978	.298	7.054 *
	विद्यालय त्याज्य	100	10.95	2.645	.265	
विश्वासी	अध्ययनरत	100	6.56	2.101	.210	4.516 *
	विद्यालय त्याज्य	100	5.22	2.095	.210	
नवीनतावादी	अध्ययनरत	100	10.16	2.477	.248	.651 **
	विद्यालय त्याज्य	100	10.35	1.546	.155	

जिम्मेदार	अध्ययनरत	100	5.50	1.806	.181	1.324 **
	विद्यालय त्याज्य	100	5.85	1.930	.193	
समायोजित	अध्ययनरत	100	6.36	1.709	.171	3.954 *
	विद्यालय त्याज्य	100	5.29	1.616	.162	
संवेगात्मक बुद्धि	अध्ययनरत	100	94.97	10.247	1.025	5.742 *
	विद्यालय त्याज्य	100	87.16	8.946	.895	

**0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक **0.05 सार्थकता स्तर पर असार्थक*

सारणी संख्या 2 के अवलोकन से यह ज्ञात है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से सम्बन्धित टी.मान 5.742 है जो कि 0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक है जिससे शून्य परिकल्पना "अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर नहीं होता है।" निरस्त हो जाती है और शोध परिकल्पना "अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर होता है", स्वीकृत हो जाती है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर होता है", साथ ही संवेगात्मक बुद्धि के सभी विमाओं जैसे. आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित से सम्बन्धित टी.मान क्रमशः 7.054, 4.516 एवं 3.954 भी 0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक है, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि के साथ-साथ उसके विमाओं जैसे. आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित में भी सार्थक अन्तर होता है, जबकि संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदार से सम्बन्धित टी.मान .651 एवं 1.324 है जो कि 0.05 सार्थकता स्तर पर असार्थक है। अतः यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी में सार्थक अन्तर नहीं होता है।

सारणी संख्या 2 में मध्यमानों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि अध्ययनरत शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके विमाओं जैसे- आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित से सम्बन्धित मध्यमान क्रमशः 94.97, 13.76, 6.56 एवं 6.36 है जो कि माध्यमिक स्तर के विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके विमाओं जैसे- आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित से सम्बन्धित मध्यमान क्रमशः 87.16, 10.95, 5.22 एवं 5.29 से अधिक है, इससे यह स्पष्ट होता है कि अध्ययनरत शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके विमाएं जैसे- आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित, माध्यमिक स्तर के विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके विमाओं जैसे- आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित से अपेक्षाकृत अधिक होती है।

अध्ययनरत शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी से सम्बन्धित मध्यमान क्रमशः 10.16 एवं 5.50 है तथा विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी से सम्बन्धित मध्यमान 10.35 एवं 5.85 है जो कि 0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक नहीं है अर्थात अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमाओं जैसे. नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी में दृष्टिगत अन्तर संयोगवश या मानवीय त्रुटि के कारण हो सकती है। अतः यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि (आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित विमा सहित), अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से अपेक्षाकृत अधिक होती है जबकि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थी संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी के आधार पर समान होते है। जिसके कई कारण हो सकते है जैसे अध्ययनरत शहरी विद्यार्थियों में विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक जागरुकता अधिक होती है।

3. अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि का तुलनात्मक अध्ययन करना।

सारणी संख्या–3

अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से सम्बन्धित मध्यमान, मानक विचलन एवं टी० अनुपात

स्रोत	छात्र	संख्या	मध्यमान	मा० विचलन	मानक त्रुटि	टी मान
आत्मनियन्त्रित	अध्ययनरत	200	14.03	2.810	.199	6.036 *
	विद्यालय त्याज्य	200	12.29	2.969	.210	
विश्वासी	अध्ययनरत	200	5.97	2.050	.145	3.836 *
	विद्यालय त्याज्य	200	5.90	2.297	.162	
नवीनतावादी	अध्ययनरत	200	10.42	2.108	.149	.556 **
	विद्यालय त्याज्य	200	10.53	1.837	.130	
जिम्मेदार	अध्ययनरत	200	5.34	1.838	.130	1.777 **
	विद्यालय त्याज्य	200	5.67	1.931	.137	
समायोजित	अध्ययनरत	200	5.76	1.777	.126	2.430 *
	विद्यालय त्याज्य	200	5.62	2.041	.144	

संवेगात्मक बुद्धि	अध्ययनरत	200	95.98	9.456	.669	4.497 *
	विद्यालय त्याज्य	200	91.60	9.993	.707	

**0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक **0.05 सार्थकता स्तर पर असार्थक*

सारणी संख्या 3 के अवलोकन से यह ज्ञात है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से सम्बन्धित टी.मान 4.497 है जो कि 0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक है जिससे शून्य परिकल्पना "अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर नहीं होता है।" निरस्त हो जाती है और शोध परिकल्पना "अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर होता हैष, स्वीकृत हो जाती है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर होता है", साथ ही संवेगात्मक बुद्धि के सभी विमाओं जैसे. आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित से सम्बन्धित टी.मान क्रमशः 6.036, 3.836 एवं 2.430 भी 0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक है, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि के साथ-साथ उसके विमाओं जैसे- आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित में भी सार्थक अन्तर होता है, जबकि संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदार से सम्बन्धित टी.मान .556 एवं 1.777 है जो कि 0.05 सार्थकता स्तर पर असार्थक है। अतः यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी में सार्थक अन्तर नहीं होता है। पूर्व में हुए कुछ शोध जैसे दुबे (2006) आदि प्रस्तुत परिणाम के विपरीत परिणाम की पुष्टि करते है कि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि में सार्थक अन्तर नहीं होता है।

सारणी संख्या 3 में मध्यमानों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि अध्ययनरत विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके विमाओं जैसे. आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित से सम्बन्धित मध्यमान क्रमशः 95.98, 14.03, 5.97 एवं 5.76 है जो कि माध्यमिक स्तर के विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके विमाओं जैसे. आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित से सम्बन्धित मध्यमान क्रमशः 91.60, 12.29, 5.90 एवं 5.62 से अधिक है, इससे यह स्पष्ट होता है कि अध्ययनरत विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके विमाएं जैसे. आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित, माध्यमिक स्तर के विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके विमाओं जैसे. आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित से अपेक्षाकृत अधिक होती है।

अध्ययनरत विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी से सम्बन्धित मध्यमान क्रमशः 10.42 एवं 5.34 है तथा विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी से सम्बन्धित मध्यमान 10.53 एवं 5.67 है जो कि 0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक नहीं है अर्थात अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमाओं जैसे. नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी

में दृष्टिगत अन्तर संयोगवश या मानवीय त्रुटि के कारण हो सकती है। अत: यह कहा जा सकता है कि अध्ययनरत विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि (आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित विमा सहित), अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से अपेक्षाकृत अधिक होती है जबकि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थी संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी के आधार पर समान होते है। जिसके कई कारण हो सकते है जैसे अध्ययनरत विद्यार्थियों में विद्यालय त्याज्य ग्रामीण छात्राओं की अपेक्षा सांवेगिक/बौद्धिक परिपक्वता सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक जागरुकता का अधिक होना।

निष्कर्ष

- अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य ग्रामीण विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि एवं उसके सभी विमाओं जैसे- आत्मनियन्त्रित, विश्वासी, नवीनतावादी, जिम्मेदार एवं समायोजित में भी सार्थक अन्तर नहीं होता है।
- अध्ययनरत शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि (आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित विमा सहित), अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि से अपेक्षाकृत अधिक होती है जबकि अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य शहरी विद्यार्थी संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी के आधार पर समान होते है।
- अध्ययनरत एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि के साथ-साथ उसके विमाओं जैसे- आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित में भी सार्थक अन्तर होता है, जबकि संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी में सार्थक अन्तर नहीं होता है।

उपरोक्त परिणामों से यह स्पष्ट होता है कि माध्यमिक स्तर के अध्ययनरत् विद्यार्थियों एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमा आत्मनियन्त्रित, विश्वासी एवं समायोजित विमा सहित एक-दूसरे से भिन्न पायी गयी माध्यमिक स्तर के अध्ययनरत् विद्यार्थियों एवं विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि की विमा नवीनतावादी एवं जिम्मेदारी एक-दूसरे के समान है। शहरी अध्ययनरत् एवं त्याज्य विद्यार्थियों, छात्र एवं छात्राओं में संवेगात्मक बुद्धि ग्रामीण अध्ययनरत् एवं त्याज्य विद्यार्थियों, छात्र एवं छात्राओं में संवेगात्मक बुद्धि की अपेक्षा उच्च पाया गया। जिसका कारण हो सकता है कि ग्रामीण क्षेत्र के अध्ययनरत् एवं त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि कम पाया जाना इस बात को इंगित करता है कि व्यक्ति के जीवन में सफलता के लिए बुद्धि 20 प्रतिशत कार्य करता है जबकि 80 प्रतिशत संवेगात्मक बुद्धि का प्रभाव होता है। विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों में शिक्षा के प्रति त्याज्य होने का कारण संवेगात्मक बुद्धि भी हो सकता है। कुछ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते समय बहुत आक्रामक होते हैं एवं बात-बात पर अन्य छात्रों के साथ लड़ाई-झगड़े करने लगते हैं एवं गलत साथियों के साथ घूमना-फिरना एवं शिक्षा से जी चुराने लगते हैं जिसके कारण वे शिक्षा से उन्मुख होने लगते हैं।

विद्यालय त्याज्य विद्यार्थियों की संवेगात्मक बुद्धि कम होने का कारण उनकी भौगोलिक क्षेत्र, सामाजिक–आर्थिक स्थिति, पारिवारिक स्थिति एवं सामाजिक क्षेत्र भी हो सकता है। जैसा कि पूर्व शोध अध्ययन में सैनी एवं प्रधान (2019) ने अध्ययन के निष्कर्ष में इंगित किया कि "बीपीएल परिवार के विद्यार्थियों की शैक्षिक, आर्थिक एवं मानसिक समस्याओं में गरीबी, परिवार, काम एवं विद्यालय है जिसके कारण बीपीएल विद्यार्थी की सेहत के लिए नुकसानदायक होता है जिसके कारण छात्र एवं उनके मित्रों के मध्य अच्छे सम्बन्ध नहीं बन पाते है तथा कई बार ऐसा होता है कि बीपीएल विद्यार्थियों में अधिक तनाव से घिरने के कारण उनके क्रोध पर नियंत्रण नहीं रहता है।" विद्यार्थियों के संवेगात्मक बुद्धि पर पारिवारिक वातावरण का विशेष महत्व होता है। जैसा कि पूर्व शोध अध्ययनों में चन्द्रन एवं अन्य (2015) ने अध्ययन में इंगित किया कि "किशोरों का पारिवारिक वातावरण का उनके संवेगात्मक बुद्धि के विभिन्न आयामों से सार्थक सम्बन्ध है, सिवाय अन्तर्वैयक्तिक गुण के। किशोरों के संवेगात्मक बुद्धि के आक्रामक विश्लेषण बताते है कि मातृक प्रभाव एवं रिश्ते किशोरों के संवेगात्मक बुद्धि एवं अन्तर्वैयक्तिक गुण को सार्थक रूप से प्रभावित करते है जबकि पैतृक प्रभाव किशोरों के वैयक्तिक गुणों के भिन्नता से जुड़ा है।"

सन्दर्भ

1. एमेन, इ० डब्ल्यू० एण्ड एन० टेनीजन (2005). *ए स्टडी आफॅ द रिलेशनशिप बिट्वीन प्ले पैटर्नस एण्ड एनेक्सी इन यंग चिल्ड्रेन जेनेट,* साइकोलॉजी, मीर्नाजर 50, 3–41.
2. ऊषा, जयचन्द्रन, वी० (2007). *सोर्सेज आफॅ स्कूल ड्राप आउट इन इण्डिया,* रिसर्चर कैलकूलेशन फ्राम एन.एस.एस.।
3. कौर, कमलप्रीत (2018). पैरेन्ट–चाइल्ड रिलेशनशिप एण्ड स्टूडेन्ट्स एकेडमिक एचिण्ट : ए स्टडी आफॅ सेकेण्डरी स्कूल स्टूडेन्ट्स, एम.आई.ई.आर. जर्नल आफॅ एजूकेशनल स्टडीज, ट्रेन्ड्स एण्ड प्रैक्टिस, वॉ० 8, नं० 1, पृ० 38–56
4. खोखर ए., गार्ड, एस. एण्ड भारती, एन. (2005). डिपार्टमेण्ट आफॅ रिजन्स आफॅ स्कूल ड्राप इन दिल्ली, *इण्डियन जर्नल आफॅ कम्यूनिटी मेडिसिन,* 30 (3)
5. गिर्री, ए०पी० (1998). ए स्टडी आफॅ द प्राब्लम एण्ड प्रोग्रेस आफॅ द स्कूल ब्राडकास्ट प्रोग्राम्स, पी–एच०डी० थेसिस, उत्कल यूनिवर्सिटी, उड़ीसा
6. सैनी एवं प्रधान (2019). बीपीएल परिवारों के विद्यार्थियों की शैक्षिक, आर्थिक एवं मानसिक समस्याओं का एक अध्ययन, *इण्टरनेशनल जर्नल आफॅ रिसर्च एण्ड एनालिटिकल रिव्यु,* वॉ० 6, इश्यू–1, पृ० 450–453
7. सिंह यशवीर एवं भार्गव महेश (1990). *इमोशनल मैच्युरिटी स्केल (ई०एम०एस०),* नेशनल साइकोलॉजी कारपोरेशन आगरा।
8. स्पिट्ज, आर.ए. (1999). द *रोल आफॅ इकोलॉजिकल फैक्टर्स इन इमोशनल डेवलपमेण्ट इन इनफैन्सी,* चाइल्ड डेवलपमेण्ट, 20, 145–155.

शिकंजे का दर्द आत्मकथा में छिपी सुशीला टाकभौरे की पीड़ा

*शोधार्थी- **राज श्री***
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय पटना
पता-दयालबिघा, अमरातालाब
सासाराम, रोहतास, बिहार
पिन-821305

शोध सार

शिकंजे का दर्द, आत्मकथा की लेखक सुशीला टाकभौरे हैं। इन्होंने अपनी इस आत्मकथा में दलित-जीवन एवं स्त्री जीवन की कठिनाईयों का विवेचन किया है। भारतीय समाज आज भी स्त्रियों को वह स्थान नहीं दे पाया है जो मिलना चाहिए। दलित जनों की स्थिति भी लगभग इसी तरह है। इस पुस्तक की भूमिका में डॉ. टाकभौरें ने शिकंजे शब्द की व्याख्या करते हुए अपने अतीत के जीवन को भी सामने रखा है लेखिका लिखती है कि -"शिकंजे यानि पंजा, जिसकी जकड़न में रहकर कुछ कर पाना कठिन हो। शिकंजा अर्थात कठघरा जिसमें कैद होकर उसके बाहर जाना कठिन हो तथा शब्दकोश में दिए अर्थ के अनुसार शिकंजे का अर्थ दबाने, कसने का यंत्र है। शिकंजे का अर्थ एक प्रकार का प्राचीन यंत्र भी है जिसमें अपराधी की टाँग कस दी जाती है। शिकंजा वह यंत्र है जिसमें धुनने के पहले रूई को कसा जाता है। शिकंजे का अर्थ कोल्हू भी है।

प्रस्तावना

लेखिका सुशीला टाकभौरे 'शिकंजे की दर्द' मे लिखती हैं कि 'बचपन से युवावस्था तक मेरे जीवन के दिन अनेक प्रकार के शिकंजो में जकड़े हुए थे। इस जकड़न के कारण मेरे जीवन और व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध होता रहा। कठिन श्रम, कष्ट, अभाव और घुटन रहा। किशोरावस्था के विषय में सोचती हूँ तो लगता है वे दिन जल्दी ही बीत गये थे जब मैंने अपनी युवावस्था की कथा लिखनी चाही, शिकंजे मे कसे जीवन के दिनों में युवावस्था मिली ही नहीं, जैसे लगातार कैद में रहने से मन समय के पहले बूढ़ा हो गया हो। बी० ए० प्रथम वर्ष में मैंने माँ से जो कहा था वह अपने अर्थो में कड़वा सच था-मैं क्यों ऐसा करूँगी? मैं तो बूढ़ी ही जन्मी हूँ। क्या सोलह-सत्रह वर्ष की उम्र में कोई लड़की अपने लिए सहज ही ऐसा कह सकती है? इसके बाद भी हर कदम पर शिकंजे का एहसास होता रहा। जीवन के प्रत्येक सोपान शिकंजे के दर्द में डूबे रहे। क्यों ऐसा क्यों हुआ मेरे साथ।"[1]

लेखिका सुशीला टाकभौरे ने स्त्री जीवन के उस पक्ष को सामने रखा है जिसमें उससे केवल आदर्शो पर चलने का निर्देश दिया जाता है। उसके साथ कैसी घटना घटी, वह किस रूप में रहती आयी है, समाज इसकी परवाह नहीं करता। इतना ही नहीं वह समाज की गलतियों का हिसाब-किताब भी नहीं कर सकती, इस रूप में उसे असहाय बनाकर रख दिया है, जिसे डॉ. टाकभौरे ने निम्न रूप में व्यक्त किया है-"दलित होने के साथ स्त्री होने की पीड़ा भी मैंने भोगी है। एक स्त्री की आत्मकथा मनुवाद द्वारा निर्मित पुरूषसता प्रधान समाज में स्त्री शोषण को उजागर करती है जैसे स्त्री धरती है वह सहन करती हैं फिर भी धीरज रखती है और अपनी धुरी पर घुमती रहती है। लेकिन कब तक? आदर्शो के नाम पर स्त्री का शोषण किया जाता है। अपने घर परिवार के शोषण, अत्याचार की बात बताने वाली स्त्री को समाज अच्छा नहीं कहता। अपने अधिकारों की बात करने वाली स्त्रियों को भी समाज अच्छा नहीं मानता। समाज की यह मान्यता रही है- स्त्री देवी है या कुलच्छनी। जीवित इंसान कभी माना ही नहीं गया। जैसे वह हाड़ मांस की मानव नहीं आदर्श की पुतली है जो आदर्श के लिए जीती है और आदर्शो के लिए मर जाती है समाज से अपने सुख-दुख का हिसाब कैसे मांगे भला?[2]

परिचय

आत्मकथाकार सुशीला टाकभौरे ने लिखा है कि मध्यप्रदेश स्थित बानापुर गाँव में मेरा जन्म हुआ। जिसमें अधिकतर पिछड़ी जाति के लोग रहते थे। बचपन में पंडित जी ने मेरा नाम गोदावरी रखा था। एक पंडित ने मेरा नाम रेणुका रखा। लेकिन मेरे पिता मेरा नाम सुशीला रखा और यही नाम स्कूल कॉलेज से लेकर हर जगह चलता रहा। गाँव घर की जैसी मानसिकता रहती है कि लड़कियों को पराये घर जाना होता है, इसलिए उसे पढ़ाना लिखाना बेकार है। लेकिन मेरे माता-पिता इस मानयता के विरूद्ध थे, इस कारण दोनों ने मेरी पढ़ाई की भरसक अच्छी व्यवस्था की। इनका नाम जिस स्कूल में लिखाया गया, उसमें ब्राप्रण वर्ग के लड़के लड़कियाँ अधिक होती थी। शिक्षक उन्हें आगे बैठाते, सुशीला को पीछे बैठना पड़ता। समाज के अनेक महापुरूष छुआछुत का भेदभाव मिटाने का अभियान चला रहे थे लेकिन वह मिटता नहीं था। स्कूल में अनेक ऐसे अवसर आए जहाँ मुझे गरीब और दलित होने का एहसास होता रहा। समाज की स्थिति यह थी की मुझे और मेरे परिवार को हीन दृष्टि से देखा जाता। गाँव के ठाकुर ने स्त्री-पुरूषों को माँ-बहन की गाली देते हुए धमकाते रहते थे। मेरे मुहल्ले के अधिकतर स्त्री-पुरूष नगर परिषद के सफाई कर्मी थे। वे जब भी हड़ताल करते पुलिस वाले आकर तरह-तरह के हरकते करते। सुशीला टाकभौरे अनुसार-"हड़ताल के समय पुलिस वाले सिवनी के हमारे मोहल्ले में, घरों के आस-पास चक्कर लगाते थे। हमारे लोग डर कर छिप कर रहते। आदमी नहीं दिखने पर औरतों को बुलाया जाता। उन्हें रोज बुलाकर दिनभर थाने में बैठाकर रखते, गाली-गलौज करते उन्हें अपमानित करते, डराते, धमकाते, अपने आदमियों को समझाने के लिए कहते। डरी -सहमी औरतें रोती-कलपती, मानों हथियार डाल देती थी। वे हड़ताल तुड़वाने की बात करती। मैं उनकी बाते सुनतीं तब मुझे भी डर लगता था। कालीचरण भैया की पत्नी बुधिया भाभी बहुत दबंग थी। पुलिस वालों को देखकर वह जोर-जोर से गालियाँ देती इनकी ठठरी बेंध जाए, हमारे आदमियों से जले हैं, हमारी माँ-बहनों कों बुरी नजरों से देखे हैं क्या इनकी माँ बहन नहीं है।"[3]

अछुत होने का पीड़ा

आत्मकथाकार सुशीला टाकभौरे ने लिखा है कि हमारे मुहल्ले को सभी जानते थे कि यहाँ केवल अछूत लोग ही रहते है। कोई तांगा जब उस रास्ते से गुजरता और जगह खाली रहने पर वह सवारा बैठाने के लिए रोक देता तो उस पर उस तांगे में बैठे यात्री बिगड़कर बोलने लगते –"अरे भाई! क्या अन्धेर कर रहे हो? किसको हमारे साथ बैठा रहे हो? जरा सोच समझकर सवारी देखकर बैठाओं। नही तो कहो तो हम उतर जाते हैं।"[4]

विवाह

मेरा विवाह पेशे से शिक्षक 'सुन्दर लाल टाकभौरे' जी के साथ हिन्दू रीति–रिवाज से हुआ। वे आदर्श ज्ञान प्रकाश हाई स्कूल गाँधी बाग में शिक्षक थे। जब मैं उनके घर आयी तब वे अपनी माँ और बहनों की सेवा कराने के लिए मुझसे विवाह किये थे। उन्होंने कभी भी मेरा महत्व नहीं दिया। अपने दाम्पत्य जीवन की कटुता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा हैं–"समाज में पत्नी पर तरह–तरह के अत्याचार करना आम बात मानी जाती है। ये बातें समाज में इस तरह व्याप्त हैं कि लोग इन्हें बुरा भी नहीं मानतें। इन्हें मानों पति का अधिकार माना जाता है। छोटी–छोटी बातों पर अपनी नाराजगी बताना पति का गुण कहलाता, जैसे अपने इन्हीं गुणों से वह खुदार और दमदार पति माना जाता हो। ये बातें मेरे साथ भी हुई। खाना परोसने में देरी होने पर या किसी बात से नराज होने पर वे खाना नहीं खाते थे तब उन्हें घंटों मनाना पड़ता था। कभी–कभी वह स्पष्ट शब्दों में कहते थे– "मेरे पैरों पर अपना सिर रखकर मफी मांग, तब मैं तेरी बात मानूँगा।"[5]

उन्हें लगा मैं उम्र की कई पड़ाव से गुजरती रही। सबका अपना एक समय होता है कि किस उम्र में मुझे क्या करना है, लेकिन वह सब मुझे नसीब नहीं हुआ। उन्होंने अपने इन बीते जीवन को याद करते हुए लिखा है– "कैसे भूल पाउँगी वे दिन! पीड़ाओं में रोया मन, अनबुझा सा यौवन, सपनों का रूठा वह सावन, जो फिर भी लौटा ही नहीं चूर–चूर भावों के कण, बखरे रेगिस्तान से.... न कोई सलिला बही, न मनमौजों की मौज लिए आई कोई बहार ही। कैसे भूलूं मैं, बीते वे दिन। नागपुर के मेरे जावन की कथा भी क्या कम व्यथा पूर्ण है? कितनी कथाएं लिख चुकीं हूँ और न जाने कितनी बाकी है। कटु अनुभव, कड़ूवी अनुभूतियां, कलम की स्याही से उन्हें ही उकेरती रही हूँ, और आगे भी उकेरती रहुँगी।"[6]

निष्कर्ष

आत्मकथाकार सुशीला टाकभौरे के साथ घर –परिवार से लेकर समाज तक हमेशा प्रतिकूल स्थिति बनी रही। फिर भी वह शैक्षणिक जीवन की ओर लगातार अग्रसर होती रही। यही कारण है कि वह मैट्रिक इन्टर के बाद बी. ए. एम. ए. और पी–एच–डी तक की उपाधी प्राप्त कर ली। फिर कॉलेज प्राधानाध्यापक के रूप में भी नियुक्ति हुई। कुल मिलाकर उनका समग्र जीवन अपमानों से भरा रहा। उन्होंने दोहरा देश झेला। घर में

पति द्वारा उपेक्षित और पीड़ित रही, समाज में दलित होने के कारण पग–पग पर तिरस्कृत होकर जीवन यापन करती रही।

संदर्भ

1. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे - मनोगत
2. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौर, - मनोगत
3. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौर, - पृ.सं.-86
4. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौर - पृ. सं.-118
5. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौर - पृ. सं.-144
6. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौर - पृ. सं. -186

ग्रामीण समाज पर ग्रामीण नगरीय सातत्य के प्रभाव

जय प्रताप सिंह
****डॉ. अतुल कुमार यादव***
**शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, ए.के. (पी.जी.) कॉलेज, शिकोहाबाद।*
***एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, ए.के. (पी.जी.) कॉलेज, शिकोहाबाद।*
(सम्बद्ध डॉ. बी. आर. आंबेडकर विश्वविद्यालय, आगरा)

सार

भारत में ग्रामीण समाज और ग्रामीण नगरीय सातत्य के बीच की संवादित जीवन शैली का अध्ययन करना महत्वपूर्ण है। यह अध्ययन उस प्रकार के प्रभावों को समझने का प्रयास करता है जो ग्रामीण समाज की सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर ग्रामीण नगरीय सातत्य के प्रभाव से हो सकते हैं। ग्रामीण समाज में ग्रामीण नगरीय सातत्य के प्रभावों का अध्ययन करते समय आपको समाज के संबंधों, विविधता, और सांस्कृतिक परिपर्णता में होने वाले परिवर्तनों का पता चलता है। यह प्रक्रिया ग्रामीण जीवन शैली, आदिवासी संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था में पैदा होने वाले बदलावों की निगरानी करने में मदद करती है। इस अध्ययन के माध्यम से हम ग्रामीण समाज के संरचनात्मक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ग्रामीण नगरीय सातत्य के प्रभाव को समझ सकते हैं। यह हमें यह जानने में मदद करेगा कि कैसे समाज में बदलते परिप्रेक्ष्य में ग्रामीण जीवन शैली के असर को समझा जा सकता है और ग्रामीण समाज के उन घटकों को पहचानने में मदद करेगा जो ग्रामीण नगरीय सातत्य के अंदर एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार, "ग्रामीण समाज पर ग्रामीण नगरीय सातत्य के प्रभाव" का अध्ययन ग्रामीण समुदाय के विकास और समाजिक अध्ययन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है।

प्रस्तावना

ग्रामीण–शहरी सातत्य का विचार यह है कि ग्रामीण इलाकों और शहरों के बीच एक धुंधली रेखा कैसे है। यह विचार एक व्यक्ति द्वारा मेक्सिको के टैपोजुलेन नामक शहर के बारे में किए गए अध्ययन से आया है। उन्होंने पाया कि ग्रामीण क्षेत्रों और शहरी क्षेत्रों के बीच कोई स्पष्ट अंतर नहीं है। अध्ययन में कहा गया है कि क्योंकि शहर तेजी से बढ़ रहे हैं और उनमें दुकानें और इमारतें जैसी अधिक चीजें हैं, वे गांवों की तरह बनते जा रहे हैं।

समाजों का अध्ययन करने वाले कुछ लोग सोचते हैं कि शहरों में रहना और ग्रामीण इलाकों में रहना एक दूसरे से बहुत अलग है। वे इस बात पर गौर करते हैं कि लोगों के पास क्या नौकरियां हैं, जगह कैसी दिखती है, वहां कितने लोग रहते हैं और लोगों के लिए घूमना-फिरना कितना आसान है। उनका मानना है कि शहर में रहने और ग्रामीण इलाकों में रहने के बीच एक सीमा होती है, जहां लोगों को दोनों अनुभवों का मिश्रण मिल सकता है।

जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था बेहतर होती जाती है, अधिक से अधिक स्थानों का विकास और सुधार होना शुरू हो जाता है। लोग बड़े शहरों से छोटे शहरों की ओर जाते हैं, जो इस बात का प्रतीक बन जाता है कि शहर और ग्रामीण इलाके कैसे जुड़े हुए हैं। शहरों और कस्बों के बारे में सोचने का दूसरा तरीका यह है कि वे दोनों एक ही सभ्यता का हिस्सा हैं, इसलिए शहर और ग्रामीण इलाकों के बीच विभाजन वास्तव में मायने नहीं रखता है।

ग्रामीण नगरीय सातत्य का अर्थ

ग्रामीण-शहरी सातत्य यह दिखाने का एक तरीका है कि कैसे ग्रामीण और शहरी क्षेत्र भिन्न हो सकते हैं और कभी-कभी असहमति भी हो सकती है। इससे हमें यह पता लगाने में मदद मिलती है कि हम किस प्रकार के समुदाय में हैं और यह समय के साथ कैसे बदल सकता है। लोग यह समझने के लिए 1900 के दशक से इसका अध्ययन कर रहे हैं कि शहर कैसे तेजी से बढ़ रहे हैं और इसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है।

ग्रामीण इलाकों में जीवन एक छोटे, दूर-दराज के स्थान पर रहने जैसा है जहां हर कोई एक-दूसरे को जानता है और चीजें बहुत जल्दी नहीं बदलती हैं। यह कहना मुश्किल है कि गाँव कहाँ शुरू होता है या कहाँ रुकता है।

मैकक्लर का कहना है कि भले ही अभी भी विभिन्न प्रकार के समुदाय हैं, जिन्हें ग्रामीण और शहरी कहा जाता है, यह बताना हमेशा आसान नहीं होता है कि कौनसा समुदाय कौनसा है। यह बताने का कोई स्पष्ट तरीका नहीं है कि शहर कहाँ रुकता है और गाँव कहाँ शुरू होता है। प्रत्येक गाँव में कुछ चीजें होती हैं जो एक शहर की तरह होती हैं, और प्रत्येक शहर में कुछ चीजें होती हैं जो एक गाँव की तरह होती हैं।

ग्रामीण नगरीय सातत्य

भारत में, हम अक्सर ग्रामीण क्षेत्रों (खेतों और छोटे गांवों वाले स्थान) और शहरी क्षेत्रों (बहुत सारे लोगों और इमारतों वाले बड़े शहर) के बारे में इस तरह बात करते हैं जैसे कि वे एक-दूसरे से बहुत अलग हों। लेकिन वास्तव में, वे अलग-अलग समूह नहीं हैं। समाज का अध्ययन करने वाले कई विशेषज्ञों का कहना है कि लोगों को केवल ग्रामीण और शहरी में विभाजित करना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि उनके बीच कई

समानताएं हैं। हमारे अपने शहर में, हम देख सकते हैं कि जो लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं उनमें अभी भी शहरी क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के समान ही कुछ सांस्कृतिक गुण हैं। कुछ समाजशास्त्री तो यहां तक कहते हैं कि ग्रामीण और शहरी के बीच एक सतत दायरा बना रहता है, क्योंकि हर समुदाय में दोनों की विशेषताएं होती हैं। उनका तर्क है कि जहां शहर समाप्त होता है और गांव शुरू होता है, उसके बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं है। एक समाजशास्त्री ने मैक्सिकन किसानों का अध्ययन किया और पाया कि जैसे-जैसे कारखाने और आधुनिक सुविधाएं शुरू हुई, शहरों और गांवों के बीच अंतर मिटने लगा।

रामकृष्ण मुखर्जी (1974) ने पाया कि जब ग्रामीण क्षेत्रों से लोग शहर आते हैं, तो वे अपने ग्रामीण जीवन शैली के कुछ पहलुओं को अपने साथ लाते हैं। इसमें जाति व्यवस्था और विस्तारित परिवारों में रहना जैसी चीजें शामिल हैं। मुखर्जी का मानना है कि शहरीकरण को समझने से हमें यह समझने में मदद मिल सकती है कि ग्रामीण और शहरी क्षेत्र कैसे जुड़े हुए हैं। ओ.एम. लीच (1968) ने आगरा शहर का अध्ययन किया और पाया कि वहां भी गांवों की तरह जाति व्यवस्था है। राव (2001) ने कहा कि जहां गांवों और कस्बों में रिश्तेदारी और जाति व्यवस्था के संदर्भ में समानताएं हैं, वहीं उनके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को व्यवस्थित करने में भी कुछ अंतर हैं। प्रोफेसर वाई. सिंह (1973) ने तर्क दिया कि ग्रामीण और शहरी क्षेत्र जुड़े हुए हैं और ग्रामीण समाज में अभी भी शहरी समाज जैसी ही कुछ संरचनात्मक विशेषताएं हैं। इसका मतलब यह है कि ग्रामीण क्षेत्र शहरी क्षेत्रों से बिल्कुल अलग नहीं हैं।

ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों को अपनी जरूरत की चीजें पाने के लिए एक-दूसरे की जरूरत होती है। शहरों को भोजन, खेती जैसी चीजों के लिए ग्रामीण इलाकों की जरूरत है, और ऐसे लोगों की जरूरत है, जो हाथ से चीजें बनाने जैसे विशेष काम कर सकें। ग्रामीण क्षेत्रों को शिक्षा, मनोरंजक गतिविधियों और सरकार चलाने जैसी महत्वपूर्ण चीजों में मदद के लिए शहरों की आवश्यकता है।

ग्रामीण तथा नगरीय समाज में सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक परिवर्तन एक ऐसी चीज है जो आज हमारी दुनिया में बहुत घटित होती है। बहुत समय पहले लोग जिस तरह रहते थे उसकी तुलना में यह एक नई चीज है। लोग वास्तव में बहुत लंबे समय से अस्तित्व में हैं, लेकिन हमारा जीवन जीने का तरीका केवल कुछ हजार वर्षों से ही अस्तित्व में है। उन वर्षों में, चीजें वास्तव में तेजी से बदल रही हैं, खास कर पिछले 400 वर्षों में, और पिछले 100 वर्षों में भी चीजें और भी तेजी से बदल रही हैं। ऐसा लगता है कि पहले 50 वर्षों की तुलना में पिछले 50 वर्षों में सबसे अधिक परिवर्तन हुए हैं। और उन 50 वर्षों के भीतर पिछले 30 वर्षों में अधिक परिवर्तन हुए हैं। पिछले 20 वर्षों में दुनिया बहुत बदल गई है।

सामाजिक परिवर्तन एक सामान्य शब्द है जिसका उपयोग किसी भी ऐसे परिवर्तन के लिए किया जा सकता है जिसे किसी अन्य अवधारणा द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता है, जैसे कि आर्थिक या राजनीतिक परिवर्तन। इस व्यापक अर्थ को स्पष्ट करने के लिए समाजशास्त्रियों को कड़ी मेहनत करनी पड़ी है। अत: यह सामाजिक सिद्धांत के लिए ही महत्वपूर्ण है। अपने सबसे बुनियादी स्तर पर, सामाजिक परिवर्तन उन परिवर्तनों को संदर्भित करता है जो मायने रखते हैं–अर्थात, वे परिवर्तन जो समय के साथ किसी चीज या स्थिति की बुनियादी संरचना को बदल देते हैं। इसलिए, सामाजिक परिवर्तन में कुछ या सभी परिवर्तन शामिल नहीं होते हैं जो चीजों को मौलिक रूप से बदलते हैं। किसी परिवर्तन का बड़ापन इससे नहीं मापा जाता कि उसमें कितना परिवर्तन हुआ, बल्कि परिवर्तन की सीमा से मापा जाता है, इससे तो समाज का कितना बड़ा हिस्सा प्रभावित होता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक परिवर्तन के रूप में योग्य होने के लिए, परिवर्तन सीमित और दूरगामी दोनों होना चाहिए, जो समाज के एक बड़े हिस्से को प्रभावित करता हो।

सामाजिक परिवर्तन एक बड़ा शब्द है जिसका अर्थ है कि समाज में चीजें बदल रही हैं। इसे बेहतर ढंग से समझने के लिए लोग इन परिवर्तनों को विभिन्न श्रेणियों में बाँटने का प्रयास करते हैं। उन्हें इस आध ार पर समूहीकृत किया जा सकता है कि उनके कारण क्या हैं, वे समाज को कैसे प्रभावित करते हैं, या वे कितनी तेजी से घटित होते हैं। उदाहरण के लिए, एक प्रकार का परिवर्तन जिसे विकास कहा जाता है, वास्तव में लंबे समय में धीरे–धीरे होता है। यह विचार चार्ल्स डार्विन नामक वैज्ञानिक ने सोचा था। उन्होंने अध्ययन किया कि जीवित चीजें कई वर्षों या यहां तक कि हजारों वर्षों में कैसे बदलती हैं और अपने पर्यावरण के अनुकूल ढल जाती हैं। डार्विन का सिद्धांत कहता है कि केवल वे जीव ही समय के साथ जीवित रहेंगे जो अपने पर्यावरण के साथ अच्छी तरह से अनुकूलन कर सकते हैं। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि मनुष्य समुद्री जानवरों और भूमि स्तनधारियों से आए हैं, विभिन्न चरणों से गुजरते हुए जब तक हम वह इंसान नहीं बन गए जो हम आज हैं।

डार्विन के पास इस बारे में एक सिद्धांत था कि प्रकृति में चीजें कैसे बदलती हैं, और लोगों ने उनके विचारों का उपयोग इस बारे में बात करने के लिए करना शुरू कर दिया कि समाज में भी चीजें कैसे बदलती हैं। उन्होंने इसे सामाजिक डार्विन वाद कहा। उन्होंने कहा कि चीजों को बदलना और अनुकूलित करना महत्वपूण र्ा है। कभी–कभी, परिवर्तन बहुत तेजी से होता है, जैसे किसी क्रांति में। तभी प्रभारी लोगों की जगह दूसरे लोग ले लेते हैं जो काम को अलग तरीके से करना चाहते हैं। इसके कुछ उदाहरण फ्रांसीसी क्रांति और रूसी क्रांति हैं। लोग क्राँति शब्द का उपयोग अन्य बड़े परिवर्तनों के बारे में बात करने के लिए भी करते हैं, जैसे जब कारखानों में मशीनों का बहुत अधिक उपयोग होने लगा या जब हमने दूर के लोगों से बात करने के लिए फोन का उपयोग करना शुरू किया।

ग्रामीण विकास

भारत एक ऐसा देश है जहां अधिकतर लोग गांवों में रहते हैं। धन, समुदाय, संस्कृति, सरकार, धर्म और अच्छा होने जैसे विभिन्न क्षेत्रों में गांवों के अपने अद्वितीय गुण हैं। लेकिन अगर हम उन समस्याओं को ठीक

करने का कोई रास्ता नहीं खोजते हैं जिनका सामना गांवों में कई लोग करते हैं, तो हमारा देश हर किसी की देख-भाल उस तरह नहीं कर पाएगा जैसा उसे करना चाहिए। इसीलिए, स्वतंत्र होने के तुरंत बाद, हमें एहसास हुआ कि हमें पढ़ने में सक्षम न होने, गरीब होने, नौकरी न होने, अच्छे खेत न होने और ग्रामीण समुदायों में नए विचारों के लिए खुले न होने जैसी समस्याओं से निपटने के लिए एक बड़ी योजना की आवश्यकता है।

भारत में ग्रामीण क्षेत्रों को बेहतर बनाने में मदद करने के लिए, उन्हें खेती में सुधार करने, लोगों के जीवन को बेहतर बनाने, किसानों को फसलें उगाने के लिए जमीन देने और यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता थी कि सभी को अच्छा स्वास्थ्य और शिक्षा मिले। उन्होंने 1948 में भारत में दो स्थानों पर एक कार्यक्रम शुरू किया और जब यह सफल रहा, तो संयुक्त राज्य अमेरिका धन से मदद करने के लिए सहमत हो गया। उन्होंने इस कार्यक्रम को सामुदायिक विकास योजना कहा और इसकी शुरुआत 1952 में हुई। उन्होंने खेती पर ध्यान केंद्रित किया और किसानों को भूमि, धन और ज्ञान जैसी चीजों से मदद की। उन्होंने चीजों को बेहतर बनाने के लिए समूहों के साथ मिलकर भी काम किया।

नगरीय विकास या कल्याण

शहरों के बड़े होने की तेज प्रक्रिया ने हमारे समाज में बहुत कुछ बदल दिया है। इसने प्रभावित किया है कि हम कैसे रहते हैं, हम कैसे पैसा कमाते हैं और हम एक-दूसरे के साथ कैसे बातचीत करते हैं। कुछ चीजें बेहतर हो गई हैं, जैसे चीजों को करने के अधिक आधुनिक तरीके अपनाना। लेकिन इससे लोगों के रहने के लिए पर्याप्त जगह न होना और पानी तथा स्वास्थ्य देखभाल जैसे पर्याप्त संसाधन न होना जैसी समस्याएं भी पैदा हुई हैं। लोग अलग-अलग तरीकों से इन समस्याओं को सुलझाने की कोशिश कर रहे हैं। लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि शहर में हर किसी के पास एक अच्छा जीवन जीने और एक-दूसरे के साथ रहने के लिए आवश्यक चीजें हों। शहरीकरण काफी समय से हो रहा है और इसका मतलब है कि अधिक से अधिक लोग ग्रामीण क्षेत्रों के बजाय शहरों में रह रहे हैं। यह औद्योगीकरण से जुड़ा है। जिसका अर्थ है शहरों में अधिक कारखाने और नौकरियां, लेकिन इसका मतलब यह भी है कि ग्रामीण इलाकों में कम लोग रह रहे हैं।

नगरीकरण की चुनौतिया

जब अधिक से अधिक लोग शहरों की ओर रुख करते हैं, तो इसके साथ बहुत सारी समस्याएं भी आती हैं। इनमें से कुछ समस्याओं में वे क्षेत्र शामिल हैं जहां लोग बहुत खराब परिस्थितियों में रहते हैं, जैसे मलिन बस्तियां। स्थान गंदे और साफ-सुथरे नहीं हो सकते हैं, जिससे लोग बीमार हो सकते हैं। हवा और पानी में भी काफी प्रदूषण हो सकता है। रहने के लिए जगह ढूंढना कठिन हो सकता है, और कभी-कभी लोगों को पानी, बिजली, परिवहन, या चिकित्सा सहायता जैसी चीजों तक पहुंच नहीं होती है। ये सभी चुनौतियाँ हैं जिनका सामना भारत को शहरीकरण के कारण करना पड़ता है।

आवास का आभाव लोगों के लिए आवास वास्तव में महत्वपूर्ण है। लोगों को अच्छा जीवन जीने के लिए जिन चीजों की आवश्यकता होती है, उनके मामले में यह भोजन और कपड़ों के ठीक बाद आता है। आवास का लक्ष्य लोगों को घर उपलब्ध कराना और उनके जीवन को बेहतर बनाना है, खासकर जब बात उनके स्वास्थ्य, स्वच्छता और शिक्षा की हो। आवास लोगों को नौकरियां पैदा करने और पैसा कमाने के अन्य तरीकों में भी मदद करता है। दुर्भाग्य से, आवास को लेकर बहुत सारी समस्याएं हैं। शहरों में पर्याप्त घर नहीं हैं, और जो हैं वे अक्सर खराब स्थिति में होते हैं और बहुत भीड़-भाड़ वाले होते हैं। इससे ऊंची कीमतें, मलिन बस्तियां और खराब रहने की स्थिति जैसी कई समस्याएं पैदा होती हैं। इन समस्याओं का कारण बहुत अधिक लोग, पर्याप्त पैसा न होना और बहुत अधिक गरीबी जैसी चीजें हैं। इन समस्याओं को ठीक करने के लिए हमें आवास में निवेश करने की आवश्यकता है। इसका मतलब है अधिक घर बनाना, हमें आवश्यक सामग्री और धन प्राप्त करना, और यह सुनिश्चित करना कि हर किसी को पानी और बिजली जैसी बुनियादी सेवाओं तक पहुंच हो। सरकार को यह सुनिश्चित करके इसमें मदद करनी चाहिए कि आवास के लिए पर्याप्त भूमि हो और यह सुनिश्चित किया जाए कि सभी के साथ उचित व्यवहार किया जाए। हमें यह भी सुनिश्चित करना होगा कि गरीब लोग घर खरीद और बना सकें। ऐसा सस्ती निर्माण सामग्री बना कर और ऐसे नियम बनाकर किया जा सकता है जो कहते हैं कि हर किसी के पास रहने के लिए एक अच्छी जगह होनी चाहिए।

मलिन बस्तियां दुनिया भर के कई शहरों में मलिन बस्तियाँ पाई जाती हैं। विकासशील देशों में, मलिन बस्तियाँ वे स्थान हैं जहाँ इमारतों और घरों की योजना अच्छी तरह से नहीं बनाई जाती है। विकसित देशों में मलिन बस्तियाँ दर्शाती हैं कि लोग अब अच्छी परिस्थितियों में नहीं रह रहे हैं। संयुक्तराष्ट्र का कहना है कि मलिन बस्तियाँ वे स्थान हैं जहाँ छोटे घरों में बहुत सारे लोग रहते हैं और वहाँ पर्याप्त सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाएँ नहीं हैं। मलिन बस्तियों में लोग भीड़-भाड़ और गन्दी परिस्थितियों में रहते हैं और वहाँ स्वास्थ्य देखभाल, साफ पानी या शौचालय जैसी पर्याप्त चीजें नहीं होती हैं। इसके कारण झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले लोग न तो अपना जीवन सुधार सकते हैं और न ही अपने समुदाय का हिस्सा बन सकते हैं। मलिन बस्तियाँ होने का मुख्य कारण पैसा है। जिन लोगों के पास ज्यादा पैसा नहीं है वे झुग्गियों में रहते हैं। मलिन बस्तियों में सभी के लिए पर्याप्त घर नहीं होते हैं और स्वच्छ पानी, हवा या शौचालय जैसी पर्याप्त चीजें नहीं होती हैं। मलिन बस्तियों के आस-पास का क्षेत्र गंदा और अस्वस्थ है। इससे तपेदिक और अस्थमा जैसी गंभीर बीमारियाँ हो सकती हैं। मलिन बस्तियाँ नशीली दवाओं की लत और अपराध जैसी बुरी घटनाओं को भी जन्म दे सकती हैं। मलिन बस्तियों के बदतर होने का कारण पर्याप्त शिक्षा या नौकरियाँ न होना, अधिक लोगों का इधर-उधर घूमना, मकान मालिकों द्वारा अपनी संपत्तियों की देखभाल न करना या प्राकृतिक आपदाएँ हैं। मलिन बस्तियों का समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इनके कारण परिवार टूट सकते हैं, लोग अस्वस्थ हो सकते हैं और देश विभाजित हो सकते हैं। हमें मलिन बस्तियों को कम करने और वहां रहने वाले लोगों के जीवन को बेहतर बनाने की जरूरत है। इसका मतलब है जनसंख्या को नियंत्रित करना, अधिक नौकरियाँ पैदा करना और रहने की स्थिति में सुधार करना। इन चीजों को करके हम मलिन बस्तियों से छुटकारा पा सकते हैं और शहरों की बेहतर योजना बना सकते हैं।

नगरीय सुविधाओं का भार शहरों और कस्बों के लिए साफ पानी, शौचालय, बिजली, खेलने के लिए पार्क और कचरा फेंकने के लिए जगह जैसी चीजें होना महत्वपूर्ण है। ये चीजें उन लोगों द्वारा प्रदान और देखभाल की जाती हैं जो शहर या कस्बे के लिए काम करते हैं। लेकिन कई बार ये चीजें बहुत अच्छी नहीं होतीं। ऐसा इसलिए है क्योंकि कुछ इमारतें पुरानी हैं और बहुत अच्छी स्थिति में नहीं हैं। इसके अलावा, कुछ मोहल्लों में अच्छी सड़कें, नालियाँ या रोशनी नहीं हैं। और वहां पर्याप्त सार्वजनिक स्नानघर, खेल खेलने के लिए पार्क या लोगों के घूमने-फिरने के अच्छे रास्ते नहीं हैं। यह बड़े शहरों और छोटे शहरों में समान रूप से एक समस्या है।

यातायात की अव्यवस्थित वृद्धि यातायात की भीड़ तब होती है जब शहर जैसी छोटी जगह में बहुत अधिक कारें और लोग होते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वहां बहुत सारे लोग होते हैं और उन सभी और उनकी कारों के लिए पर्याप्त जगह नहीं होती है। पिछले 20 वर्षों में यह और भी बदतर हो गया है क्योंकि यातायात में मदद के लिए कोई अच्छी योजना नहीं बनाई गई है। जब हम योजना बनाते हैं कि भूमि का उपयोग कैसे किया जाए और लोग कैसे आ-जा सकें, तो हम यातायात को बेहतर बना सकते हैं

ग्रामीण क्षेत्रों में परिवर्तन

चूँकि प्रत्येक गाँव अलग है, उनके काम करने और बदलने का अपना तरीका है। गाँव आम तौर पर छोटे होते हैं, इसलिए लोग एक-दूसरे को अच्छी तरह से जानते हैं। वे आमतौर पर काम करने के पुराने तरीकों का पालन करते हैं, जैसे उनकी मान्यताएं, रीति-रिवाज और परंपराएं। इसीलिए शहरों की तुलना में गाँवों में परिवर्तन अधिक धीरे-धीरे होता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में, लोगों को विभिन्न कारणों से खुद को अभिव्यक्त करने में कठिनाई होती है। इन जगहों पर, हर कोई एक-दूसरे को जानता है, इसलिए किसी के लिए परेशानी में पड़े बिना समुदाय से असहमत होना कठिन है। जो लोग प्रभारी हैं उनके पास अधिक शक्ति है क्योंकि वे नौकरियों और संसाधनों को नियंत्रित करते हैं। इससे ऐसा होता है कि गरीब लोगों को समर्थन के लिए शक्तिशाली लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है। परिवर्तन लाने के लिए बहुत सारे लोगों को एक साथ लाना भी कठिन है क्योंकि इसे गुप्त नहीं रखा जा सकता है और शक्तिशाली लोग इसे रोक देंगे। इसलिए मूल रूप से, यदि किसी गाँव में पहले से ही एक मजबूत बिजली संरचना है, तो इसे बदलना वास्तव में कठिन है। ग्रामीण इलाकों में चीजें बदलने में और भी अधिक समय लगता है क्योंकि वहां की सामाजिक व्यवस्था अधिक मजबूत और स्थिर है।

ग्रामीण क्षेत्रों में बदलाव में समय लगता है क्योंकि गाँव बाकी दुनिया से वैसे नहीं जुड़े होते जैसे शहर और कस्बे जुड़े होते हैं। हालाँकि, टेलीफोन और टेलीविजन जैसी नई तकनीकों ने इस अंतर को पाटने में मदद की है और शहरों की तुलना में गांवों को सांस्कृतिक रूप से कम पिछड़ा बना दिया है। सड़कों और रेलवे जैसे बेहतर परिवहन ने भी कम गांवों को अलग-थलग और पीछे रहने में मदद की है। इसने समग्र रूप से समाज को अधिक गतिशील बना दिया है।

जिस तरह से कृषि की जाती थी और किसान एक-दूसरे के साथ कैसे बातचीत करते थे, उसका ग्रामीण समुदायों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। एक महत्वपूर्ण परिवर्तन तब हुआ जब अमीर जमींदारों के बजाय जमीन की देखभाल करने वाले और उस पर फसल उगाने वाले लोगों को मालिकाना हक दिया गया। ये नए जमींदार आमतौर पर समाज के बीच के समूहों से थे, भले ही वे स्वयं किसान नहीं थे। इससे उन्हें अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति मिली क्योंकि राजनेताओं को चुनाव जीतने के लिए उनके वोटों की आवश्यकता थी। इन समूहों को प्रमुख जातियाँ कहा जाता था और वे अपने गाँवों में बहुत प्रभावशाली हो गए। लेकिन अब, कुछ स्थानों पर, निचली जातियाँ भी अधिक शक्तिशाली हो रही हैं और आंध्रप्रदेश, बिहार, उत्तरप्रदेश और तमिलनाडु जैसे राज्यों में सामाजिक आंदोलनों का नेतृत्व कर रही हैं।

किसानों द्वारा भोजन उगाने के तरीके में बदलाव का ग्रामीण समुदायों पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। नई मशीनें काम को आसान और तेज बनाती हैं, इसलिए मदद के लिए कम लोगों की आवश्यकता होती है। इससे यह बदल सकता है कि विभिन्न समूहों के लोगों के पास कितना पैसा है और अन्य परिवर्तन भी हो सकते हैं। कभी-कभी कीमतों में बड़े बदलाव या खराब मौसम जैसी बुरी चीजें ग्रामीण समुदायों में समस्याएं पैदा कर सकती हैं। हमने इसे भारत में देखा जब कई किसानों ने आत्महत्या कर ली क्योंकि चीजें वास्तव में कठिन हो गई थीं। लेकिन कभी-कभी अच्छी चीजें भी होती हैं, जैसे जब सरकार ग्रामीण इलाकों में गरीब लोगों को काम ढूंढने में मदद करती है। इसका एक उदाहरण 2005 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम है।

निष्कर्ष

ग्रामीण-शहरी सातत्य एक रेखा की तरह है जो दर्शाती है कि शहरों और ग्रामीण इलाकों में लोग और समुदाय कैसे संगठित हैं। जैसे-जैसे शहर बढ़ते हैं और ग्रामीण इलाकों के पास नए उद्योग बनते हैं, इससे ग्रामीण इलाकों में लोगों के रहने का तरीका बदल गया है। देश में लोगों का रहने का तरीका शहर में रहने के तरीके जैसा होता जा रहा है। अब, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच अंतर बताना कठिन है क्योंकि वे एक साथ मिश्रित हो रहे हैं।

भारत ने पिछले 30 वर्षों में परिवहन और संचार में काफी प्रगति की है। अब, दूरदराज के इलाकों में भी लोग आसानी से यात्रा और संचार कर सकते हैं। इससे ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों के लिए काम के लिए शहरों में आना आसान हो गया है। हमने जाना कि कैसे शहर विकसित हुए हैं और लोगों के जीवन का एक बड़ा हिस्सा बन गए हैं। हमने यह भी देखा कि समय के साथ शहर कैसे बदल गए हैं, प्राचीन काल से लेकर जब भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था। हमने इस बारे में बात की कि शहर और ग्रामीण क्षेत्र कैसे जुड़े हुए हैं और वे एक-दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं। अंत में, हमने उन कुछ समस्याओं के बारे में बात की जिनका सामना भारत के शहर करते हैं।

सन्दर्भ

1. वसन्त, पी. के. (2017) शहरी इतिहास क्या है? भारत में शहरीकरण में (MHI-10), इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
2. भारत की जनगणना, 2001
3. मैकल्वर, आर. एम. (1931), समाज: इसका बनावट और परिवर्तन आर, लाँग और आर, आर स्मिथ, शामिल
4. मुखर्जी, आर. (1974) शहरीकरण और सामाजिक परिवर्तन भारत में शहरी सामाजिक विज्ञान, नई दिल्ली: ओरिएन्ट लाँगमैन, 241-250.
5. राव, एम.एस.ए. (लिखित) (1991), शहरी सामाजिक विज्ञान में एक पढने वाला, ओरिएन्ट लाँगमैन, नई दिल्ली
6. राव, एम.एस.ए. (लिखित.) (1974), भारत में शहरी सामाजिक विज्ञान. ओरिएन्ट लाँगमैन, नई दिल्ली
7. अहमद रफीउद्दीन मिर्जा, समाज कार्य दर्शन एवं प्रणालियां, शाइनिंग प्रेस लखनऊ, 2004
8. सिंह, सुरेन्द्र, पी.डी. मिश्र, समाजकार्य: इतिहास, दर्शन एवं प्रणालियां, न्यूरॉयल बुक कम्पनी लखनऊ, 2010
9. मदन जी.आर., अमित अग्रवाल, परिवर्तन एवं विकास का समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन दिल्ली, 2012
10. चौहान, बी.आर, 1988, भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र, इटावा: ए.सी. ब्रदर्स

डॉ० विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंध में मानव मूल्य

डॉ० अरुण कुमार मिश्र
असि०प्रो०, हिन्दी
एम०डी०पी०जी० कॉलेज, प्रतापगढ़

सारांश

मानवीय हृदय की अनुभूतियों को उद्घाटित करने वाला निबंध ललित निबंध है, जिसमें लालित्यपूर्ण, सम्वेदनशीलता से परिपूर्ण भाषा का चयन करते है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंधों में मानवीय मूल्यों और संवेदनाओं का समग्र रूप से परिपाक मिलता है।

सन्दर्भ (Referance) : 15

संकेत शब्द (Key Words) - रमणीयता, मूल्यहीनता, सम्प्रत्यय, परम्पराओं, मान्यताओं आदि।

डॉ० विद्यानिवास मिश्र के कुल मिलाकर छब्बीस निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिसमें से 'छितवन की छाँह', 'कदम्ब की फूली डाल', 'तुम चन्दन हम पानी', 'मोर का आवाहन', 'अंगद की नियति', 'अस्मिता के लिए, 'अग्निस्थ 'भ्रमरान्द के पत्र', 'संचारिणी', 'गाँव का मन', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है,' 'लागौरंग हरि: श्याम रसायन, भारतीय की पहचान', 'परंपरा बन्धन नहीं', 'कँटीले तारों के आर-पार, 'आंगन का पंछी और बनजारा मन' आदि प्रमुख हैं।

ललित निबंध भारतेंदु युग में शैशवावस्था में दिखाई देता था, द्विवेदी तथा शुक्ल युग में इसका परिष्कार होता चला गया। शुक्लोत्तर युग में तो इसके स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन दिखाई पड़ने लगता है। यदि हम वर्तमान युग की बात करें तो ललित निबंध साहित्य अपने विकास की चरम अवस्था पर अवस्थित है। बालमुकुंद गुप्त से लेकर विद्यानिवास मिश्र तथा कुबेर राय तक ललित निबंध की यात्रा पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि ललित निबंध का क्षेत्र विचारों की व्यापकता को समेटने में समर्थ है, जिसमें विचारों के साथ भावों की सुगंध भी समाहित है, क्योंकि इस विधा में गद्य की कठोरता के साथ-साथ पद्य की रमणीयता भी सन्निहित होती है।

आधुनिक कहलाने वाला मनुष्य परंपरा को प्रगति में बाधक के रूप में स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में परंपरा का पालन करना केवल ढकोसला ही है। परंपराओं से आबद्ध रहने वाले जीवन मूल्यों के प्रति वह

नकारात्मक दृष्टिकोण रखता है। जीवन मूल्यों को बंधन समझकर वह उन्हें अस्वीकार कर देता है और जब कभी उसे मूल्य तथा परंपराओं को मानने वाले लोगों के साथ रहना पड़ता है तो वह उनके मध्य अपनी एक अलग पहचान बनाने का प्रयास करता है। इस अर्थ में वह अपने को व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र मानता है और अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की वकालत करता है। इस प्रकार वह पारंपरिक समाज में जीने वाले प्रत्येक व्यक्ति से अपने आपको अलग मानता है और उसी प्रकार का व्यवहार भी करता है। पीटर बर्जर शब्दों में– "आधुनिक समाज– व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कुछ ऐसी गारंटी करता है कि इस समाज में जीनेवाला आधुनिक व्यक्ति अपने–आपको पारंपरिक समाज में जीने वाले लोगों से अलग समझता है। आधुनिक व्यक्ति, जो सामाजिक भूमिकाओं एवं संस्थाओं की पारंपरिक संरचनाओं से अपने आपको मुक्त कर चुका है, एक नग्न व्यक्तित्व की तरह होता है जो संस्थागत भूमिकाओं से स्वतंत्र है।"[1]

डॉ० विद्यानिवास मिश्र आधुनिकता के नाम पर लोगों के भीतर पनप रही मूल्यहीनता को लेकर अत्यधिक चिंतित होते हैं। वे किसी भी तथ्य अथवा वस्तु को जांच करने के बाद ही ग्रहण किए जाने के पक्षधर हैं। वह परंपरा में निहित मूल्यों को संरक्षित रखे जाने के भी बिंल पक्षधर हैं। उनकी दृष्टि में मूल्य विहीन विकास सुदृढ़ जीवन दृष्टि को नष्ट कर देता है। आधुनिकता के आवेग में मूल्यहीनता करने वाले लोगों पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं– "प्राय: लोगों को लगता है कि आधुनिकता का अर्थ है– मूल्यहीनता। इस हद तक तो यह बात सही है कि आधुनिकता किसी माने जाने मूल्य की हीनता पहचान लेती है और ऐसे हीन मूल्य के फ़रेब से छूटना चाहती है। स्व० धूमिल के शब्दों में 'आज किसी भी स्तर पर आदमी जीवित रहना चाहता है और इसके लिए वह प्रयत्नशील है। यह मूल्यहीनता नहीं है, केवल स्वीकृत मूल्यों से इसका तालमेल नहीं बैठ पा रहा। खड़ा रह सकने के लिए वह भाग रहा है और यह तथ्य अब आम हो गया है कि आज का आदमी अपने वातावरण से पलायन नहीं कर रहा, बल्कि अपने वातावरण के साथ पलायन कर रहा है।' दी हुई किसी भी वस्तु को अपने देशकाल में रखकर उसकी मूल्यवत्ता नये सिरे से जाँचना ही आधुनिकता की पहली शर्त है। इस जाँच के दौरान दी हुई वस्तु को तोड़ा भी जा सकता है, उससे कुछ लेकर नयी आवश्यकता में साथ जोड़ा भी जा सकता है, उसे एकदम छोड़ा जा सकता है, उसे पूरा का पूरा ओढ़ा जा सकता है, पर जाँच के बाद। हाँ, इसके साथ एक और शर्त है, यह जाँच खुद की जानी चाहिए, हर आदमी को अपनी अस्ती में टँकी परिस्थिति के अनुसार जांच करनी चाहिए। पर इसका मतलब यह न लगाया जाना चाहिए कि इस प्रक्रिया में समाज का ध्यान छूट जाता है, मैं तो कहूंगा इसके ठीक उल्टे सामाजिक परिवेश की संवेदना के बिना तो जांच ही नकली होगी।"[2]

आधुनिकता के कारण हो रही मूल्यहीनता को और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ० विद्यानिवास मिश्र उद्धृत करते हैं– "मध्ययुग के सन्त अपने समय के कम आधुनिक नहीं थे, जिन्होंने पुराने जीवमूल्यों की गुदड़ी फेंक दी, दिगम्बर हो गये और स्तर–भेदों वाले समाज को चुनौती दी 'तू मोकों तोरै मैं तोकूँ ना तोरू' – तू मुझे तोड़े तो तोड़े, मैं तुझे नहीं तोडूंगा। इस खण्ड–खण्ड हुए तुझको मैं जोड़कर अखण्ड बनाऊँगा। विश्वयुद्ध की काली छाया में जीनेवाला ब्रेख्त जब कहता है मैं बेहद मनहूस ज़माने में जी रहा हूँ, नफ़रत आदमी को तोड़ रही है तो वह आधुनिकता की संवेदना से संविद्ध है।"[3]

यह तथ्य उल्लेख्य है कि आधुनिकता के प्रत्यय ने न सिर्फ जीवन मूल्यों को प्रभावित किया है अपितु इसने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी मानव जीवन से जुड़ें क्षेत्रों पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है। आधुनिकता के अंतर्गत सुविधा संपन्नता का भाव भी प्रकट होता है। किंतु परिस्थितियां इसके विपरीत भी हो सकती हैं, क्योंकि आधुनिकता ने जितने सुविधा संपन्न प्रभाव छोड़ें उससे कहीं अधिक जटिलताओं को भी जन्म दिया है। मानव जीवन में नित्य निरंतर बढ़ रही सुख सुविधाओं के कारण एक तरु उसका जीवन तो आसान हो गया किंतु उसकी जीवन पद्धति और भी जटिल तथा क्लिष्ट बन गई। नगरीकरण के परिणाम स्वरूप बड़े-बड़े शहरों का उदय हुआ और अनेकों वैज्ञानिक सुख-सुविधाओं के द्वारा उत्पन्न हो रहे प्रदूषण के कारण मानव जीवन में घुल रहे जहर ने उसकी जीवनक्रिया को तहस-नहस कर दिया है। आधुनिकता के प्रभाव की भयावहता का चित्रण करते हुए प्रमोद तलगेरि ने कहा है कि- "उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विज्ञान एवं तकनीक में होने वाली प्रगति ने यूरोप के सामाजिक ढाँचे को पूरी तरह बदल दिया। कृषि समाज का स्थान नगरीय औद्योगिक समाज ने ले लिया। नगरीकरण की इस तीव्र प्रक्रिया के फलस्वरूप बड़े शहरों का जन्म हुआ और इसके साथ सामाजिक व्यवहार में बहुत परिवर्तन आया। नई शहरी संस्थाओं का निर्माण हुआ, जैसे ऑफिस, बैंक, रेल यातायात, बीमा कंपनियाँ उद्योगशालाएँ, शेयर बाजार, अधिकारी तंत्र। स्वचालित वाहनों एवं बहुमंजिली इमारतों का निर्माण शुरू हो गया। संयुक्त परिवार टूट गए। जीविका की तलाश में लोग शहरों के सुसंगठित उद्योगों की तरु आने लगे। अब लोग छोटे फ्लैटों में रहते थे और फैक्ट्री या ऑफिस में काम करते थे। मानव व्यवहार औद्योगिक अनुशासन से नियंत्रित होने लगा जिससे जीवन में एक यांत्रिक नियमितता आ गई। शहरों का जीवन अधिक उन्मुक्त एवं अरुढ़िवादी किंतु गुमनाम हो गया।"[4]

डॉ० प्रमोद तलगेरि के कथन के आलोक में यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के कारण उत्पन्न हुई औद्योगिक क्रांति ने आधुनिकता के प्रत्यय को बल प्रदान किया और समाज में तथा इसके स्वरूप में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि गांव छिन्न भिन्न होते चले गए और नए नए शहरों का उदय होता गया। यहां तक की रोजी रोटी की व्यवस्था में ग्रामीण जन शहरों में जाकर बसने लगे जहां उनकी स्थिति चिंतनीय बनी रही। नगरों में बनी हुई बड़ी-बड़ी बहुमंजिला इमारतों की चकाचौंध में वे ऐसे चकराए कि गांव वापस आना उनके लिए असंभव सा हो गया। डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने भी किसी प्रकार की स्थिति का उल्लेख करते हुए आधुनिकता के दुष्प्रभाव को चित्रांकित किया है- "हमारे जमाने में वर्तमान को जीना कुछ अधिक कठिन हो गया है, क्योंकि वर्तमान कुछ अधिक दुस्सह हो गया है, उस धुंधले कोहरे की तरह जो आदमी की मंज़िल पर पहुँचने की जल्दी के कारण आदमी द्वारा परिचालित मोटर गाड़ियों की कतारों से निकली हुई दूषित हवा के घोल से गाढ़ा और कड़वा हो गया हो। इसलिए बहुत जल्दी आदमी इस वर्तमान से भाग कर शरण लेता है वर्तमान की चर्चा में जैसे वर्त्तमान घटित हो चुका हो या फिर वह दूसरे का वर्तमान तलाशता है, कहीं वह अधिक सह्य हो, पर दूसरे का वर्त्तमान और जल्दी दुस्सह हो जाता है। इसी से आप देखेंगे कि दिल्ली, बम्ब ई और अब तो सोये-अधसोये छोटे नगरों और कस्बों में ऐसे मॉड का फैशन आ जाता है, जिसकी कोई संगति आसपास की जिन्दगी से नहीं होती और उससे भी इतने जल्दी ऊब होती है कि दूसरा मॉड बनने का नुस्खा (गाँजे की दम हो या अमरीकी कीर्त्तनिया ढोल पर झूमने का भाव हो या विदेशी पर्यटकों द्वारा मॉड होने के नशे में गले में डाली हुई रुद्राक्षमाला हो) आजमाया जाता

है। ऐसे भटकाव को मैं आधुनिकता मानने को तैयार नहीं। आधुनिकता को मैं एक निरन्तर सजगता मानता हूँ, एक शाश्वत विद्धता मानता हूँ। यह सजगता अपने परिवेश के प्रति होती है, अपने समाज के प्रति होती है, समाज के गन्तव्य के प्रति होती है, समाज द्वारा तै की गयी राह के प्रति होती है, अपनी क्षमता और अक्षमता के प्रति होती है।"[5]

एक बात तो स्पष्ट रूप से स्वीकार की जा सकती है कि आधुनिकता के संप्रत्यय ने परंपराओं, मान्यताओं, कुरीतियों तथा कुप्रथाओं के बंधन को शिथिल किया है। इसने न केवल पारंपरिक सामाजिक ढांचे को परिवर्तित किया है अपितु उसके तर्कहीन धारणाओं यहां तक की धार्मिक आस्थाओं पर भी गहरी चोट की है। वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर इसने ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा किया है और ईश्वरीय शक्ति के द्वारा होने वाले चमत्कारों तथा रहस्यों के व्याख्यापन का प्रयास किया है। तर्क के आधार पर ही अंधविश्वास तथा कुरीतियों से पर्दा उठा है। अत: कहा जा सकता है कि तर्कशीलता ही आधुनिकता का आधार बिंदु है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि आधुनिकता के प्रभाव के कारण ही हमारी पारंपरिक संस्कृति कहीं न कहीं पीछे अवश्य जा चुकी है। इन सभी परिस्थितियो के बावजूद आधुनिकता के कुछ सकारात्मक पक्ष भी हैं। आधुनिकता के परिणामस्वरूप ही नवीन दृष्टि का विकास हुआ है और राष्ट्र की शक्ति को और अधिक बढ़ाने के उद्देश्य से तमाम प्रयास भी किए गए हैं, जिसमें राष्ट्र की रक्षा के लिए अत्याधुनिक तकनीकी के उपयोग को महत्व दिया गया है। आज भारतीय सेना अत्याधुनिक हथियारों से लैस हो चुकी है। यहां तक कि परमाणु बम के आविष्कार ने इसमें चार चांद लगा दी है। आधुनिक कंप्यूटरों के द्वारा रक्षा के क्षेत्र से जुड़े हुए तमाम तथ्यों का विश्लेषण करने के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में भी उसके उपयोग पर ध्यान दिया जा रहा है, जिसके कारण जीवन का प्रत्येक क्षेत्र विकसित हो रहा है। यद्यपि अत्यधिक जटिल सामाजिक संरचना होने के कारण भारतीय समाज में आधुनिकता के प्रभाव का समुचित मूल्यांकन किया जाना एक दुष्कर कार्य है, तथापि इतना तो अवश्य ही स्पष्ट किया जा सकता है कि भारतीय समाज ने आधुनिकता के सारे उपकरणों को अपनी जीवन पद्धति में समाहित करके सुख एवं सुविधा संपन्न जीवन व्यतीत करना प्रारंभ अवश्य कर दिया है। दुर्भाग्य से यह तथ्य भी सत्य है कि भारतीय समाज संपूर्ण आधुनिकता को आज भी ग्रहण नहीं कर सका है। इस समाज में आज भी अंधविश्वास, कुरीतियां, कुप्रथाएं आदि सभी विसंगतियां विद्यमान हैं। आज भी भारतीय समाज दो वर्गों में विभक्त है जिसमें प्रथम वर्ग परंपरा के साथ जीने वाला वर्ग है तो दूसरी तरफ परंपरा से मुक्त होकर जीने वाला समाज है। पारंपरिक समाज- एक ऐसा समाज होता है जिसमें परंपरा से चले आ रहे सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं एवं विचारों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पारंपरिक समाज के लोग पुरानी पद्धति में किसी तरह के परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं समझते और न ही कल्पना कर सकते हैं। उनकी समस्त जीवन पद्धति पुरानी प्रथाओं के अनुसार ही संचालित होती है। इसमें व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं होता। उदाहरण के लिए भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था तथा उसके संगठन को ही लिया जा सकता है। वहीं इसके विपरीत परंपरा से मुक्त जो आधुनिक समाज है, वह पुरानी मान्यताओं, प्रथाओं एवं नियमों का अपने लाभ अथवा हानि के संदर्भ में ग्रहण अथवा त्याग करता है। आधुनिक व्यक्ति स्वतंत्र रूप से निर्णय करने के लिए स्वतंत्र होता है एवं उसकी अपनी एक जीवन-शैली होती है। पारंपरिक बंधनों से मुक्त होकर अपनी जीवन शैली में परिवर्तन कर सकता है। वस्तुत: आधुनिकता के अंतर्गत पारंपरिक एवं नवीन दोनों प्रकार

के मूल्य समाहित होते हैं। इसीलिए आधुनिकता के अंतर्गत इन समस्त प्रकार के मूल्यों में सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक है। वर्तमान समय में आधुनिकता के द्वारा समाज में अनेकों विसंगतियां भी उत्पन्न हो रही हैं। जिस वैज्ञानिक विकास के कारण मानव ने तमाम सुख-सुविधाओं का उपभोग किया उसी वैज्ञानिक विकास ने मनुष्य के भविष्य पर प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया है। तभी तो अभिजीत पाठक आधुनिकता की नकारात्मक छवि को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं- "आधुनिकता में सब कुछ अच्छा ही नहीं है। विज्ञान मुझे अनिश्चितताएँ और बेचैनियाँ देता है। इसकी निस्पृह वस्तुनिष्ठता, मूल्य-निरपेक्षता एवं अवैयक्तिकता में भयानक हिंसा निहित है।"[6]

वर्तमान संदर्भ में आधुनिकता का तात्पर्य एडवांस होने से लगाया जाता है, जिसके अंतर्गत धनवान होना, पारिवारिक व धार्मिक सत्ता के झमेले से पूरी तरह मुक्त रहना शामिल है। धन के अभाव में आधुनिकता संभव नहीं है। आधुनिक सांसारिक मनुष्य केवल और केवल सुख की ही प्राप्ति करना चाहता है। इसके लिए उसे तार्किक तथा बुद्धिवादी बनना पड़ता है। उसके लिए सुखवाद को छोड़कर कोई अन्य परंपरा शेष नहीं रहती। आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान सांसारिक व्यक्ति का चित्रण करते हुए शील्स लिखते हैं'- "आधुनिक होने का अर्थ है 'एडवांस' होना, अर्थात् धनी होना, पारिवारिक व धार्मिक सत्ता के झमेलों से मुक्त होना। इसका अर्थ है- तार्किक व बुद्धिवादी होना। यदि कोई ऐसा बुद्धिवादी हो जाता है तो उसके लिए सांसारिकता, वैज्ञानिकतावाद एवं सुखवाद को छोड़कर और कोई परंपरा नहीं रह जाती।"[7]

आधुनिकता की इस परिभाषा के अंतर्गत व्यक्ति एक अन्य स्वरूप में सामने आता है। वैज्ञानिक आविष्कारों के माध्यम से वह सांसारिक सुख को प्राप्त करने को महत्त्व देता है। इसलिए पारिवारिक व धार्मिक सत्ता-बोध से सर्वथा दूर रहने का प्रयास करता है। तार्किकता एवं बौद्धिकता का प्रयोग करके वह पारंपरिक जीवन-पद्धति से अपने को सर्वथा मुक्त कर लेता है। भविष्य के जीवन को सुख पूर्ण बनाने के समस्त आयोजन वह वर्तमान में ही पूर्ण कर लेना चाहता है। वर्तमान समय में आधुनिकता के नाम पर पश्चिमीकरण का अंधानुकरण हो रहा है। चारों ओर दिखावा तथा बाह्य आडंबर का बोलबाला है। जो कुछ भी पश्चिमी समाज में हो रहा है उसी को ग्रहण करने के लिए तथाकथित आधुनिक समाज उद्यत है। कदाचित उनके मन में यह भय व्याप्त है कि यदि वह पश्चिम की संस्कृति अथवा सभ्यता का पूरा पूरा अनुकरण नहीं करेगा तो पश्चिम का समाज उन्हें आधुनिक नहीं मानेगा। विद्यानिवास मिश्र जी मानते हैं की पश्चिम का आधुनिक बोध भारतीय आधुनिक बोध से अलग है; क्योंकि पश्चिमी आधुनिक बोध पश्चिम की समस्याओं से उदभूत है, जबकि भारतीय आधुनिक बोध हमारी स्वयं की समस्याओं से प्रादुर्भूत हुआ है। डॉ० मिश्र के शब्दों में- "जो लोग इस भय में है कि पश्चिम का समाज हमें आधुनिक नहीं मानेगा अगर हम उसकी पूरी की पूरी आधुनिकता का बाना नहीं धारण कर लेंगे, वे आधुनिक नहीं माने जा सकते, वे आधुनिकता के शिलीकृत जड़ अवशेष ही माने जाएंगे, अपने ही जीवन में अपने ही समय में। पश्चिम का आधुनिक बोध पश्चिम की समस्याओं से उद्भूत हुआ है, हमारा हमारी समस्याओं से। पश्चिम काल बद्ध चेतना के त्रास से मुक्ति पाने की राह देख रहा है, उसकी आधुनिकता इस चुभन से प्रमाणित होती है कि 'इतिहास केवल एक चक्की रह गया है, जिसमें अतीत को निर्विवेक ढंग से पीसा जा रहा है और वह पिसान कच्चा माल है, एक अनिवार्य भविष्य के निर्माण के लिए। 'हम लोग जो इतिहासी बीमारी से उतने ग्रस्त नहीं और जो अज्ञेय के शब्दों में' काल के निरवधि शाश्वत आयाम में और

आधुनिक इतिहास की सतही समयबद्धता में अब भी एक साथ जी सकते हैं', उनकी आधुनिकता इतिहास के त्रास की पहचान में नहीं, आधुनिक समाज व्यवस्था और आधुनिक यंत्र उद्योग की उपजाऊ टूटन में जुड़ाव की पहचान में प्रमाणित होगी।"[8]

पंडित विद्यानिवास मिश्र संस्कृति के आधुनिकीकरण को उपभोक्तावाद से प्रभावित मानते हैं। आज का मनुष्य विचार और व्यवहार दोनों दृष्टियों से किसी अन्य का गुलाम बनकर रह गया है, क्योंकि वह अपनी बुद्धिमत्ता का स्वतंत्र प्रयोग नहीं कर पा रहा है। वह दूसरों की नकल करने में व्यस्त है, जिसके कारण भारतीयता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। विज्ञापन जगत की स्थिति तो और भी भयावह हो गई है जहां बड़ी-बड़ी कंपनियां अपने उत्पादों की बिक्री के लिए अनाप-शनाप दावे करती हैं और उनका संपूर्ण ध्यान अपने विज्ञापन को आकर्षक बनाने में लगा रहता है। आम आदमी भी आकर्षक विज्ञापन के झांसे में आ जाता है और आवश्यकता हो अथवा न हो उत्पादों को खरीदने की सोचता है। यहां तक कि कभी-कभी तो क्षमता से परे भी जाकर वह वस्तुओं का क्रय करता है। आज के परिवेश में वस्तु अब आवश्यकता की पूर्ति का साधन न होकर उपभोग का साधन मात्र बनकर रह गई हैं। मांग के अनुसार मूल्यों में भी परिवर्तन आता जाता है। इस प्रक्रिया में मनुष्य बड़ी-बड़ी कंपनियों का कठपुतली मात्र बन कर उनके इशारों पर नाच रहा है। उपभोक्तावाद की चकाचौंध ने उसकी बुद्धि पर ऐसा पर्दा डाला है कि वह किसी वास्तविक स्थिति को समझने में असमर्थ है, जिसके कारण संस्कृति पर भी गहरा आघात हो रहा है। संपूर्ण संस्कृति यंत्रवत बन चुकी है। ऐसा आभास होता है कि मनुष्य की बुद्धि और संस्कार पूरी तरह से विदेशी संस्कृति के दास बन चुके हैं। इस दृष्टिकोण के आधार पर यह कहा जा सकता है प्राचीन काल से चली आ रही परंपरा और मूल्य उपभोक्तावाद की चोट से कराह रहे है संस्कृति का व्यापक पैमाने पर बाजारीकरण हो चुका है। खरीद और बिक्री के आधार पर ही किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित किया जाने लगा है। मनुष्य इतना उपभोगवादी हो गया है कि जीवन के प्रत्येक क्षण वह केवल अपने सुख और अपनी सुविधा के विषय में ही चिंतनशील रहता है, और यह भूल चुका है कि जीवन सिर्फ उपभोग के लिए नहीं वरन मूल्यों और संस्कारों का पालन करते हुए आगे बढ़ना है। आधुनिकता में सभी कुछ केंद्रीकृत हो चुका है। हमारी संवेदनशीलता भी यांत्रिकता के प्रभाव से नष्ट हो चुकी है। निबंध संग्रह 'अस्मिता के लिए' में जीवन की यांत्रिकता को स्पष्ट करते हुए डॉ० विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं- "आजकल जिंदगी जीना आसान नहीं है। अधिकतर तो यंत्रचालित दंश से जीना होता है। यदि कुछेक क्षण जीने का एहसास हो पाता है तो इसलिए की अस्मिता के लिए कभी-कभी बड़ी तड़पन होने लगती है और वे कुछेक क्षण इस तड़पन की क्रौंध से उदभाषित हो जाते हैं। सबसे अधिक अस्मिता की तड़पन अपनी संस्कृति अपने साहित्य और अपनी भाषा के लिए होती है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा 'मैं हूँ' इसकी प्रतीति सार्थक तौर पर हो सकती है। मैं निरा जीवधारी हूँ या अन्य प्राणियों से विशिष्ट मनुष्य नामक जीवधारी हूँ या पुरुष हूँ, इतने से अस्मिता का आकार खड़ा नहीं होता।"[9]

डॉ० विद्यानिवास मिश्र जी मानते हैं कि यांत्रिकता के प्रभाव के कारण मनुष्य के जीवन जीने का तरीका बिल्कुल भी बदल चुका है क्योंकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे कृत्रिम वस्तुओं की आवश्यकता पड़ने लगी है। यह आवश्यकता तो अब जीवन पर ही हावी हो चुकी है। ऐसी परिस्थिति में आध्यात्मिक रूप से अविनाशी

होते हुए भी मनुष्य स्वयं को खोता जा रहा है। संस्कृति के विविीा तत्वों जैसे धर्म, मूल्य, विश्वास, पर्व तथा प्रकृति सब कुछ भूल कर मनुष्य सुविधा वादी बन गया है। स्वयं को बचाने की गुहार लगाती संस्कृति को वह अनसुना कर रहा है और अपने ही चाल में मदमस्त होकर सुख सुविधाओं के उपभोग में निरत है। हम स्वयं की संस्कृति को समझ पाने में असमर्थ हैं जबकि दूसरे लोग हमारी संस्कृति के महत्व को अच्छी तरह समझने का प्रयास कर रहे हैं तथा उसे अपना भी रहे हैं। विदेशी विद्वान भारतीय संस्कृति का गुणगान करते हैं, जबकि हम स्वयं अपने आप को पहचानने की कोशिश तक नहीं करते, क्योंकि हमारे पास हमारी स्वयं की संस्कृति को मापने का न तो कोई पैमाना उपस्थित है और न ही कोई दर्पण जो हमें हमारी वास्तविकता का अवलोकन कराए। हम अपने तर्क तथा बुद्धि का प्रयोग कर अपनी संस्कृति को समझने तथा परखने का प्रयास भी नहीं करते। आधुनिकता का मद इस तरह से प्रभावकारी हो चुका है कि हम अपनी विचारधारा को तुच्छ मानकर पश्चिमी विचारधारा को अपने से उन्नत तथा तर्कसंगत मानने लगे हैं। 'भारतीयता की पहचान' निबंध संग्रह में विद्यानिवास मिश्र इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं- "विगत दो शताब्दियों की यही विडंबना है, कभी मैक्समूलर हमें हमारी संस्कृति की गरिमा अपने ढंग से समझा रहे हैं और हम उसे गटक रहे हैं, कभी हैवल हमें हमारी कला की विशेषता हमें बतला रहे हैं, कभी शूमाखेर या फक्रम या त्सिमर हमारी संस्कृति की प्रासंगिकता की बात करके हमको गर्व स्फीत कर रहे हैं। परंतु अपने आप को पहचानने की कोशिश हम नहीं कर पाते, हमारे पास न अपना पैमाना है न दर्पण है, न अपनी तर्क बुद्धि है।"[10]

भारतीय संस्कृति का निर्माण युगों की परंपरा और विश्वास के आधार पर ही संभव हुआ है किंतु उसी परंपरा को अब हम विश्वसनीयता की दृष्टि से नहीं देख पा रहे हैं। हमारी दृष्टि में ही हमारी परंपरा निम्नकोटि की हो गई है और हम विदेशी परंपरा को आत्मसात करने की प्रक्रिया में आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। विदेशी सभ्यता को समझना कोई गलत बात नहीं है, किंतु उसकी तुलना भारतीय सभ्यता से किया जाना सर्वथा अनुचित है। हमारी परंपरा ही हमारी गरिमा का द्योतक है। किसी अन्य की परंपरा के आधार पर हम अपनी गरिमा में वृद्धि नहीं कर सकते। पश्चिमी साहित्यकार भारतीय संस्कृति को अपने दृष्टिकोण से व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं जो सर्वथा पक्षपातपूर्ण तथा अनुपयुक्त होता है। वह हमारी संस्कृति और सभ्यता की धुंधली छवि प्रस्तुत करते हैं। आधुनिकीकरण के आवेश ने हमारी तर्कशीलता को भी समाप्त कर दिया है। हम स्वयं को भी समझ पाने में असमर्थ हैं जिसके कारण हमें अपनी छवि निहारने के लिए किसी अन्य के दर्पण की आवश्यकता पड़ रही है। हमारा ज्ञान चक्षु बंद हो चुका है और हम वास्तविकता का दर्शन नहीं कर पा रहै हैं। इसी कारण हमारा आत्मविश्वास भी कमजोर पड़ गया है। आधुनिकता की अंधी दौड़ में भटकते मनुष्य की स्थिति का वर्णन करते हुए डॉ० विद्यानिवास मिश्र 'भारतीयता की पहचान' में लिखते हैं- "हम अपने ऊपर अधिक अविश्वास करते हैं, हमने विश्व को गांधी दिया, गांधी के विचार दिए, पाशविकता से लड़ने का एक अजीब हथियार दिया और हमें स्वयं गांधी पर विश्वास नहीं है, गांधी हमारे लिए केवल एक वाल्षक अनुष्ठान रह गए हैं। हम या तो बिना जाने समझे भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठता की डह्लग हांक सकते हैं या बिना जाने समझे इसकी हीनता और अनुपदेयता को कोसने में ही अपनी आधुनिकता प्रमाणित कर सकते हैं।"[12]

आधुनिक मनुष्य सब कुछ पीछे छोड़कर आगे बढ़ने की अभिलाषा रखता है। इस क्रम में वह सिर्फ और सिर्फ स्वयं के बारे में चिंतन करता है। स्वार्थ के वशीभूत होकर वह अपने कार्य व्यवहार निर्धारित करता है तथा इस पर गर्व भी करता है। भाषा के लिए भी वह दूसरों पर निर्भर है। अपनी मातृभाषा के प्रति उसके मन में लगाव तथा सम्मान का भाव कम होता जा रहा है। आधुनिक समाज में आधुनिकता लाने का सर्वाधिक श्रेय अंग्रेजी भाषा को दिया जाता है। अंग्रेजी बोलना आधुनिक कहलाने की पहली शर्त है। यह माना जाता है कि जो व्यक्ति अंग्रेजी भाषा में प्रवीण नहीं है, वह प्रगति के द्वार तक दस्तक नहीं दे सकता। ज्ञान प्राप्ति का सशक्त माध्यम केवल अंग्रेजी भाषा हो सकती है, ऐसी मानसिकता ने लोगों के दिलों दिमाग पर एक प्रकार का आवरण डाल दिया है, जो अपनी मातृभाषा को तिरस्कृत करते हुए अंग्रेजी भाषा की प्रतिष्ठा करने में लगे हुए है। महंगे से महंगे अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में अपनी संततियों के प्रवेश के लिए चक्कर लगाते फिरते हैं। हिंदी माध्यम के विद्यालयों से दूरी बनाकर गजब की आधुनिकता परोसने में लगे हुए हैं। डॉ० विद्यानिवास मिश्र ऐसी परिस्थिति से चिंतित होते हैं और यह मानते हैं कि शिक्षा का मुख्य माध्यम अंग्रेजी भाषा नहीं बल्कि मातृभाषा होनी चाहिए। मातृभाषा में दिया गया ज्ञान स्थाई होता है तथा उसके द्वारा किसी भी प्रकार का विभ्रम उत्पन्न नहीं होता। मातृभाषा में शिक्षित किया गया बालक भाषा की संवेदना के साथ-साथ भाषा द्वारा प्रस्तुत भावों को आसानी से आत्मसात कर पाता है। किंतु अंग्रेजी भाषा के साथ ऐसा संभव नहीं हो पाता। किराए की परायी भाषा कभी भी आत्मबोध उत्पन्न नहीं कर सकती। परायेपन में अपनापन संभव ही नहीं हो पाता चाहे वह भाषा हो अथवा व्यवहार। डॉ० विद्यानिवास मिश्र 'जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है' में ऐसी मानसिकता का विवेचन करते हुए लिखते हैं- "सबसे गहरा नियंत्रण तो ज्ञान के क्षेत्र में है, जिससे मेरा निजी सरोकार है। इसका मुख्य कारण शिक्षा माध्यम है। अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा नहीं होनी चाहिए, यह स्वयं अंग्रेजी शिक्षाविदों का मत है, पर हिंदुस्तान की एकता की धुरी अंग्रेजी है। अंग्रेजी माध्यम से प्रारंभिक स्तर से ही शिक्षा देने की उनमदान्धता व्याप्त है। शिक्षा देने वाले अंग्रेजी के व्यवहार में सहज नहीं है। अतः अंग्रेजी भी सहज नहीं है, किताबी, बासी तिबासी है। आज गिनती तक हिंदी की, कोई बच्चा याद नहीं कर सकता, पहाड़ों की बात ही व्यर्थ है। इसका असर सोचने पर पड़ रहा है। स्वतंत्र सोचने और स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त करने की क्षमता समाप्त हो रही है। मनुष्य के अंतर का रचनाकार मर रहा है। बिजली के बल्बों पर गिरते हुए पतंगों की तरह जादुई ज्ञान की निर्यात गिल्लौरी गोलियों पर (ज्ञान के कैप्सूलों पर, जिन्हें विश्वकोश कहा जाता है) खुद सोंचें, खुद लिखें या बोलें इसमें लोगों को धीरे-धीरे ऐसा आलस्य हो रहा है कि लगता है भाषा और चिंतन को लकवा मार जाएगा। ज्ञान तो पवित्र है पर अन जाँचा ज्ञान भयावह है और अनपचाया ज्ञान विष है, इस बात को समझाने चले तो प्रगति विरोधी समझे जाएं।"[13]

मनुष्य की सोचने समझने की शक्ति उसके ज्ञान प्राप्ति पर ही निर्भर होती है और ज्ञान प्राप्ति शिक्षा के माध्यम पर आधारित होता है। माध्यम जितना सशक्त होगा ज्ञान का विस्तार भी उतना ही अधिक होगा। ज्ञान के विस्तार के साथ साथ मनुष्य की सोचने समझने की शक्ति भी परिष्कृत होती चली जाती है। चर्चा के इस बिंदु पर एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी भी भाषा में प्राप्त किया गया ज्ञान कभी गलत नहीं हो सकता, किंतु वह ज्ञान महज किताबी न बन जाए और छात्रों को आत्मसात हो सके, इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। महज किताबी ज्ञान कभी प्रभावी ज्ञान नहीं बन सकता। उसे प्रभावी बनाने के लिए

उसे आत्मसात करना आवश्यक होता है। आधुनिकता के आवेग में मनुष्य की स्थिति ऐसी हो गई है कि न वह अपने पुराने ज्ञान को सहेज पा रहा है न तो पूरी तरह से आधुनिक ज्ञान को आत्मसात कर पा रहा है। इस प्रकार न उसके पास पुराने ज्ञान का सहारा है न नए ज्ञान की समझ। मातृभाषा आत्मा में बस जाती है जबकि कोई अन्य भाषा आत्मसात नहीं हो पाती। इस परिस्थिति में मनुष्य के समक्ष एक द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। न तो पुराने ज्ञान के आधार पर वह अपनी जीवन चर्या संचालित कर पाता है, न नया ज्ञान उसका मार्गदर्शन कर पाता है। उसकी चिंतनशीलता तथा तर्कशीलता भी नष्ट होती चली जा रही है। उसके पास अपनी कोई सोच ही नहीं है जिसके कारण अब वह किसी सिद्धांत पर नहीं पहुंच पाता। इस प्रकार उसकी बौद्धिकता पूरी तरह से निर्जीव बनकर रह गई है और किसी भी निर्णय तक पहुंचने की सामर्थ्य नष्ट हो गई। इसका एकमात्र कारण हमने उन जीवन मूल्यों को ग्रहण करने का प्रयास किया जो हमारे अपने नहीं थे, इसलिए वह हमारे लिए नहीं थे। नए मूल्यों की तलाश करते करते हम मूल्यहीनता की स्थिति तक पहुंच गए। डॉ० विद्यानिवास मिश्र मानते हैं कि हमें सिर्फ अपने ही जीवन मूल्यों को आत्मसात करना चाहिए। हमें जीवन तथा जीवन की निरंतरता और उसकी पूर्णता के लिए अपने स्वयं के मूल्यों का ही वरण करना चाहिए। 'अस्मिता के लिए' निबंध संग्रह में डॉ० मिश्र इस तथ्य की तरफ संकेत करते हैं। उनके अनुसार– "स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हम अपने इस भाव को भूल का मूल्य तलाशते रहे, मूल्य जो हमारे नहीं थे, हमारे लिए नहीं थे, हमारे द्वारा तलाशे हुए मूल्य नहीं थे; और हम नए मूल्यों की तलाश करते करते अपने को मूल्यहीन पाने की तुरंत स्थिति में आ गए हैं। अभी समय है कि दूसरे छोर से तलाश की प्रक्रिया शुरू करें, यह समझना शुरू करें कि जीवन, जीवन की निरंतरता और पूर्णता और एकता के लिए उत्सर्ग है और हमारे ये मूल्य ही वरणीय हैं।"[14]

आधुनिकता के भंवर में फंसकर हमने अपनी धरोहरों को निष्क्रिय समझ लिया है। आधुनिकता के नाम पर हम दूसरों का मुंह ही ताकते रह गए। हमारे चारों तरफ एक प्रकार का अंधेरा व्याप्त हो चुका है और आधुनिकता के दम पर हम किसी ऐसे प्रकाश की तलाश में है जो हमें मिलता प्रतीत नहीं होता। अपने अस्तित्व को हमने स्वयं ही नकारा है। वर्तमान मानव भौतिकता की उस अंधी दौड़ में शामिल है जिसका कहीं कोई अंत दृष्टिगत नहीं होता। स्वयं के कर्मों पर उसका विश्वास नहीं रह गया। संस्कारों को संकीर्णता के भाव से देखने के कारण संस्कार अब उसे बेड़ियों के समान प्रतीत होते हैं, जिन्हें खोलकर वह स्वतंत्र रूप से विचरण करना चाहता है। अपने को बुद्धिवादी कहने वाला स्वयं विमूढ़प्राय हो गया। आसपास की गर्दन तोड़ घुड़दौड़ में वह भी अपना घोड़ा दौड़ाता चला जा रहा है और एक दूसरे से आगे निकलने की कोशिश कर रहा है। ज्ञान के अधकचरेपन ने मनुष्य की बुद्धि को भ्रमित कर दिया। जितना ही वह आगे बढ़ने का प्रयास कर रहा है, उतना ही स्वयं के निलृमत जाल में उलझता जा रहा है। वह किसी को अपने से आगे निकलते नहीं देखना चाहता। किंतु दुर्भाग्य यह है कि उसे अपना गंतव्य ही पता नहीं है। अपने स्वयं के द्वारा निलृमत आधुनिकता के विमोहन जाल में निरीह पंछी की भांति फँसता जा रहा है। 'भारतीयता की पहचान' निबंध संग्रह में डॉ० विद्यानिवास मिश्र ऐसी ही परिस्थिति को रेखांकित करते हैं– "हम फँसते जा रहे हैं अनियंत्रित भूख के जाल में, फंसते जा रहे हैं गंतव्यहीन प्रगति के जाल में, आकार हीन, लक्ष्यहीन, प्राणहीन, हमारी नदियां और तेजी से गंदली हो रही है, हमारे शहर और तेजी से दमघोंटू जहरीली हवा अपने नथुनों में भरते जा रहे हैं, हमारे वन–पर्वत और तेजी से वीरान होते जा रहे हैं और हमारी मांगे विज्ञापनों के दबाव में और तेजी से आवश्यकता

की अपेक्षा किये बिना बढ़ती जा रही है। हम प्रकाश के ज्वार में नहाए हुए लोग अब प्रकाश के सामने जाने से निरावरण होने से घबराने लगे हैं।"[15]

निष्कर्ष

उपरोक्त समस्त तर्कों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि डॉ० विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में आधुनिकता के स्वरूप का तार्किक विवेचन किया गया है। डॉ० मिश्र ने आधुनिक होते मनुष्य की विडंबनाओं का निरूपण किया है। भौतिकता की अंधी दौड़ में अंधाधुंध दौड़े जाने की प्रवृत्ति पर चिंता प्रकट की है। आधुनिकता के मद में अंधा होकर मनुष्य संस्कृति को तुच्छ समझने की भूल कर रहा है। परायी संस्कृति को ग्रहण करने के लिए आकुल है। उसके जीवन में कृत्रिमता का संक्रमण बढ़ता ही जा रहा है। नवीन तथा पुरातन के मध्य उत्पन्न द्वंद्व की दुविधा में फँसकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। आज स्वयं को भी पहचान पाने में असमर्थ होने के कारण उसके आत्मविश्वास में कमी होती जा रही है। मनुष्य जब तक अपने अस्तित्व को स्वीकार नहीं करेगा तब तक वह किसी ठौर की आस में भटकता ही रहेगा। उसे समझना ही होगा कि उसके स्वयं का अस्तित्व उसके स्वयं की संस्कृति द्वारा ही सुरक्षित रह सकती है। पराई संस्कृति कभी भी उसका कल्याण नहीं कर सकती। इसलिए उसे आधुनिकता के जहर से स्वयं को बचाने के लिए उद्यत होना ही पड़ेगा।

संदर्भ

1. देवीशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र : उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार; पृष्ठ -56
2. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : संचारिणी (आधुनिकता : मेरी नजर में); पृष्ठ- 22-23, संस्करण- 2014 (बसंत पब्लिकेशन नई दिल्ली)
3. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : संचारिणी (आधुनिकता : मेरी नजर में); पृष्ठ- 22, संस्करण- 2014 (बसंत पब्लिकेशन नई दिल्ली)
4. देवीशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र : उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार; पृष्ठ -54-55
5. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : संचारिणी (आधुनिकता : मेरी नजर में); पृष्ठ-21- 22, संस्करण- 2014 (बसंत पब्लिकेशन नई दिल्ली)
6. देवीशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र : उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार; पृष्ठ -40
7. देवीशंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र : उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार; पृष्ठ -57
8. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : संचारिणी (आधुनिकता : मेरी नजर में); पृष्ठ-23, संस्करण- 2014 (बसंत पब्लिकेशन नई दिल्ली)
9. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : अस्मिता के लिए; संस्करण- 1980 (रचनाकार प्रकाशन)
10. डॉ० विद्यानिवास मिश्र: भारतीयता की पहचान; पृष्ठ- 79, संस्करण- 1994; वाणी प्रकाशन नई दिल्ली)
11. विद्यानिवास मिश्र: भारतीयता की पहचान (भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता); पृष्ठ -76, संस्करण- 2017 (वाणी प्रकाशन नई दिल्ली)

12. डॉ० विद्यानिवास मिश्र: अस्मिता के लिए; पृष्ठ- 57, संस्करण -1980 (रचनाकार प्रकाशन)
13. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है; पृष्ठ- 61-62, संस्करण -1991 (प्रभात प्रकाशन)
14. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : अस्मिता के लिए; पृष्ठ-60, संस्करण-1980 (रचनाकार प्रकाशन)
15. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : भारतीयता की पहचान (भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता); पृष्ठ-79, संस्करण -1994 (वाणी प्रकाशन नई दिल्ली)

कबीर, भोजपुरी एवं चंपारण

डॉ. संतोष पटेल

नवीन जागरण युग के अगुआ के रूप में हिंदी साहित्य में स्थापित "कबीर" आजू जनता के हृदय में व्यक्ति के रूप ना बलुक प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित बानी। भगवान् बुद्ध के बाद उत्तर भारत में सामाजिक क्षेत्र में नवचेतना आ मानववाद के स्वर फूँकेवालन में कबीर सर्वश्रेष्ठ महामानव बानी। इहां के हिंदी के आदि कवि मानल जाला। इहां के परंपरागत काव्य भाषा- संस्कृत आ पालि के तेयाग के जनभाषा अपभ्रंश-मिश्रण हिंदी में आपन बानी मुखरित कइनी। एह शोध आलेख में इ स्पष्ट करे के प्रयास कइल गइल बा कि कबीर हिंदीये के खाली ना बलुक 'भोजपुरी भासो' के आदि कवि हई। उनकर बिहार प्रान्त के चंपारण क्षेत्र से का सम्बन्ध रहल आ कबीर के चंपारण के संगे संगे भोजपुरी भाषा से का संबंध बा ओकरा के परख करत इ शोध आलेख बा।

भोजपुरी भाषा के आदि कवि: कबीर

++++++++++++++++++++++++

भोजपुरी साहित्य आ भाषा के इतिहास के अध्ययनोपरांत आ अलग अलग स्त्रोतन के अवलोकन के बाद इ बात के सिद्ध करल सरल हो गइल बा कि जवन कबीर के जनभाषा अपभ्रंश- मिश्रित हिंदी के कवि मानल गइल उहां के सही माने में भोजपुरी भाषा के आदि कवि हई। डॉ. उदय नारायण तिवारी, डॉ. कृष्णा देव उपाध्याय, दुर्गा शंकर प्रसाद सिंह 'नाथ', रासबिहारी पाण्डेय, हवालदार त्रिपाठी सहृदय, पं. गणेश चौबे, नर्मदेश्वर सहाय, डॉ. गदाधर सिंह, डा. तैयब हुसैन पीडित, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह आ डॉ. गोरख प्रसाद 'मस्ताना' जइसन भारतीय विद्वान आपन पुस्तक व लेख, निबंध आ शोध-निबंध के माध्यम से कबीर के भासा को तय करे के काम कइले बाड़े।

"कबीर चरित्र बोध" के मोताबिक कबीर के जनम संवत 1455 वीं (वर्ष 1398) के ज्येष्ठ पूर्णिमा के भइल बा बाकिर बाबू श्याम सुन्दर दास, डॉ. माता प्रसाद गुप्त, डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल जइसन भारतीय विद्वान में कबीर के जनम के बारे में मतभेद बा। कबीर के जनम के बारे में कएगो जनश्रुति प्रचलित बा आउर कहल जाला कि उहां के एगो विधवा ब्राह्मनी के बेटा रहनी जे कबीर के जनमते उनका लहर तारा नदी के लगे फेंक देली जहवाँ से नीरू आउर नीमा नाम के जुलाहा दम्पति उठा के ले अइलें आ उहे बचवा आगे चलके कबीर साहेब कहलइलें। मिश्रबंधु एह कथा के मनगढ़त मानेलें आ उनकर कहनाम बा कि संत कबीर वास्तव में नीरू जुलाहा के बेटा रहस।[1]

नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कबीर ग्रंथावली में कबीर के बानी संकलित बा। कबीर के बानी के भाषा पर विचार करत, एकर संपादक लिखत बानी कि 'यद्यपि उन्होंने (कबीर ने) स्वयं स्वीकार किया है कि की 'मेरी बोली पूर्वी है' तथापि खड़ी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी आदि अनेक भाषाओं का पुट भी उनकी उक्तियों पर चढ़ा है।'

सांचो कबीर खुदे आपन एगो दोहा में आपन भासा भोजपुरी मनले बानी:-
बोली हमारी पूरब की, हमे लाखे नहीं कोच।
हमके तो सोई लखे, धुर पूरब का होए।।

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल आपन हिंदी साहित्य के इतिहास में एह सम्बन्ध में विचार करत लिखत बानी कि "इनकी भाषा सधुक्कड़ी है अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी, खड़ी बोली है, पर रमैणी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं कहीं पूर्वी बोली व्यवहार है।"[2]

भोजपुरी भाषा और साहित्य के दूसरका अध्याय 'भोजपुरी साहित्य, भोजपुरी भाषा और साहित्य' में डॉ. उदय नारायण तिवारी जी लिखले बानी कि "यद्यपि अत्यन्त प्राचीनकाल से बनारस का सांस्कृतिक सम्बन्ध मध्यदेश से रहा है तथापि उसकी भाषा तो स्पष्ट रूप से मागधी की पुत्री है। यह बोली बनारस के पश्चिम मिर्जामुराद थाना से दो तीन मील और आगे तमन्चाबाद तक बोली जाती है वस्तुतः यही बोली कबीर की मातृभाषा थी। यह प्रसिद्ध है की कबीर पढ़े-लिखे न थे अतएव अपनी मातृभाषा में रचना उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक था। कबीर के अनेक पद आज भी बनारसी बोली अथवा भोजपुरी में है।"[3]

भोजपुरी भाषा का इतिहास में 'कबीर की भाषा भोजपुरी' अध्याय में रास बिहारी पाण्डेय डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के उद्धृत कबीर के चार पद के वर्णन कइल बा जेकरा डॉ. चटर्जी खांटी भोजपुरी में मानेनी, जइसे:-

"कनवा फराई जोगी जटवा बढवलें
दाढ़ी बढाई जोगी होई गइलें बकरा
कहत कबीर सुनो भाई साधू
जम दरवाजा बान्हल जइबे पकरा"
जंगल जाई जोगी दुनिया रमौले
काम जराय जोगी बन गइले हिजरा।"[4]

डॉ. उदयनारायण तिवारी भोजपुरी साहित्य के जवन उदाहरण से कबीर के भोजपुरी भासा के आदि कवि मनले बानी उ अपने में सिद्ध बा। कबीर साहेब की शब्दावली (भाग पहिला) पृष्ठ -23, सबद 5 में-

"कवन ठगवा नगरिया लूटल हो, टेक
चन्दन काठ के बनल खटोला, तापर दुल्हिन सुतल हो
उठो री सखी मोरी मांग संवारी, दूल्हा मोसे रुसल हो
आये यमराज पलंग चढी बैठे, नैनन आंसू टूटल हो
चारी जने मिली खाट उठाइन, चहुँ दिसि धू धू उठल हो

(कबीर साहेब की शब्दावली, भाग दूसरा पृष्ठ संख्या 40, शब्द 28)

तोर हिरा हीराइल बा कीचड़े में। टेक।
कोई ढूंढे पूरब कोई ढूंढे पच्छिम, कोई ढूंढे पानी पथरे में।।
(कबीर साहेब की शब्दवाली, दूसरा भाग, पृष्ठ संख्या- 69)

सुतल रहलूँ मैं नींद भरी हो, गुरु दिहले जगाई ।टेक।
चरण कवल के अंजन हो, नैना लेलूं लगाई।
(कबीर साहेब की शब्दावाली, चौथा पृष्ठ संख्या-19)

अपने पिया की मैं होइबो सोहागनि - अहे सजनी।
भइया तजि सइयां संग लागब रे की।।

भोजपुरी के कवि और काव्य के 'महात्मा कबीरदास' अध्याय में श्री दुर्गानाथ सिंह 'नाथ' पृष्ठ संख्या 33 से 47 तक कबीरदास के लगभग 25गो भोजपुरी पद के उल्लेखित कइले बाड़े:-

1.तोर हीरा हेराइल बा कीचड़े में....
2. कउन ठगवा नगरिया लुटल हो.....
3.का ले जाइबो ससुर घर जइबो ....
4. अइली गवनवा के सारी हो, अइली गवनवा के सारी
साज समाज ले सइयां मोरे ले अइले कहारवां चारी
मन विचार दरदियो ना बुझे जोरत गठिया हमारी
सखी सब गावेली गारी।।

एह गीतन में भोजपुरी शब्द, क्रिया पद आदि के ढ़ेर प्रयोग बा खाली एतना कहल उचित ना होई वास्तव में इ कुल्ही गीत भोजपुरी के ह जेकर विशेष विवेचना के आवश्यकता नइखे बुझात।

कबीर के भोजपुरी भासा के आदि कवि के रूप में मानत भोजपुरी भाषा के प्रसिद्व आलोचक नागेन्द्र प्रसाद सिंह आपन 'भोजपुरी साहित्य के संक्षिप्त इतिहास' में लिखत बाड़े कि "कबीरदास के रचना का प्रसंग में बीजक के नाव आवत बा। जवना में 809 साखी, 400 पद आ 07 रमैनी बा बाकिर कबीर साहित्य के शोधकर्त्ता आ विद्वान डॉ. पारसनाथ तिवारी 200 पद, 744 साखी, आ 21 गो रमैनी मानेनी।"

आगे श्री सिंह लिखत बाड़े कि "कबीरदास के रचना के भाषा मूल रूप से ठेठ भोजपुरी रहे, घुमंतू साधू भइला से विभिन्न क्षेत्रन के शिष्य परंपरा से स्थानीय संसोधन का कारन उहाँ का रचनन में दोसरो भाषा जइसे - राजस्थानी, पंजाबी, मगही, अवधी, आदि के शब्द आउर क्रिया पद मिलेला जवान स्वाभाविक बा।"[5]

एही तरेह कबीर के भासा के विश्लेषण करत नर्मदेश्वर चतुर्वेदी भोजपुरी साहित्य के इतिहास में काल विभाजन के क्रम में संत काल की शुरुआत कबीर से मानत बानी। भोजपुरी के संत साहित्य (लेखक: नर्मदेश्वर चतुर्वेदी) में नर्मदेश्वर लिखत बाड़े कि 'भोजपुरी के संत साहित्य के शुरुआते भोजपुरिया महात्मा कबीर से

भइल बा। आपन कथनी आ करनी के सच्चाई से ई आपन बात निर्भीकता से कहत रहले जवना के असर दोसरो में आत्माविश्वास जगावत रहल बा।'

डॉ. राम कुमार वर्मा 'हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' ग्रन्थ में कबीर के भासा भोजपुरी बतवले बाड़े। उहें डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आपन पुस्तक कबीर में कबीरदास के उहे कुल्ह पद के संग्रह कइले बाड़े जवना के भासा में भोजपुरी के अधिकता बा।

प्रोफेसर मैनेजर पाण्डेय मानत बानीं कि "कबीर की भाषा मूलत: भोजपुरी है। कबीर के शिष्यों की कृपा से उसमें अन्य क्षेत्रीय भाषाएं आ गयी हैं।"[6]

कबीर आ चंपारण

++++++++++

"चंपारण" प्रकृति के लीला भूमि, पर्वतराज हिमालय के आंगन भूमि, चम्पक वन के सुवास भूमि, बालक ध्रुव के तपोभूमि, आदिकवि महर्षि बाल्मीकि के काव्यभूमि, भगवान बुद्ध के यात्रा भूमि, पांडव लोगन के वनवास भूमि, चाणक्य चन्द्रगुप्त के मर्मभूमि, प्रियदर्शी अशोक के धर्मभूमि, अरेराज सोमेश्वर महादेव के अनुकम्पा भूमि, सरभंग संतन के सिद्ध भूमि, महात्मा कबीर के उपदेश भूमि, राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के कर्मभूमि तथा अन्नपूर्णा के अन्नभूमि व सदानीरा गण्डकी के निवास भूमि ह। सांचो इहां के मिट्टी आ पानी में उ गरिमा बा जवन शुन्य के समग्रता प्रदान करेला। चंपारण के धरती जेतना उपजाऊ बा ओकरो से कहीं जादे साहित्य सृजन खातिर उपजाऊ बा।

डॉ शोभाकांत झा आपन शोध पुस्तक हिंदी साहित्य को चंपारण की देन में लिखले बानी कि 'सम्पूर्ण चंपारण के भू भाग पर मूलत: भोजपुरी, मैथिली एवं बज्जिका लोकभाषा के रूप में बोली जाती है किन्तु जहाँ तक साहित्यिक योगदान का प्रश्न है भोजपुरी लोकभाषा में कई रचनाएँ यहाँ के साहित्यिक पुरोधाओं ने रची है जिसका विशेष महत्व है।'[7]

चंपारण के धरती पर महात्मा कबीर एवं उनके शिष्य भक्त भगवान गोस्वामी के द्वारा स्थापित छोटे बड़े सैकडों मठ आज भी विधमान है जो सिद्धों, तांत्रिकों, नाथ पंथियों से पूर्ण रुपेण प्रभावित हैं। कुछ सिद्धों का सम्बन्ध निश्चित रूप से चंपारण से रहा है। चंपारण से जिन सिद्धों का निश्चित सम्बन्ध माना जाता, उनमें 'चम्पकपा' हैं जिनका समय ग्यारहवीं शाताब्दी माना जाता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने चम्पकपा को चंपारण का ही माना है और प्रो.कामेश्वर शर्मा ने भी इन्हें चंपारण का स्वीकारा है। दूसरे सिद्ध कवि 'कोकालिया' निश्चित ही चंपारण के निवासी थे। उनका सम्बन्ध किसी राज खानदान से था इसलिए इन्हें चंपारण के राजकुमार के रूप में याद किया जाता है।[8]

भोजपुरी के आदि कवि महात्मा कबीर का साहचर्य चम्पारण की धरती को मिला है इसका पुष्ट प्रमाण चटिया –बडहरवा–तधवा मठ के महंत रामरूप गोस्वामी के पास सुरक्षित है। इस प्रकार संत साहित्य में कबीर पंथियों की सुदृढ परंपरा चंपारण में आज भी है उक्त मठों से प्राप्त प्रमाणों के

आधार पर कहा जा सकता है की कबीर के बीजक की रचना चम्पारण में ही हुयी है। इसकी पांडुलिपि आज भी महंत रामरूप गोस्वामी के पास सुरक्षित है। अतएव चंपारण की पावन धरती युग पुरुष कबीर की साहचर्य एवं साधना स्थली अवश्य रही होगी।[9]

भोजपुरी साहित्यकार आ भोजपुरी जिनिगी के मुख्य संपादक डॉ. गोरख प्रसाद मस्ताना के अनुसार 'कबीर आ भगवान गोस्वामी के चरण से पवित्र चंपारण के माटी आ भोजपुरी के बड़ा गहिर सम्बन्ध बा आ एह सम्बन्ध के बनावें में भगवान गोस्वामी के योगदान बहुते लमहर बा। भगवान गोस्वामी द्वारा कबीर बाबा के विचारधारा पर आधारित भगताही पंथ के स्थापना करके के एगो लमहर कम भइल। जदि कबीर के साहित्य लिपिबद्ध ना होईत त साहित्य जगत कबीर के खाली किस्से कहानी में झांकित। उनकर साहित्य से परिचित ना हो पाईत। यह हालत में निर्विवाद सत्य बा कि आज दुनिया जवन कबीर साहित्य पढ़त बा, भोजपुरी के सराहत बा ओकर श्रेय कबीर के चेला भगवन गोस्वामी के जाता।[10]

डॉ शुकदेव सिंह, संत कबीर और भगताही पंथ पुस्तक में भगताही पंथ: वृत्त अध्याय में लिखत बानी कि "भगवान गोस्वामी संत कबीर के साथ काशी और गंगा का तट पकड़े हुए नारायणी नदी के संगम स्थल से होते हुए नारायणी के किनारे किनारे एक ऐसे वीरान स्थल पर पहुंचे जिसे चटिया कहा जाता है। चटिया के नारायणी तटवर्ती एकान्त में उन्होंने कबीर के द्वारा निर्देशित अनाहद नाद की साधना की तार पकड़ कर सहजकार की भूमिका में अमृतपान किया। दरअसल कबीर के वचनों की श्रुति इसी चटिया में उनके आपने आत्मबोध के रूप में प्रत्यक्ष हुई .....भगवान गोस्वामी के लिए संत कबीर का मिलवाना और बीजक का संग्रह जितने महत्वपूर्ण हैं उतने ही महत्वपूर्ण चटिया में उनके आत्मसाक्षार के क्षण भी।"[11]

शुकदेव सिंह आगे लिखत बानी कि 'भगवान गोस्वामी संत कबीर के साथ साथ घुमाने लगे। शिक्षित थे, विद्वान थे, शायद भगवान गोस्वामी कबीर के अनुगामियों में पहले महत्वपूर्ण व्यक्ति थें जिन्होंने कबीर के वचनों को लिपिबद्ध करने का यथा संभव प्रयास किया। रमैनी, सबदी, सखी और सबदी के विभिन्न रूपों – चांचरी, बेली, विरहुली,चौतिसा इत्यादि को उन्होंने इस ग्रन्थ गुटिका का नाम बीजक रखा। बीज अर्थात मूलमन्त्र बीजक अर्थात् कबीर के अनेक प्रकार के कथनों का तारतम्यबद्ध निश्चित प्रकार के केंद्रीय विचारों से अभिप्रेरित उक्तियों का संग्रह। भगवान गोसाई का बीजक धीर धीरे कबीर का प्रतीक बन गया।'[12]

भगवान गोस्वामी के भगताही पंथ प्रवर्तक मानल जाला जे चंपारण के चटिया में कबीर वाणी के लेखन के परंपरा बीजक ग्रन्थ कर्ता के रूप में शुरू कइलें। भगताही पंथ के दोसर संत- महंत लोगन में घनश्याम गोस्वामी (बेतिया), उद्होरण गोस्वामी (दरभंगा से आकर चटिया गादी संभलले), दवन गोस्वामी, गुणाकर गोस्वामी, गणेश, कोकिल, बनवारी नयन, भीषण भूपाल, क्षत्र, राम प्रसाद, तुला, गोपाल राम लगन, राम खेलावन यदुवंशी बानी सभे आ अब राम रूप गोस्वामी एह संत परम्परा के आगे बढ़ा रहल बाड़ें।

भगताही पंथ के संतन लोगन के वाणी में भोजपुरी भासा के स्पष्ट देखल जा सकेला:-

जइसे:

1. मन्हंत घनश्याम गोस्वामी (बेतिया) ध्यानमुद्रा में जाके आपन कुटिया में पंचम सुर के गाना शुरू करसे –

करब हम कवन बहाना, गवान हमरो नगिचाना।
सब सखियाँ में मैली चुनरिया हरमो पियर घर जाना।।

2. एक डर लागे मोरे सासू ननद के
दुसरे पिया मारे ताना
बटिया चलत मोहि सद्गुरु मिलि गए, राम नाम को बखाना।।

भगताही पंथ के दोसरो संत लोगन के उपदेश में भोजपुरी आइल बा बाकिर गुणाकर गोस्वामी के उपदेश में भोजपुरी खूब निखर के आइल बा –

फुलवा भार न सही सके, कहे सखिन से रोय
ज्यों ज्यों भीजें कमरी, त्यों त्यों भारी होय।

महंत रामरूप गोस्वामी खुद भोजपुरी के एगो उद्भट विद्वान बाड़े। उनकर काव्य संग्रह चौरासी में भोजपुरी के चौरासी भक्ति धारा व प्रवचन के काव्यरूप बा। श्री रामरूप गोस्वामी के प्रभाव से खगनी गांव, मोतिहारी, पुर्वी चंपारण के प्रसिद्ध कवि श्री धनुषधारी कुशवाहा के अजगुत कबीर नामक खंड काव्य भोजपुरी भाषा में रचले महंत रामरूप गोस्वामी के कविता के एक बानगी देखीं –

निंदक निमन एह दुनिया में, जानेला सब कोई
आदमी छूई आकाश के, जबले निंदा होई।[13]

कबीर मठ के बारे में हिंदुस्तान टाइम्स लिखत बा कि:

"Champaran is known for the experiment with truth and non-violence of Mahatma Gandhi year back in 1914 but it is also the first preaching place of Saint Kabir-Chatia & Badaharwa the first preaching place of great saint is 10 km away from Areraj, a subivision under East champaran district which his first Math of the Firke Bhaktahi Branch of Kabir Panth was established year back in 1577-" (14)

निष्कर्ष

अब सवाल इ बा कि कबीर के मूल भाषा का ह?

एह कुल्ह तथ्यन के धेयान में रखल जाय त स्पष्ट होता कि कबीर चंपारण के कितना नजदीक रहले जहवाँ आजूओ 80–85 लाख लोगन के मातृभाषा भोजपुरी ह। कबीर के समय में राजस्थान में डिंगल साहित्य के भासा रहे उहें ब्रजभाषा के पिंगल कहल जात रहे बाकिर एकर प्रचार प्रसार एतना ना रहे जेतना अष्टछाप कवियन के समय में भइल। दिल्ली में हिन्दवी रहे। दक्कन क्षेत्र में हैदराबाद, दौलताबाद आ गुलबर्गा दक्कनी

हिंदी कहल गइल। एकार अलावे अवधी आ भोजपुरी के क्षेत्र रहे। भोजपुरी बिहार, उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश के कुछ जिलन में आ झारखण्ड के कइ गो क्षेत्र में नागपुरिया के नाम से बोलल जाला आ आजो चलन में बा। विद्यापति मिथिला के, सिद्ध लोग मगध क्षेत्र और नाथ पंथ के गोरखनाथ के गोरखपुर भोजपुरी के क्षेत्र ह। अवधी आ भोजपुरी में समानतो ढ़ेर बा। एह सब तथ्यन के देखत हमनी के मानल जा सकेला कि कबीर के भासा मूलत: भोजपुरी ह।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य दुर्गा शंकर मिश्र पृष्ठ संख्या- 77
2. हिंदी साहित्य का इतिहास, पं. राम चन्द्र शुक्ल, संशोधित प्रवद्धित संस्करण पृष्ठ-98
3. डॉ. उदय नारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ संख्या-254
4. कबीर: एक विश्लेषण : डॉ. प्रकाश चंद गुप्त, पृष्ठ संख्या-22
5. नागेन्द्र प्रसाद सिंह 'भोजपुरी साहित्य के संक्षिप्त इतिहास,' पृष्ठ संख्या- 31-32, लोक प्रकाशन, पटना
6. भोजपुरी भाषा का इतिहास, प्रो. गदाधर सिंह, नालंदा खुला विश्वविधालय, एम.ए. भोजपुरी भाषा, पहिलका-पत्र, पृष्ठ संख्या-214
7. हिंदी साहित्य को चंपारण की देन, चंपारण की साहित्यिक विधाओं, पृष्ठ संख्या-149, ललित प्रकाशन, 1994
8. उपरिवत, पृष्ठ संख्या- 58
9. डॉ शोभा कान्त झा, महर्षि कबीर और चम्पारण, प्रकाशक- आचार्य महंत रामरूप गोस्वामी, भगताही पन्थ, तधवा मठ, पं चंपारण, पृष्ठ संख्या 21-22, प्रथम संस्करण, 2003
10. भोजपुरी जिनिगी, तिमाही भोजपुरी पत्रिका में प्रकाशित डॉ गोरख प्रसाद मस्ताना का आलेख भोजपुरी के पुरातन आ पवित्रभूमि-चंपारण, पृष्ठ संख्या-28, जनवरी-मार्च, 2009, इन्द्रप्रस्थ भोजपुरी परिषद्, नई दिल्ली
11. संत कबीर और भगताही पंथ, भगताही वृत्त लेखक: शुकदेव सिंह, प्रकाशक: विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, बनारसी-01, पृष्ठ संख्या-06, 1998
12. उपरिवत पृष्ठ संख्या- 05
13. चौरासी, भोजपुरी काव्य संग्रह, कवि महंत रामरूप गोस्वामी, प्रकाशन: धनुषधारी कुशवाहा, वर्ष विक्रम सम्वंत 2056, पृष्ठ संख्या-24
14. Hindustan Times, Thursday, November 27, 1997

गालिब के खुतूत : 1857 के गदर के आईने में

डॉ. मोहम्मद आदिल
सहायक आचार्य, भवंस मेहता
महाविद्यालय, भरवारी कौशांबी।

मिर्जा गालिब नाम है एक युग का। उन्होंने अपने काव्य लेखन और खतनवीसी के माध्यम से न केवल उर्दू भाषा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया बल्कि अरबी और फारसी भाषा में लिखे उनके काव्य आज भी प्रासंगिक हैं। गालिब को फारसी से विशेष लगाव था। उन्होंने परम्परागत् पत्र लेखन से अलग विधा अपनायी। उनके पत्र लेखन की शैली अनोखी है। उर्दू भाषा में उनके पत्रों के दो 'संकलन उर्दू-ए-मुअल्ला' और 'ऊद-ए-हिंदी' बहुत मशहूर है। जिनके अध्ययन से न केवल उस समय के हालात का पता चलता है बल्कि उनकी भाषा शैली का भी बोध होता है। गालिब के पत्र लिखने का अंदाज ऐसा है कि जैसे दो व्यक्ति आमने-सामने बैठ कर बातें कर रहे हों। गालिब स्वयं कहते हैं कि मैंने मुरासला (पत्र) को मुकालमा (संवाद) बना दिया।

फारसी भाषा में उन्होंने दस्तंबू नामक किताब लिखी। दस्तंबू में गालिब देहली की तबाही पर दु:ख प्रकट करते हैं। गालिब 1857 ई. के गदर में मरने वालों मातम करने वालों और जीवित रह जाने वालों की बदहाली देख कर आँसू बहाते हैं। उनमें अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों हैं। हिंदुस्तानियों में केवल वही लोग नहीं जिन पर बगावत में शामिल होने का आरोप था बल्कि वे भी हैं जिन पर ये आरोप था कि वे अंग्रेजों के तरफदार और मुखबिर हैं। जैसे- मिर्जा इलाही बख्श और हकीम अहसन उल्ला खाँ को लोग यही मानते थे कि वे अंग्रेजों के हिमायती हैं। मिर्जा इलाही बख्श ने बड़ी चालाकी से अपनी बेटी हातिम जमानी का निकाह मुगल शहजादे फतह-उल-मुल्क बहादुर से करके किला-ए-मुअल्ला के राजदार हो गये थे। मिर्जा इलाही गदर के समय किले की गतिविधियों की सूचना अंग्रेजों तक पहाड़ी पर पहुँचवाते थे।[1] मिर्जा मुगल, मिर्जा खिज्र सुल्तान और मिर्जा अबूबर्क को पकड़वाने में भी मिर्जा इलाही का हाथ था।[2] अंग्रेजों की सैनिक कार्रवाहियों में मिर्जा इलाही उनका सहायक रहा और उन्हीं की सलाह पर यमुना नदी पर बने नाव के पुलों को अंग्रेजों ने तुड़वा दिया। इसी रास्ते बागियों को रसद और सहायता मिलती थी।[3] अंत में बहादुरशाह को भी पकड़वाने में उसी का हाथ था[4] गदर के समय बागियों ने हकीम अहसनउल्ला खाँ को अंग्रेजों का सहायक मानकर उनकी हवेली लूटने के बाद उसमें आग लगा दिया।[5] मौलाना गुलाम रसूल महर का बयान है कि गालिब खून-खराबे से दूर एक अमन के पैरोकार व्यक्ति थे। देहली या दूसरे शहरों में अंग्रेज मर्द, औरतों और बच्चों पर जो भी अत्याचार हुए, उनसे गालिब को गहरा सदमा लगा क्योंकि जो अंग्रेज गदर के समय मारे गए थे, उन में गालिब के मित्र और शिष्य भी शामिल थे। अल्ताफ हुसैन हाली ने लिखा है कि "गदर के जमाने में मिर्जा (गालिब) दिल्ली

से नहीं बल्कि घर से भी बाहर नहीं निकले ज्यों ही बगावत का फितना उठा उन्होंने घर का दरवाजा बंद कर लिया और एकांत में गदर का हाल लिखना शुरू कर दिया।[6] अंग्रेजों ने जब हिंदुस्तान के विभिन्न स्थानों पर विद्रोहियों पर नियंत्रण पा लिया तो उन्होंने जो अत्याचार किया गालिब ने दस्तंबू और अपने अन्य उर्दू लेखों में मातम और आँसुओं के साथ लिखा है। दस्तंबू जो गालिब का 1857 के गदर के समय लिखा गया रोजनाम्चा है जिसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्हों ने अंग्रेजों का खुलकर समर्थन किया है लेकिन जब हम उनके पत्रों का अध्ययन करते हैं तो उनमें गालिब अपने हिंदुस्तानी भाइयों की हिमायत करते हुए दिखाई देते हैं। दुनिया में गालिब को केवल एक शायर और खुतूत निगार की हैसियत से जाना जाता है। वो एक इतिहासकार भी थे, उन्हें बहादुरशाह ने सरकारी तौर पर मुगलिया खानदान की तारीख फारसी भाषा में लिखने के लिए नियुक्त किया था।[7]

उर्दू अदब में 1857 के हवाले से गालिब की पहली तहरीर उस खत को समझा जाता है जो उन्होंने हकीम गुलाम नजफ खाँ को 21 दिसंबर, 1857 को लिखा "मियाँ हकीकत-ए-हाल इस से अधिक नहीं है कि अब तक जीता हूँ, भाग नहीं गया, निकाला नहीं गया, लड़ा नहीं। किसी महकमा में बुलाया नहीं गया . . . . . आइंदा देखिए क्या होता है।"[8] 26 दिसंबर, 1857 ई. के पत्र में गालिब लिखते हैं "इंसाफ करूँ, लिखूँ तो क्या लिखूँ? कुछ लिख सकता हूँ? कुछ लिखने के काबिल हैं? तुमने मुझको लिखा तो क्या लिखा? और अब मैं जो लिखता हूँ तो क्या लिखता हूँ? बस इतना ही है कि अब तक हम-तुम जीते हैं। इससे अधिक न तुम लिखोगे? न मैं लिखूँगा।"[9]

19 जनवरी, 1858 के एक पत्र में गालिब दिल्ली के हालात के बारे में बताते हुए लिखते हैं "जो दम गनीमत है। उस वक्त तक मा-अयाल व अतफाल जीता हूँ, बाद घड़ी भर के क्या हो, कुछ मालूम नहीं। कलम हाथ में लिए पुर्जी बहुत कुछ लिखने को दिल चाहता है, मगर कुछ नहीं लिख सकता। यदि मिल बैठना किस्मत में है तो कह लेंगे वरना इन्ना लिल्लाही व इन्ना इलैही राजिऊंन।"[10] इस पत्र से ये अनुमान लगाया जा सकता है कि दिल्ली के हालात गदर के कारण कुछ इस प्रकार हो गये थे कि गालिब को ये विश्वास नहीं रह गया था कि स्थिति सामान्य होने तक वे अपने किसी अजीज से मिल पायेंगे। उन्हें ये भी डर लगातार बना हुआ था कि पता नहीं किस घड़ी उनकी हत्या हो जाये। चौधरी अब्दुल गफूर खाँ के नाम एक खत में गालिब लिखते हैं कि "मैं जन व फरजन्द हर वक्त इसी शहर में कुल्जुम खूँ का शिकार रहा हूँ। दरवाजे से बाहर कदम नहीं रखा। न पकड़ा गया न कैद हुआ, न मारा गया। क्या अर्ज करूँ मेरे खुदा ने मुझ पर कैसी इनायत की और क्या नफ़्स-ए-मुतमइन्ना बखशा। माल व आबरू में कोई फर्क नहीं आया।''

1860 ई. एक खत में गालिब देहली की बर्बादी के संबंध में लिखते है "कारी का कुँआ बंद हो गया। लाल डगी के कुएँ यक कलमखारी हो गए, खैर-खारी ही पानी पीते, गरम पानी निकलता है। परसों मैं सवार होकर कुओं का हाल मालूम करने गया था। जामा मस्जिद से राजघाट दरवाजे तक बे मुबालगा सहरा-ए-लक-ओ-दक (Deserted) है। ईंटों के ढेर जो पड़े हैं यदि उठ जायें हू का मकान हो जाये। याद करो कि मिर्जा गौहर के बागीचे के उस तरफ कोई बाँस नशीब था, अब वो बागीचे के सहन के बराबर हो गया है। . . . . . कश्मीरी दरवाजे का हाल तुम देख गये हो. . . . . कलकत्ता दरवाजे से काबुली दरवाजे तक मैदान हो गया है। पंजाबी कड़ा, धोबी कड़ा, राम जी गंज सआदत खाँ का कड़ा, जरनैल बीबी

की हवेली, राम जी दास के गोदाम वाले के मकान, साहब राम का बाग और हवेली उनमें से किसी का पता नहीं चलता. . . . . अब कुएँ जाते रहें और पानी गौहर नायाब हो गया तो ये शहर-ए-कर्बला हो जाएगा. . . . . ऐ खुदा के बंदे उर्दू बाजार न रहा, उर्दू कहाँ? दिल्ली कहाँ?"[11] वल्लाह अब शहर नहीं है, कैम्प है छावनी है, न किला न शहर, न बाजार, न नहर। साहब! कैसी साहबजादों की सी बातें करते हो दिल्ली को वैसा ही आबाद जानते हो जैसी थी। कासिम जान की गली, खैराती के फाटक तक बे चिराग है। हाँ आबाद हैं तो ये है कि गुलाम हसन खाँ की हवेली अस्पताल है और जियाउद्दीन खाँ के कमरे में डॉक्टर साहब शान-ए-इंग्लिस्तान तशरीफ रखते हैं। . . . . . लाल कुएँ के मोहल्ले में खाक उड़ती है।

गालिब अपने एक पत्र में लिखते हैं "भाइ क्या पूछते हो? क्या लिखूँ? दिल्ली की हस्ती मुनहसिर कई हंगामों पर थी। किले चाँदनी चौक, हर रोज जामा मस्जिद का मजमा, हर हफ्ते सैर जमुना के पुल की, हर साल मेला फूल वालों का ये पाँचों बातें अब नहीं।[12] फिर कहूँ दिल्ली कहाँ? हाँ कोई शहर कलम रो हिंद में उसका नाम था।"[13] शेख कलीमुल्लाह जहाँनाबादी अपने समय के बड़े दीनदार व्यक्ति थे, उनका मकबरा लाल किले और जामा मस्जिद के बीच में स्थित है। शाही जमाने में मकबरे के आस-पास शेख साहब की औलादें रहती थीं। उसी खानदान में मौलाना फखरुद्दीन मुरीद थे, जिनके पौत्र शेख नसीरुद्दीन उर्फ काले मियाँ बहादुर शाह पीर थे।[14] मीर इब्राहीम खाँ सूरती ने शेख कलीमुल्लाह की किताबें और कुतुबुद्दीन इब्न मौलाना फखरुद्दीन के हालात गालिब से मांगे। गालिब ने उत्तर में लिखा "खुदावंद नेमत! क्या तुम देहली को आबाद और किले को मामूर और सल्तनत को बदस्तूर समझते हो, जो हजरत का कलाम और साहबजादा कुतुबुद्दीन इब्न मौलाना फखरुद्दीन का हाल पूछते हो. . . . . बादशाह के दम तक ये बातें थीं। स्वयं काले मियाँ साहब मगफूर का घर इस तरह तबाह हुआ कि जैसे-झाड़ू फेर दी। कागज का पुर्जा, सोने का तार, पश्मीने का बाल बाकी न रहा। शेख कलीमुल्लाह जहाँनाबादी का मकबरा उजड़ गया है। उनके मकबरे के आस-पास जो अच्छी-खासी आबादी थी और उनकी औलादें उसी मौजे में रहती थीं, वह स्थान अब एक जंगल हैं और मैदान में कब्र, उसके सिवा कुछ बाकी नहीं। वहाँ के रहने वाले यदि कोई गोली से बचें होंगे तो खुदा ही जानता होगा कि कहाँ हैं। उनके पास शेख का कलाम भी था और उनकी कुछ निशानियाँ भी थीं। अब वे लोग ही नहीं तो किस से पूछूँ? क्या करूँ कहीं से ये पता न चलेगा।" इस पत्र से मालूम होता है कि 1857 के गदर में न केवल लोगों को जान माल की बाजी लगानी पड़ी बल्कि जो भी पूर्वजों की निशानियाँ थी, काल के गाल में समाँ गई। गदर के बाद अंग्रेजों ने देहली शहर का नक्शा ही बदल दिया था।

युसुफ मिर्जा के नाम लिखे एक पत्र में गालिब लिखते हैं "मेरा हाल सिवाय मेरे खुदा के कोई नहीं जानता। आदमी अधिक गम से सौदाई हो जाते हैं तो अक्ल जाती रहती है। यदि हुजूम-ए-गम में मेरी ताकत मुतफक्किर (Worried) फर्क आ गया है तो क्या अजब है बल्कि उसका बावर न करना गजब है। पूछों कि क्या गम है? गम-ए-मर्ग, गम-ए-फिराक, गम-ए-रिज्क, गम-ए-इज्जत में किला न मुबारक से कत-ए-नजर करके अहले शहर को गिनता हूँ। मुजफ्फर-उद-दौला, मीर नासिरुद्दीन, मिर्जा आशूर बेग, मेरा भाँजा और उसका बेटा अहमद मिर्जा मुस्तफा खाँ इब्न आजमुद्दौला और उसके दो बेटे इरतजा खाँ और मुर्तुजा खाँ काजी फैजुल्लाह क्या मैं उनको अपने अजीजों के बराबर नहीं जानता था? हकीम रजीउद्दीन खाँ, मीर अहमद हुसैन

को कहाँ से लाऊँ? हुसैन मिर्जा, युसुफ मिर्जा, मीर मेंहदी . . . . . खुदा उनको जीता रखे। काश ये होता कि जहाँ होते खुशहाल होते. . . . . भीख मांगते फिरे और मैं देखूं।" इस पत्र के आखिरी तीन पंक्तियों में देहली के उमरा की बर्बादी और बदहाली का बड़ा दर्दनाक उल्लेख मिलता है। गालिब को इस बात का बड़ा दु:ख था कि गदर के कारण उनके कई दोस्त या तो मारे गए थे या तबाह कर दिए गये। उसका दर्द इस प्रकार बयान करते हैं–

"कोई ये न समझे कि अपनी बेरौनकी और तबाही के गम में मरता हूँ। जो दु:ख मुझे है, उसका बयान तो मालूम मगर उस बयान की तरफ इशारा करता हूँ। अंग्रेजी कौम से जो उन रूसियाह कालों के हाथों कत्ल हो गए। उन में से कोई मेरा उम्मीदगाह था और कोई मेरा दोस्त, कोई मेरा यार और कोई मेरा शिष्य। हिंदुस्तानियों में कुछ अजीज, कुछ दोस्त, कुछ शिष्य और कुछ माशूक, ये सब खाक में मिल गये। एक अजीज का मातम कितना सख्त होता है, जो इतने अजीजों का मातमदार हो उसका जीना क्यों न मुश्किल हो। इतने यार मरे कि जो अब मैं मरूँगा तो मेरी मौत पर कोई रोने वाला भी नहीं होगा।" गालिब कहते हैं कि भाई वो जमाना आया है कि सैंकड़ों अजीज राही–ए–मुल्क–ए–अदम हो गये। सैंकड़ों ऐसे गायब हुए कि उनका पता नहीं जो दो–चार बाकी रहे खुदा जाने कहाँ बसते हैं कि हम उन्हें देखने को तरसते हैं।

गालिब अपने एक पत्र में लिखते हैं कि हजारों दोस्त मर गये। किस–किस को याद करूँ और फिर से फरियाद करूँ, जियूँ तो कोई गम–ख्वार (Sympathizer) नहीं, मरूँ तो कोई अजादार (Mourner) नहीं। मीर मेंहदी मजरूह के नाम एक खत में गालिब लिखते हैं "उस चर्खे कज रफ्तार का बुरा हो, हम ने उस का क्या बिगाड़ा था माल जाह व जलाल कुछ नहीं रखते थे। एक गोशा व तोशा था, चंद मुफलिस व बे नवा एक जगह फराहम होकर कुछ हंस बोल लेते थे।"

सो भी न तू कोई दम देख सका ऐ फलक।
और तो याँ कुछ न था, एक मगर देखना।।

गदर के समय गालिब के एक घनिष्ठ मित्र नवाब मुस्तफा खाँ शेफता पर बागियों के समर्थन का आरोप लगा, नवाब साहब को अंग्रेजों ने गिरफ्तार कर केवल उनकी संपत्ति जब्त नहीं की बल्कि उन्हें सात साल की कैद का हुक्म भी हो गया। गालिब तमन्ना करते हैं कि खुदा करे कि वो (नवाब साहब) छूट जायें वरना जिसे हफ्त साला की ताब उस नाज परवरदा (Fostered) में कहाँ। जनवरी 1859 में उनकी तकसीर (अपराध) माफ हुई तो गालिब लिखते हैं "नवाब मुस्तफा खाँ बे मीयाद 7 साल के कैद हो गये थे। उन्हें माफी देकर उनकी रिहाई कर दी गई और जहाँगीराबाद की जमींदारी तथा दिल्ली की अमलाक व पेंशन के बाब में हुनूज कुछ हुक्म नहीं हुआ, नवाब साहब रिहा होकर एक दोस्त के यहाँ मेरठ में ठहरें हैं।[15] गालिब उन्हें देखने के लिए मेरठ गये औए वहीं चार दिन तक रहे।"[16] गालिब अन्य लोगों के बारे लिखते हैं कि हकीम रजीउद्दीन अहमद खाँ को एक खाकी ने गोली मार दी और अहमद हुसैन खाँ और उनके छोटे भाई उसी दिन मारे गये। तायेयार के दोनों बेटे टोंक से आये थे, गदर के कारण वापस न जा सके और यहीं रहे। देहली फतह करने के बाद अंग्रेजों ने दोनों बेगुनाहों को फाँसी पर चढ़ा दिया। तायेयार खाँ बच्चों के खोने के गम में टोंक में मुर्दो से बदतर हो गए हैं। मीर झूटम ने भी फाँसी पायी। काले मियाँ (निजामुद्दीन इब्न नसीरुद्दीन) भी शहर से

भाग कर बड़ौदा, औरंगाबाद और हैदराबाद में रहे। जब उन्हें माफी मिली तो वे वापस देहली आए। रोशनुद्दौला का मदरसा जो कोतवाली के बाद चबूतरा है वो और ख्वाजा कासिम की हवेली, ये इमलाक खास हजरत काले साहब की और काले साहब के पुत्र मियाँ निजामुद्दीन साहब करार पाकर जब्त हुई और उसे नीलाम कर उसके रुपये सरकार में दाखिल कर दिया गया। हाँ कासिम जान की हवेली जिसके कागज मियाँ निजामुद्दीन की माँ के नाम हैं वह उनको यानी मियाँ निजामुद्दीन की माँ को मिल गई। निजामुद्दीन पाकपट्टन गए हैं शायद भावलपुर भी जायें।

मिर्जा इलाही बख्श जो शहजादों में हैं, उन्हें करांची जाने का आदेश है और वो इनकार कर रहें हैं, देखिए क्या हो। हकीम जी (अहसन उल्ला खाँ) को उनकी हवेलियाँ मिल गई है। अब वो अपने लोगों के साथ मकानों में जा रहें हैं। उनको आदेश है कि शहर से बाहर न जायें। मिर्जा इलाही बख्श के बारे में एक अन्य पत्र में गालिब बड़ी बेबाकी से लिखते हैं कि "मिर्जा इलाही को हुक्म करांची जाने का है, उन्होंने जमीन पकड़ी है, सुल्तान जी में रहते हैं, देखिए ये जबर उठा जाये या खुद उठ जायें।"

हकीम अहसन उल्ला खाँ के बारे में हकीम गुलाम नजफ खाँ को गालिब लिखते हैं "मियाँ तुमको मुबारक हो कि हकीम जी पर जो पहरा लगा था, हट गया है और उन्हें कहा गया है कि वे शहर से बाहर न जायें, यदि बाहर जाना हुआ तो पूछ कर जायें। सप्ताह में एक दिन कचहरी पर हाजिर हुआ करो। वो कच्चे बाग के पीछे मिर्जा जागिन के मकान में आ रहे जी उनको देखने को दिल चाहता है लेकिन सुरक्षा कारणों से नहीं जा सकता" हकीम अहसनउल्ला के बारे में बागियों को शक था कि वे छिपे तौर पर अंग्रेजों से मिलें हुए हैं और बागियों ने बहादुरशाह के सामने उन्हें कत्ल कर देने की कोशिश की थी। "दस्तंबू" के अनुसार बहादुरशाह ने स्वयं को उनके ऊपर डालकर बागियों से उनकी जान बचा ली। उसके बावजूद भी अंग्रेजों ने उनके साथ अच्छा व्यहार नहीं किया।

मुगल बादशाह बहादुरशाह का उल्लेख गालिब ने दो जगह किया है। मीर मेंहदी मजरूह ने गालिब से पूछा था कि "दस्तंबू" में बादशाह के देहली से जाने का हाल क्यों नहीं लिखा? उसके उत्तर में गालिब लिखते हैं कि "भाई मैंने 11 मई, 1857 से जुलाई 1858 तक का हाल लिखा है[17] और अंत में उसकी सूचना दे दी है। अमीरउद्दीन खाँ की जागीर मिलने का हाल और बादशाह की रवानगी क्यों कर लिखता? उनकी जागीर अगस्त में मिली, बादशाह अक्टूबर (1858) में गये।18 क्या करता अगर तहरीर मौकूफ न करता।" दूसरे स्थान पर बहादुरशाह की मृत्यु का वर्णन है इस प्रकार है–

"7 नवंबर, 1862 मुताबिक 14 जमादि अव्वल साल हाल जुमा (शुक्रवार) के दिन अबुल मुजफ्फर सिराजुद्दीन बहादुरशाह कैद फिरंग व कैद जिस्म से आजाद हुए।"

30 जनवरी, 1858 के एक पत्र में गालिब कहते हैं–

"मुझको देखो न आजाद हूँ न कैद। रंजूर हूँ न तंदुरुस्त। न खुश हूँ न नाखुशान मुर्दा हूँ न जिंदा। जैसे जीता हूँ, बातें किए जाता हूँ। रोटी रोज खाता हूँ, शराब पिये जाता हूँ। जब मौत आएगी मर जाऊँगा। न शुक्र है न शिकायत है जो तकरीर है बर सबील हिकायत है।"

गालिब ने गदर थम जाने के फौरन बाद किसी अंग्रेज से मिलने की कोशिश नहीं की हालांकि उस समय लोग अपने बचाव के लिए झूठे अफसाने बना–बनाकर अंग्रेजों की नजर में विश्वासपात्र बनना चाहते थे। मुखबिरों का बहुत जोर हो गया था। बहुतेरे उन मुखबिरों की गलत बयानी के कारण फाँसी पा गये। गालिब लिखते हैं–

"फरारी नहीं हूँ, रूपोश नहीं हूँ, बुलाया नहीं गया, दारोगीर से महफूज हूँ। किसी तरह से बाजपुर्स हूँ तो बुलाया जाऊँगा, लेकिन हाँ जब बुलाया नहीं गया, खुद भी बरू–ए–कार नहीं आया। किसी हाकिम से नहीं मिला, खत किसी को नहीं लिखा, किसी से दरख्वास्त मुलाकात नहीं की, मई से पेंशन बंद है क्यों ये 10 महीने क्यों कर कर गुजरे होंगे। अंजाम कुछ नजर नहीं आता कि क्या होगा।"

गालिब उस समय की मक्कारी जो मुखबिरों द्वारा की जा रही थी पाक थे। देहली में बगावत का आगाज 11 मई 1857 ई. को हुआ था। गालिब ने उसी दिन अपने को घर में बंद कर लिया था लेकिन शहर के हालात बराबर लेते रहे। जो खबरें उन्हें मिलती गयी उसे दस्तंबू में दर्ज करते गये। 11 मई, 1857 ई. के बारे में लिखते हैं कि देहली में फसाद 11 मई को शुरू हुआ मैंने उसी दिन घर का दरवाजा बंद कर और कहीं आना–जाना बंद कर दिया। बे शुग्ल जिंदगी बसर नहीं होती। मैं हकीम मोहम्मद हसन खाँ मरहूम के मकान में नौ–दस बरस से किराए पर रहता हूँ और यहाँ करीब दीवार ब दीवार हैं घर हकीमों के और वो नौकर हैं। पटियाला के राजा नरेंद्र सिंह बहादुर ने गदर के दरमियान गालिब की गली के पास कुछ सिपाही बैठा दिए थे जिससे उस गली में रहने वाले लोग सुरक्षित हो गये। गालिब कहते हैं कि ये सिपाही न होते तो मैं कहाँ और ये शहर कहाँ? इसे मुबालगा न जानना अमीर–गरीब सब निकल गये, जो रह गये निकाले गये। जागीरदार, पेंशनदार, दौलतमंद और अहले हिरफा कोई भी नहीं है। मुफस्सल (Detailed) हालात लिखते हुए डरता हूँ, किले के नौकरों पर शिद्दत है, बाजपुर्स और दारोगीर में फँसे हैं लेकिन वो नौकर जो इस हंगामें में नौकर हुए हैं और हंगामें में शामिल रहे हैं। मैं गरीब शायर 10 बरस से तारीख लिखने और शेर की इस्लाह देने पर रखा हुआ हूँ, इसे नौकरी समझो या मजदूरी जानों। गदर में गालिब ने किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मैं (गालिब) शहर में हूँ ये बात अंग्रेजों को मालूम है लेकिन मेरी तरफ से बादशाही दफ्तर में से, या मुखबिरों के बयान से कोई बात नहीं पायी गई। इस लिए मुझे तलब नहीं किया गया वरना जहाँ बड़े–बड़े जागीरदार बुलाये हुए या पकड़े हुए आये हैं मेरी क्या हकीकत थी। गर्ज अपने मकान में बैठा हूँ, दरवाजे से बाहर नहीं निकल सकता, सवार होना और कहीं जाना तो बहुत बड़ी बात है। रहा ये कि मेरे पास अब इस शहर में है कौन? घर के घर बे चिराग पड़े हैं मुजरिम सियासत पाते जाते हैं।

मेरा हाल मेरे सिवा खुदा जानता है। गदर के दरमियान ही गालिब के भाई इस फानी दुनिया को अलविदा कह गये। पूरा प्रकरण इस प्रकार है कि अंग्रेजी दस्ता जब दिल्ली में प्रवेश किया तो उन्हें जो भी दिखा उसे मार दिया। मिर्जा गालिब के भाई मिर्जा युसुफ जो लम्बे समय से दीवानगी का जीवन व्यतीत कर रहे थे। गोलियाँ चलने की आवाज सुन कर घर से बाहर निकले और मारे गये।[19] समय से गालिब लिखते हैं कि उसकी एक बेटी उसके चार बच्चे, उसकी माँ यानी मेरी भाभी जयपुर में पड़े हुए हैं। इन तीन बरस में एक रुपया उनको नहीं भेजा। भतीजी क्या कहती होगी कि मेरा भी कोई चचा है। इस विपदा को झेलने के लिए जिगर चाहिए। अब अपना दु:ख रोता हूँ एक बीवी दो बच्चे, तीन चार–आदमी कल्लू कल्यान, अयाज घर के

बाहर के हैं। एक पैसे की आमदनी नहीं, बीस आदमी रोटी खाने वाले मौजूद। आदमी हूँ देव नहीं, भूत नहीं, उन गमों का मैं क्या करूँ।

वही बालाखाना है और वही मैं हूँ। सीढ़ियों पर नजर है कि वो मेरी मेंहदी आये, वह युसुफ मिर्जा खाँ आये। मरे हुओं का नाम नहीं लेता, बिछ्ड़े हुओं में से कुछ गिने हैं। अल्लाह–अल्लाह हजारों का मैं मातमदार हूँ। मैं मरूँगा तो मुझ पर कौन रोयेगा। निजामुद्दीन ममनून कहाँ, जौक कहाँ, मोमिन कहाँ एक आजुरदा सो खमोश, दूसरा गालिबवो बे खुद मदहोश, न सुखनवरी रही न सुखदानी। हाय दिल्ली, वाय दिल्ली, भाड़ में जाये दिल्ली। ये गालिब का दर्द था जिसे उन्हों ने लिख कर लोगों के लिए छोड़ दिया।

चौक में बेगम के बाग के दरवाजे के हौज के पास जो कुआँ था, उसे पत्थर, मिट्टी से उसे बंद कर दिया गया है। बल्ली मारों के दरवाजे के पास कई दुकाने तोड़कर रास्ता चौड़ा कर लिया गया है। शहर के आम व खास से आबादी से अंग्रेजी सरकार का कोई लेना–देना नहीं। मिर्जा कैसर, मिर्जा जवाँ बख्त के साले मिर्जा विलायत अली बेग जयपुरी बीवी उन सब की इलाहाबद से रिहाई हो गयी। बादशाह मिर्जा जवाँ बख्त, मिर्जा अब्बास शाह, जीनत महल कलकत्ता पहुँचे और वहाँ से जहाज पर चढ़ाई होगी। देखिए कैम्प में रहें या लंदन जायें।[20] शहर में ये बात खबर तराशों ने उड़ा दी कि जनवरी, 1859 में लोगों को शहर में आबाद किया जाएगा और पेंशनदारों की झोलियाँ भर–भर कर रुपये दिए जायेंगे।[21] गालिब दिल्ली शहर के बारे में लिखते हैं कि यहाँ शहर ढह रहें हैं बड़े–बड़े नामी बाजार, खास बाजार, उर्दू बाजार और खानम बाजार आदि सब एक कस्बा हुआ करते थे लेकिन अब उनका कोई पता नहीं कि कहाँ थे। गालिब ने उस समय के प्रचलित वस्तुओं के कुछ मूल्य बताये हैं। जैसे– माश की दाल सेर, गेहूँ बारह सेर, चना सोलह सेर घी डेढ़ सेर और तरकारी महंगी। गालिब इस तरह से अपने समय में प्रचलित विभिन्न वस्तुओं का मूल्य बता रहें हैं कि जैसे सल्तनत कालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी सल्तनत काल में प्रचलित विभिन्न वस्तुओं का मूल्य लिख रहा हो। आगे गालिब दिल्ली की जलवायु के बारे चर्चा करते हैं कि कांवड़ (सावन का महीना) का महीना जिसे जाड़े का द्वार कहते हैं, पानी गर्म, तेज धूप, लूह चलती है और जेठ, आषाढ़ की सी गरमी पड़ती है।

गदर के बाद अंग्रेजों ने जमीदारों के साथ उनकी कोठियों को भी उजाड़ दिया गया था। गालिब कहते हैं कि पून टोटी के बाव में कौंसिल हुई 7 नवंबर 1859 को जारी हो गई। सालिगराम खजांची, छनामल और महेश दास को बतौर अमानी सुपुर्द हुआ है। गल्ले और उपले के सिवा कोई वस्तु ऐसी नहीं कि जिस पर महसूल न हो। आबादी का हुक्म आम है, खल्क का इजदिहाम है। अंग्रेजों ने ये भी पहले आदेश निकाला कि मकान रहें, किरायेदार न रहें अब से हुक्म हो गया कि किरायेदार भी रहें। कहीं ये न समझना कि मैं या कोई और अपने मकान में किरायेदार को आबाद करें। वे लोग जो घर का निशान नहीं रखते और हमेशा से किराये के मकान में रहते आयें हैं वो भी यहाँ रहें किंतु किराया अंग्रेजी सरकार को दें।

अंग्रेजों ने नवाब हामिद अली खाँ के सब मकानात जब्त कर लिए। महल और कोठों में अंग्रेजों ने अपना ठिकाना बना लिया है फाटक और दुकानों को गिराकर उनके मलबे बेचकर उसके पैसे सरकारी खजाने में

रखवा दिया गया। गालिब कहते हैं कि बादशाह-ए-अवध की इमलाक का ये हाल हो तो रैयत की इमलाक को कौन पूछता है?

हामिद खाँ के संबंध मे गालिब कहते हैं कि कई दिन हुए हामिद खाँ को कैद कर लिया गया है और उनके पैर में बेड़ियाँ, हाथों में हथकड़ियाँ डालकर उन्हें हवालात में रखा गया है। देखिए उनके बारे में अंतिम आदेश क्या आता है। जो कुछ होना है वो होकर रहेगा। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी हैसियत के आधार पर हुक्म हो रहे हैं। न कोई कानून है न कायदा है न नजीर काम आये न तकरीर पेश जाये। इर्तुजा खाँ इब्न मुर्तुजा खाँ की पूरी दो सौ रुपये की पेंशन मंजूरी की रिपोर्ट गई और उनके दो बहनों की सौ रुपये पाने वालियों को हुक्म हुआ, चूँकि तुम्हारे भाई मुजरिम थे, तुम्हारी भी पेंशन जब्त की जाती है। अब से दस-दस रुपये का महीना तुमको मिलेगा। गदर के बाद अंग्रेजों ने झूठे आरोपों में मुखबिरों के कहने पर कई बेगुनाह लोगों को मौत के घाट उतार दिया और उनकी जागीरें जब्त कर लीं। कईयों की पेंशन या तो कम या बंद कर दी।

गालिब गदर के समय घर में बैठकर शहर की गतिविधियों की सूचना बराबर लेते थे। गालिब को सूचना मिली कि फिरंगी शहर में एक बैरक बना रहें हैं और किले के आगे जहाँ लाल डगी है, एक मैदान निकाला जाएगा। दक्षिण की दुकाने, बहेलिया के घर, फीलखाना, बिलाकी बेगम के कूचे से खास बाजार तक ये मैदान हो जाएगा। यूँ समझो कि अमूजान के दरवाजे से किले की खंदक तक सिवाय लाल डगी के और दो चार कुओं के आसार-ए-इमारत बाकी न रहेंगे, क्यों मैं दिल्ली की वीरानी से खुश न हूँ, जब शहर के लोग ही न रहे तो शहर को लेके क्या चूल्हे में डालूँ?[22] हाफिज ममू के बारे में गालिब कहते हैं कि वे बे गुनाह साबित हो चुके हैं, रिहाई पा चुके, हाकिम के सामने हाजिर हुआ करते हैं। अपनी इमलाक माँगते हैं, परसों वे हाजिर हुए, बहस हुई, हाकिम ने पूछा हाफिज मोहम्मद बख्श कौन? अर्ज किया कि मैं! फिर पूछा ममू कौन? अर्ज किया मैं! मेरा असल नाम मोहम्मद बख्श है, ममू-ममू लोग मुझे कहते हैं। हाकिम ने कहा ये कुछ बात नहीं, हाफिज मुहम्मद बख्श भी तुम, हाफिज ममू भी तुम जो दुनिया में हैं वो भी तुम, हम मकान किसे दे दे? मसला दफ्तर में दाखिल हुआ मियाँ ममू अपने घर चले आये।

गालिब मेरठ से देहली लौटे तो यहाँ देखा कि बड़ी सख्ती है। लाहौरी दरवाजे का थानेदार सड़क पर बैठा है, जो भी बाहर से गोरे की आँख बचाकर आता है, उसे पकड़ कर हवालात में भेज देता है।[23] हाकिम के यहाँ से पाँच-पाँच डंडे लगते हैं या दो रुपये जुर्माना लिया जाता है और आठ दिन कैद रहता है।[24] उसके अतिरिक्त सभी थानों पर ये आदेश है कि पता करो कौन बे टिकट मुकीम है और कौन टिकट रखता है। थानों में नक्शे लिखे जाने लगे। यहाँ का जमादार मेरे पास भी आया। मैंने कहा भाई मुझे नक्शे में न रख। मेरी केफियत की इबारत अलग लिख इबारत ये लिख कि असदउल्ला खाँ पेंशनदार 1850 ई. से हकीम पटियाला वाले के भाई की हवेली में रहता है। न कालों के वक्त में कहीं गया न गोरों के जमाने में निकला और निकाला गया। कर्नल ब्राउन साहब के मौखिक आदेश उसकी अकामत का मदार है।[25] अब तक किसी हाकिम ने वो हुक्म नहीं बदला। अब हाकिम-ए-वक्त को अधिकार है। ये इबारत जमादार ने मोहल्ले के नक्शे के साथ कोतवाली में भेज दिया।[26] वहाँ से ये आदेश निकला कि ये लोग शहर से बाहर मकान व दुकान क्यों बनाते हैं, जो मकान बन चुकें हैं तोड़ दो और आइंदा मकान या दुकान न बनाने का हुक्म सुना दो। ये भी मशहूर है कि 5000 टिकट

छापे गए हैं[27] जो भी मुसलमान शहर में अकामत चाहें, नजराना दें। रुपया दें टिकट लें। घर बर्बाद हो जाये आप शहर में आबाद हो जाइए। गालिब कहते हैं कि आज तक शहर का हाल यही है। देखिए शहर बसने की कौन सी महूरत है? जो यहाँ रहते हैं वो भी अखराज किए जाते हैं या जो बाहर पड़े हुए हैं वो शहर में आते हैं?[28] गालिब के पत्रों से ज्ञात होता है कि मुसलमानों की तरफ से अंग्रेजी सरकार अधिक बदगुमान हैं, इसीलिए अंग्रेज उन पर अत्याचार अधिक कर रहें हैं। इसका पहला कारण दिल्ली (बहादुरशाह जफर, जनरल बख्त खाँ), लखनऊ(बेगम हजरत महल), इलाहाबाद (मौलवी लियाकत अली), बरेली (खान बहादुर), फैजाबाद (मौलवी अहमदउल्ला), फर्रूखाबाद (नवाब तफज्जल हुसैन) सुल्तानपुर (शहीद हसन), गढ़मंडला (शेख रमजान), मंदसौर (शहजादा हमायूँ फीरोजशाह) आदि स्थानों से मुसलमानों ने विद्रोह का झण्डा बुलंद किया था और दूसरा ये कि विद्रोहियों ने अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह को विद्रोह के नेतृत्व के लिए तैयार करने के लिए लाल किले में घुस कर वहाँ मौजूद अंग्रेजों की हत्या करना और तीसरा 1857 ई. के गदर में मुसलमानों को जोड़ने के लिए उलेमा द्वारा जेहाद का नारा देना और चौथा उर्दू पत्रकारिता में गदर के दरमियान लगातार मुसलमान संपादकों द्वारा अंग्रेजों और उनकी नीतियों की आलोचना करना और पाचँवा ये कि अंतिम मुगल बादशाह के साथ मुसलमानों की हमदर्दी थी, उन्होंने हिन्दुस्तान की सत्ता बचाने के लिए अंग्रेजों से खुला संघर्ष किया। गदर दबाने में अंग्रेज सफल हो गये तो मुसलमानों पर अंग्रेजों ने जुल्म-ओ-सितम के पहाड़ तोड़े। सर सैयद अहमद खाँ ने लिखा है कि 1857 का गदर जब शुरू हुआ तो मौलाना फज्ले हक खैराबादी शुक्रवार के दिन जामा मस्जिद में जेहाद के फतवे उलेमा के दस्तखत कराते हैं।[29] सहारनपुर में मौलाना मुहम्मद कासिम, मौलाना इमदादउल्ला मुहाजिर मक्की, मौलाना रशीद अहमद गंगोही अंग्रेजी सेना का मुकाबला करते हैं।[30] पूरे मुल्क में जहाँ-जहाँ बगावत की ज्वाला भड़की मुसलमानों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया और दिल्ली में 13 मई को जो दरबार होता है उसमें भी शरीक होने वाले भी अधिकांश मुसलमान थे।[31] बहादुशाह की तरफ से भी इस अवसर पर क्रांतिकारियों को पैगाम और खिलअत प्रदान किए जाते हैं। जनरल बख्त खाँ को तमाम सैनिकों का नेता बनाया जाता है। पहले पहल इंकिलाब का शोला मेरठ में भड़का तो उस में पचासी सिपाहियों में 49 मुसलमान और 36 गैर-मुस्लिम थे और फिर उन सिपाहियों के जुर्म का फेसला करने के लिए जो सैन्य अदालत कायम होती है उसमें अंग्रेजों को अपने ऐतिमाद के नौ हिंदू और छः मुसलमान अफसर मिलते हैं। इससे अंग्रेजों के दिमाग में ये बात बैठ गयी कि बगावत को भड़काने में मुसलमान हैं।32 इसके बाद से ही उन्होंने मुसलमानों को हिंदुओं से और हिंदुओं को मुसलमानों से अलग करने की नीति जोर देना शुरू किया। जिस मुल्क में सदियों से हिंदू-मुस्लिम एक साथ रहते आये थे, अंग्रेजों की उसी नीति के चलते दो राष्ट्र का सिद्धांत आया।

गालिब एक स्थान पर इन सब से अलग बयान करते हैं कि "मैं बनी आदम को, मुस्लिम या हिंदू या नसरानी, अजीज रखता हूँ अपना भाई गिनता हूँ। दूसरा माने या न माने। रही वो अजीजदारी, जिसे अहले दुनिया कराबत कहते हैं, उसे कौम, जाति और मजहब और तरीक शर्त है और उसके मदारिज व मरातिब हैं। मैं झूठ से बेजार हूँ और झूठे को मलऊन जानता हूँ, कभी झूठ नहीं बोलता।"[33] गालिब के तमाम पत्रों को खलीक अंजुम ने जमा कर "गालिब के खुतूत" के नाम प्रकाशित करवाया।[34]

दस्तंबू लिखने में तो गालिब ने बहुत सावधानी बरती है लेकिन अपने पत्रों में उन्होंने समकालीन परिस्थितियों व देहली के हालात के बारे में खुलकर लिखा है। उनके पत्र न केवल उर्दू अदब में खुतूतनिगारी के बल्कि ऐतिसाहासिक दृष्टि से 1857 के गदर के समय देहली के हालात जानने का हमारा महत्वपूर्ण स्रोत है। गालिब के पत्रों को सर्व प्रथम प्रकाशित करने का विचार उनके दो शिष्यों मुंशी हरगोपाल और मुंशी शिवनारायण आराम को आया था। गालिब को जब अपने शिष्यों के विचार की भनक लगी तो उन्होंने अपने पत्रों को प्रकाशित कराने का समर्थन नहीं किया। बाद में चौधरी अब्दुल गफूर उनके पत्रों को प्रकाशित कराना चाहा तब भी गालिब ने अनुमति नहीं दी।

गालिब ने शिवनारायण आराम को एक पत्र में लिखा है कि "कोई खत ऐसा होगा कि मैंने कलम संभालकर और दिल लगाकर लिखा हूँगा। वरना केवल तहरीर सरसरी है . . . . . क्या जरूरी है कि हमारे आपस के मामलात दूसरों को पता चलें।"[35] गालिब के अपने पत्रों को प्रकाशित न करवाने के पीछे का कारण ये था कि कहीं उनके पत्रों के बारे में सूचना अंग्रेजों तक न पहुँच जाये और वे गालिब को भी अपना शत्रु न समझने लगे क्योंकि गालिब ने अपने पत्र में अनेक स्थानों पर अंग्रेजों को निशाना बनाकर लिखा है। तीन वर्ष बाद जब मिर्जा गुलाम गौस बेखबर ने जब गालिब से उनके पत्रों को प्रकाशित कराने के बारे में पूछा तो गालिब ने उन्हें छपवाने की अनुमति दे दी क्योंकि दिल्ली में उस समय तक सब कुछ सामान्य हो गया था। गुलाम गौस बेखबर ने चार वर्ष तक गालिब के पत्र जमाँ करते रहे। इसी बीच गालिब ये चाहते थे कि उनके पत्र प्रकाशित हो जायें लेकिन दीबाचा (प्रस्तावना) लिखने से वो बचना चाहते थे। बाद में गालिब के पत्रों का संकलन "ऊद-ए-हिंदी" के नाम से गुलाम मुहम्मद गौस खाँ बेखबर ने प्रकाशित किया। उसकी पहले फसल की प्रस्तावना चौधरी अब्दुल गफूर सरवर ने लिखा था।[36] ये संकलन भी गालिब के जीवन में ही हो गया था। इसके अतिरिक्त अभी तक गालिब के पत्रों का कई संकलन प्रकाशित हो चुका है। उनमें अदबी खूतूत मिर्जा, मुहम्मद अस्करी ने मकातिब गालिब नाम से इम्तियाज अली ने खुतूत-ए-गालिब नाम से मौलवी महेश प्रसाद ने खुतूत-ए-गालिब के नाम से गुलाम रसूल महर ने नदारत-ए-गालिब के नाम से आफाक हुसैन आफाक ने गालिब के खुतूत तनवीर अहमद अलवी ने गालिब के खुतूत के नाम से खलीक अंजुम ने प्रकाशित किया। गालिब द्वारा लिखे गये पत्रों में से लगभग 886 पत्र प्रकाशित हो चुकें है।[37]

संदर्भ

1. अर्श तैमूरी, किला-ए-मुअल्ला की झलकियाँ, संपादक डॉ० असलम परवेज, उर्दू अकादमी, देहली, 2009, पृ. 63.
2. वही.
3. अर्श तैमूरी, किला-ए-मुअल्ला की झलकियाँ, पृ.63 व 64.
4. अर्श तैमूरी, किला-ए-मुअल्ला की झलकियाँ, पृ.64.
5. दस्तंबूः कुल्लियात-ए-गालिब, लखनऊ, 1872, पृ.387.
6. अल्ताफ हुसैन हाली पानीपती, यादगार-ए-गालिब, नामी प्रेस कानपुर, 1897, पृ.37.
7. पी.सी. जोशी, इंकिलाब-1857, राष्ट्रीय उर्दू भाषा विकास परिषद, नई दिल्ली, पृ.263.

8. गुलाम रसूल महर, खुतूत-ए-गालिब, इल्मी प्रिंटिंग प्रिंटिंग प्रेस, लाहौर, 1962, पृ. 378.
9. वही.
10. वही.
11. गुलाम रसूल, पूर्वोक्त, पृ. 301.
12. गालिब के खुतूत, लेखक का नाम नहीं, अनवर बुक डिपो, सन नहीं, लखनऊ, पृ.39.
13. मिर्जा मुहम्मद अस्करी, अदबी खुतूत गालिब, निजामी प्रेस लखनऊ, 1929, पृ.51.; मालिक राम, खुतूत-ए-गालिब, सरफराज कौमी प्रेस लखनऊ, 1962, पृ. 293.
14. किला-ए-मुअल्ला की झलकियाँ, पूर्वोक्त, पृ. 28.
15. गुलाम रसूल, पूर्वोक्त, पृ. 280.
16. वही.
17. गालिब के खुतूत, अनवर बुक डिपो, पूर्वोक्त, पृ.11.
18. वही.
19. ख्वाजा हसन निजामी, गदर की सुबहो शाम, देहली, पृ.88.
20. मालिक राम, पूर्वोक्त, पृ. 295.
21. मालिक राम, पूर्वोक्त, पृ. 295 व 296.
22. 1857 की कहानी मिर्जा गालिब की जुबानी, मखमूर सईदी, नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली, 2007, पृ.62.
23. मालिक राम, पूर्वोक्त, पृ. 297.
24. वही.
25. वही.
26. वही.
27. मिर्जा मुहम्मद अस्करी, पूर्वोक्त, पृ.52.
28. वही.
29. सर सैयद अहमद खाँ, असबाब-ए-बगावत-ए-हिंद, कुतुबखाना अंजुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू, जामा मस्जिद दिल्ली, 1985, पृ.37.
30. वही.
31. वही.
32. सर सैयद अहमद खाँ, पूर्वोक्त, पृ.38.
33. 1857 की कहानी गालिब की जुबानी, पूर्वोक्त पृ.64.

34. वही.

35. खत बनाम आराम, 18 नवंबर, 1858, मिर्जा मुहम्मद अस्करी, पूर्वोक्त, पृ.4.

36. मिर्जा मुहम्मद अस्करी, पूर्वोक्त, पृ.5; खलीक अंजुम गालिब के खुतूत, जिल्द-1, गालिब इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली, 1984, पृ. 25.

37. 1857 की कहानी गालिब की जुबानी, पूर्वोक्त, पृ.66.

परम्परा अतीत-अनुकरण नहीं है
(परम्परा का मूल्यांकन – रामविलास शर्मा)

प्रभात कुमार मिश्र,
हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

"European literary historiography uses the paradigm of a single dominant literary tradition. There is very little debate about the central cannons of British literature. On the other hand, in India a writer of Greek ancestry like Ashvaghosha, or of Irish nationality like Nivedita, or with Caribbean background like Naipoul or with Arabic training like Ibn Battuta, have been accepted as Indian writers. At any given time, there may be a normative code of tradition, but at the same time there exist numerous deviations from the norm. It is therefore possible to project a variety of traditions as dominant in Indian history and culture, none of which is more. or less authentic than the rest (G. N. Devy, Of Many Heroes)."

गणेश एन. देवी का कहना बिल्कुल सही है कि संसार का कोई भी देश, बहुजातीय राष्ट्र की हैसियत से, भारत का मुकाबला नहीं कर सकता। यहाँ राष्ट्रीयता एक जाति द्वारा दूसरी जातियों पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम करके स्थापित नहीं हुई। वह मुख्यत: साहित्य, संस्कृति और इतिहास की देन है। इसलिए किसी भी देश के लिए अपनी परम्परा का मूल्यांकन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना इस देश के लिए है।

यहाँ सबसे पहला और सहज प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आज हमें परम्परा के मूल्यांकन की जरूरत अनिवार्य रूप से क्यों है? वस्तुत: परम्पराएँ अतीत को वर्तमान और वर्तमान को भविष्य से जोड़ती हैं। उनके माध्यम से सामाजिक जीवन को निरन्तरता मिलती है और उसका स्वरूप निर्धारित होता है। परम्पराएँ जब तेजी से विश्रृंखलित होती हैं तब समाज की जातीय अस्मिता का ह्रास होने लगता है और धीरे-धीरे स्थिति इतनी बिगड़ती है कि समाज अपने अस्तित्व की आहटें सुनने में असमर्थ हो जाता है। विज्ञान और प्रविधि की आपाधापी के बीच ही कहीं से जड़ों की तलाश एक बार फिर परम्परा की ओर आकर्षित करती है। आधुनिकता का सम्मोहन एकबारगी और पूरी तरह से समाज को परम्परा से मुक्त नहीं करता। हालांकि, आज जहाँ हमारे देश में परम्परा के प्रति आग्रह बढ़ा है, वहीं परम्परा के राजनीतिकरण से उसकी स्वायत्तता भी प्रभावित हुई है। इस कारण से परम्परा के अन्तर्विरोधों में वृद्धि हुई है और समस्याओं के समाधान और परिवेश से उसके अनुकूलन की क्षमता में कभी आ गई है। परम्पराओं के पारस्परिक विद्वेष, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष को प्रश्रय मिला है। ये कुछ ऐसे कारण हैं जिनके फलस्वरूप परम्परा का मूल्यांकन अनिवार्य हो जाता है।

असल मे परम्परा और उससे अनुप्राणित संस्कृति मानव के सामूहिक अस्तित्व का अविभाज्य अंग होती हैं। परंपरा से एकाएक कट जाना धुरीहीनता की भावना को जन्म देता है। व्यक्ति और उसके समुदाय को परंपरा से एक विशेष पहचान मिलती है। परंपरा पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, जिन्हें उतार फेंका जा सकता है, नहीं होती किन्तु इसका यह आशय कतई नहीं है कि परंपरा रूढ़ियों का व्यर्थ समुच्चय है। परम्परा के सम्बन्ध में सबसे बड़ी भ्रांति उसे जड़ और अपरिवर्तनशील मानना है। परम्पराएँ सामाजिक विकास या ह्रास से कटी हुई नहीं होती और इन कारणों से उसके रूप में भी परिवर्तन होता है और भिन्न परम्पराओं मे पारस्परिक आदान-प्रदान भी होता है। नये संदर्भ उन्हें नये अर्थ देते हैं। परम्पराएँ स्वयं समय-समय पर अपना मूल्यांकन कर अपनी दिशा बदलती हैं। सहज विवेक और सच्ची इतिहास दृष्टि का आग्रह है कि सामाजिक मोड़ की स्थितियों में परम्परा का मूल्यांकन किया जाए और समय की माँग के अनुकूल उनमें परिवर्तन की दिशा निर्धारित की जाए। उसकी अंध विवेकहीन भक्ति एक साधन के रूप में उसकी शक्ति को सीमित करती है, क्षीण करती है। जरूरी यह है कि परम्परा साधन ही बनी रहे, साध्य बनकर पूजा की वस्तु न बन जाए।

एक अलग विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि परम्परा का मूल्यांकन इतना जरूरी है तो रामविलास शर्मा को छोड़कर दूसरे मार्क्सवादी आलोचक इस सवाल को इतना महत्त्वपूर्ण क्यों नहीं मानते? सवाल यह भी खड़ा होता है कि स्वयं मार्क्सवाद और मार्क्सवादी आलोचना के लिए यह सवाल इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है? वस्तुतः अर्थतंत्र बुनियाद है और संस्कृति उसका प्रतिबिम्ब है, इस धारणा का एक गलत नतीजा निकलता रहा है कि सामन्ती व्यवस्था खत्म हो गयी इसलिए उस व्यवस्था में उत्पन्न साहित्य भी हमारे काम का नहीं रहा और पूँजीवादी व्यवस्था के खत्म हो जाने के बाद समाजवाद कायम होने पर उस साहित्य का कोई मूल्य न होगा जो पूँजीवाद के रहते निर्मित हुआ था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि रामविलास शर्मा ने परम्परा के मूल्यांकन का सवाल गंभीर रूप से उठाया और इस दिशा में सारे मार्क्सवादी आलोचकों ने मिलकर भी इतना काम नहीं किया जितना उन्होंने अकेले ही किया है। मार्क्सवादी आलोचक के रूप में रामविलास शर्मा ने साहित्य से सम्बन्धित अनेक गम्भीर प्रश्नों का सामना किया और उनके सम्बन्ध में अपना गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया है। साहित्य के सम्बन्ध में किया जाने वाला प्राथमिक प्रश्न यह उठता है कि जब मनुष्य का जीवन और उसका समाज परिवर्तनशील है तब साहित्य के स्थायित्व के लिए उसमें शाश्वत सत्य का ही चित्रण क्यों न किया जाय?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए रामविलास शर्मा मार्क्सवाद का हवाला देकर कहते हैं कि शाश्वत सत्य जैसी कोई चीज नहीं होती है और सत्य सर्वदा ऐतिहासिक परिस्थितियों से सम्बद्ध होता है। प्रायः नैतिक मूल्यों को शाश्वत मान लिया जाता है, लेकिन नैतिक मूल्य भी समाज से परे नहीं होते। यहाँ एक दूसरा प्रश्न स्वाभाविक तौर पर यह उठ खड़ा होता है कि यदि साहित्य वर्गों से परे नहीं है तो वर्गहीन समाज में उसका क्या महत्त्व होगा, या कि साहित्य यदि किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है, तो उस व्यवस्था के बदलने पर उसका क्या मूल्य रहेगा? रामविलास शर्मा के अनुसार, इसका उत्तर यह है कि समाज का इतिहास उत्तरोत्तर विकास का इतिहास है। अगर विकास-क्रम के पिछले तत्त्वों हम छोड़ देते हैं तो अगली श्रृंखला जोड़ी नहीं जा सकती।

रामविलास शर्मा के यहाँ परम्परा और संस्कृति पर्यायवाची शब्द नहीं हैं, हालांकि, सामान्य व्यवहार में दोनों का प्रयोग बहुधा एक ही अर्थ को ध्वनित करने के लिए कर लिया जाता है। रामविलास शर्मा के अनुसार संस्कृति अधिक व्यापक अवधारणा है और परम्पराएँ किसी भी संस्कृति की बुनावट के लिए आवश्यक तो है किन्तु केवल उनसे ही पूरी संस्कृति को नहीं समझा जा सकता। इस संदर्भ में पुनः गणेश. एन. देवी के एक उद्धरण हमारी सहायता करता है जिससे रामविलास शर्मा 'परम्परा' शब्द से क्या अर्थ ग्रहण करते हैं, इसे समझा जा सकता है "The term for tradition in Indian languages, PARAMPARA, is formed by combining PARAM (Superlative of Para) and PARA. We may interpret the term to mean consideration of all literary margins. Such a view of Parampara, tradition will not be very far from the Spirit of the term Sahitya, meaning togetherness or co-existence, employed for the literary arts (G. N. Devy, Of Many Heroes)."

रामविलास शर्मा के अनुसार मार्क्सवाद मानवता के कल्याण का दर्शन है। वह संस्कृति के मूल्यवान तत्त्वों का नाश नहीं करता, उन्हें संजोकर रखता है। आज के पीड़ित जन यदि नए शोषणहीन समाज का स्वप्न देखते हैं, उसके लिए संघर्ष करते हैं, तो वह इसलिए कि पुराने मानवतावादियों ने उन्हें उस मंजिल तक पहुँचा दिया है जहाँ से वे अगली मंजिल का सपना देखें। रामविलास शर्मा के अनुसार यही वह कारण है कि न हम परम्परा से विच्छिन्न होकर प्रगति कर सकते हैं, न उसके अनुकरण मात्र से ही उसकी रक्षा कर सकते हैं। परम्परा में क्या मूल्यवान है और क्या ह्रासमान, यह समझकर विवेक से काम लेते हुए उससे सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। रामविलास शर्मा के अनुसार प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में हमें मार्क्सवाद से यह सहायता मिलती है कि हम उसकी विषयवस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर उसका उचित मूल्यांकन कर सकें। इस प्रकार से हम उन तत्त्वों को पहचान सकते हैं जो प्राचीन काल के लिए उपयोगी थे, किन्तु आज उपयोगी नहीं रह गए। हम उन तत्त्वों को परख सकते हैं जो उस प्राचीन युग के लिए भी उपयोगी नहीं थे। मार्क्सवाद के अनुसार समाज तथा संस्कृति का विकास सीधी रेखा पर, समतल भूमि पर, अबाध रूप से एक ही दिशा में नहीं होता। विकास के साथ ही पीछे हटने का क्रम भी देखा जाता है। सीधी रेखा और समतल भूमि के बदले असंगतियों से होकर, विरोधी तत्त्वों की एकता की विषय भूमि पर भी यह विकास होता है।

साहित्य में परम्परा की बात करते हुए रामविलास शर्मा ने इसे चार संदर्भों में देखा है– सामाजिक परम्परा, सांस्कृतिक परम्परा, भाषिक परम्परा और साहित्यिक परम्परा। सामाजिक परम्पराएँ सांस्कृतिक परम्पराओं को, सांस्कृतिक परम्पराएँ भाषिक परम्परा को और भाषिक परम्पराएँ साहित्यिक परम्परा को प्रभावित करती हैं। इन चारों के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होता है। इनके आपसी दोहरे सम्बन्ध का बोध आलोचना के लिए तो आवश्यक है ही इतिहास के लिए भी अनिवार्य है। इस दोहरे सम्बन्ध का बोध हम 'परम्परा का मूल्यांकन' के हिन्दी जाति के सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा से लेकर नाटककार भवभूति, तुलसी से सम्बन्धित अध्यायों, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, निराला, प्रेमचन्द, हिन्दी शब्दानुशासन, आचार्य शुक्ल और ब्रजभाषा की परम्परा, मैथिली और हिन्दी, हिन्दी भाषा, साहित्य और फिराक शीर्षक अध्यायों से भलीभाँति प्राप्त कर सकते हैं।

दूसरी तरफ, जब हम परम्परा के सवाल पर साहित्येतिहास लेखक के दृष्टिकोण से विचार करते हैं तब हम पाते हैं कि साहित्य के इतिहास लेखक का एक काम परंपरा की खोज व परंपरा का निर्माण

भी है। परम्परा का अन्वेषण ही नहीं उनका आविष्कार भी किया जाता है। साहित्य के इतिहास लेखन के प्रसंग में परम्परा की धारणा के चार प्रमुख दृष्टिकोण हैं- एक दृष्टिकोण परंपरावादी है, दूसरा आधुनिक है, तीसरा मार्क्सवादी है और चौथा उत्तर आधुनिकतावादी है। ये सभी परंपरा के प्रसंग में अपनी दृष्टि को ही सर्वसम्मत मानकर उसपर चर्चा करते हैं किन्तु 'परम्पराएँ' (बहुवचन) होती हैं, परम्परा (एकवचन) नहीं होती। परम्पराएँ एक साथ क्रियाशील होती हैं। वस्तुतः एक परम्परा का चुनाव करना उसीका हो जाना और होकर रह जाना होता है। इसके सबसे बड़े उदाहरण स्वयं रामविलास शर्मा ही हैं जिन्होंने सिर्फ इस आधार पर कि रेणु प्रेमचन्द की परम्परा के रचनाकार नहीं हैं उन्हें कम महत्त्वपूर्ण रचनाकार के रूप में स्वीकारा है।

रामविलास शर्मा से पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दो परम्पराओं के आपसी सम्बन्ध के रूप में साहित्येतिहास को परिभाषित किया था। यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका में शुक्ल जी ने लिखा था कि- जनता की चित्तवृत्तियों का 'स्थायी प्रतिबिम्ब' ही साहित्य है। बाद के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में 'स्थायी प्रतिबिम्ब' को बदलकर उन्होंने 'संचित प्रतिबिम्ब' कर दिया और लिखा कि "चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य की परंपरा से उसका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास है।" स्पष्ट है कि शुक्ल जी दो परम्परा की बात कर रहे हैं- पहली है चित्तवृत्तियों की परम्परा, इसे चेतना की परम्परा भी कहा जा सकता है, और दूसरी इस चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में साहित्य की परम्परा। बाद में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जोर परम्पराओं के नैरन्तर्य पर रहा है। परम्पराओं की निरन्तरता का अन्वेषण उनके यहाँ साहित्य का केन्द्रीय तत्त्व है। नलिन विलोचन शर्मा ने भी हिन्दी की पाँच परम्पराओं की चर्चा की है- भौतिकता, यथार्थवादी, भाववाद, मानवतावाद और धार्मिकता। नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार परम्परा श्सदानीराधाराश है।

इन सबसे विशिष्ट रामविलास शर्मा ने परम्परा को ठीक से समझने के लिए उसे एक प्रक्रिया के रूप में लिया है। उनके अनुसार परम्परा से साक्षात्कार का मतलब आत्ममुग्धता नहीं है और न ही अतीतग्रस्तता। परम्परा से साक्षात्कार का मतलब है एक भरे-पूरे समाज की गतिशीलता का साक्षात्कार। यही कारण है कि जीवन और मानव प्रेम में आस्था और विश्वास दिखाने के लिए वे साहित्य की परंपरा- वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी, निराला, प्रेमचन्द की ओर जाते हैं।

गीतकार शैलेंद्र

डॉ शालिनी सिंह
असि.प्रो.(हिंदी) राज.महिला स्नात. महाविद्यालय सिरसागंज, फिरोजाबाद

शोध सार

गीतकार शैलेंद्र का रचना कर्म उनके जीवन संघर्षों का परिणाम है, "गम ना कर जमाना और आएगा' पंक्ति उनके गीत-सृजन के पीछे की शक्ति को निरूपित करती है। शंकर शैलेंद्र ने राष्ट्र-जीवन व मानव-जीवन के सभी पहलुओं यथा राष्ट्रीयता, देश-भक्ति, प्रेम,करुणा, प्रगतिशील, अक्खड़ता आदि को अपने गीतों में व्यक्त किया,वह कहीं ना कहीं उनके निजी जीवन के अनुभवों की थाती थी। "हर दिल जो प्यार करेगा, वह गाना गाएगा, दीवाना सैकड़ों में पहचाना जाएगा, ("संगम') के गीतकार की अमरता का यही प्रमुख कारण है कि गीतकार के गीत कृत्रिम नहीं, वरन् जीवन के संघर्षों से नि:सृत हैं। गीतकार स्वयं में लोक-पक्ष का दीवाना था जिसके लोक-पक्ष में लोकमंगल का भाव सन्निहित था। "शंकर नाम को चरितार्थ करने वाला लोकमंगल का साधक, राष्ट्र-जीवन व मानव-जीवन में "सत्यम शिवम सुंदरम' का आकांक्षी था। "सजन रे झूठ मत बोलो, खुदा के पास जाना है, ना हाथी है ना घोड़ा है, वहां पैदल ही जाना है', (तीसरी कसम)गीत से मानव को भौतिकतावादी जीवन के कुत्सित भाव से आगाह करता हुआ गीतकार सहज, सरल, समृद्ध जीवन के माध्यम से आध्यात्मिक मानव-जीवन का संदेश देता है। तभी शंकर शैलेंद्र के गीत कृत्रिम नहीं, बनावटी नहीं, अतिरेकता से मुक्त सहज, सरल,स्वाभाविक और सपाट है। शैलेंद्र ने स्त्री-पुरुष के सहज प्रेम, विरह व जीवन के अन्यान्य पहलुओं को विशुद्ध मानवीय रूप से सृजित किया है। यही कारण है कि गीतकार शैलेंद्र फिल्म-जगत में ही नहीं, अपितु मानवीय राग-पक्ष में स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं।

बीज शब्द-संवेदनशील, लोकपक्ष, प्रगतिशील, राष्ट्रीयता, सहजता, लोक-मंगल, यथार्थ।

"हर दिल जो प्यार करेगा वो गाना गायेगा।
दीवाना सैकड़ों में पहचाना जायेगा।।
दीवाना....." (फिल्म -संगम)

दीवानों की एक नई परिभाषा गढ़ने वाले कवि और गीतकार शैलेंद्र भले ही आज इस दुनिया में नहीं है किंतु अपने गीतों के माध्यम से वे ना केवल फिल्मी जगत अपितु संपूर्ण विश्व में सदैव अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहेंगे। "जीना यहां मरना यहां इसके सिवा जाना कहा।" के माध्यम से जीवन की यथार्थता का बोध

कराने वाले शैलेंद्र का जीवन अत्यंत संघर्षपूर्ण रहा। 30 अगस्त 1923 को पाकिस्तान के रावलपिंडी में जन्मे शैलेंद्र के पिता ने बालक को भगवान शंकर का प्रसाद मानकर नाम भी शंकर रख दिया।

इनकी प्रारंभिक शिक्षा - दीक्षा रावलपिंडी में ही प्रारभ हुई। बालक शंकर बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि के थे इसलिए प्रत्येक कक्षाओं में अच्छे अंको से उत्तीर्ण होते रहे। बालमन कच्ची मिट्टी के समान होता है इस पर जो छाप पड़ जाए वह आसानी से नहीं मिटती। ऐसा कुछ बालक शंकर के साथ घटित हुआ कि उन्होंने अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी जब थोड़ा प्रबोध हुआ तो पुनः पढ़ाई प्रारंभ की।

"एक दिन अपनी एक सहपाठी को इन्होंने जो पीटते देखा तो मन में मार का ऐसा डर बैठ गया कि स्कूल जाना ही बंद कर दिया फिर जब एक ग्यारह वर्ष के हुए तब पढ़ाई प्रारंभ हुई।"[1]

विपरीत पारिवारिक परिस्थितियों में शंकर ने मथुरा के राजकीय हाई स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। आगे की पढ़ाई के लिए मथुरा के किशोरीरमण कॉलेज में प्रवेश लिया। कालेज में होने वाले कवि-सम्मेलनों ने शंकर को आकर्षित किया और इनके अंतस् में छिपा बैठा कवि भी कविता लिखने लगा और सहपाठियों के बीच काव्य-पाठ करने लगा। धीरे-धीरे कालेज के कवि को मंच पर स्थान मिलने लगा तथा एक नवोदित कवि के रूप में शंकर की रोमानी, देशभक्तिपूर्ण कविताएं युवाओं को आकर्षित करने लगीं और इस आकर्षण का एक और भी विशिष्ट कारण था -शंकर का कविता कहने का अपना एक जुदा अंदाज।

अपनी कविताओं को मिल रही निरंतर लोकप्रियता व प्रसिद्धि के कारण शंकर ने अपना उपनाम "शैलेन्द्र" रख लिया और इसी नाम से हंस, धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, माधुरी आदि प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कविताएं प्रकाशित होने लगीं।

सामाजिक राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति पर पड़ता ही है, शैलेंद्र का भी संवेदनशील कवि मन इन सभी परिस्थितियों, घटनाओं से अछूता नहीं रहा। कभी शैलेन्द्र जी पारिवारिक, आर्थिक समस्याओं से जूझते तो कभी सामाजिक विषमताओं और ब्रिटिश सत्ता के अत्याचारों से त्रस्त भारतीयों की आर्त पुकार उनके मन को अंदर तक झकझोर देती। गांधीजी की अंग्रेजों के विरुद्ध "भारत छोड़ो अभियान" में देश के हजारों युवाओं के साथ शैलेंद्र भी इस महायज्ञ में कूद पड़े और आक्रोशित युवाओं ने ब्रिटिश चौकियों, डाकखानों आदि को आग के हवाले कर दिया परिणामस्वरुप जेलखाने युवाओं से भरे जाने लगे।

"शंकर सिंह शैलेंद्र और उनके साथियों को भी शासन का तख्ता पलटने का षड्यंत्र रचने और तोड़फोड़ के आरोपों में गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया।"[2]

जेल से छूटने के पश्चात शैलेंद्र मजदूर यूनियन और जन नाट्य संघ (इप्टा) के सक्रिय सदस्य के रूप में शोषितों, पीड़ितों और वंचितों के पक्ष में अपनी आवाज कविताओं के माध्यम से बुलंद करने लगे। इप्टा के मंचसे गाए गए उनके गीत मुंबई की मजदूर जनता में छा गए क्योंकि शैलेंद्र के गीतों में शोषित वर्गों के प्रति सहानुभूति, सामाजिक भेद-भाव समाप्त करने, शोषितों के उद्धार का उद्घोष था। अपनी कवि- मन की इसी प्रवृत्ति के कारण एक गीतकार हिंदी के प्रगतिशील लेखकों अमृतराय, रामविलास शर्मा, धर्मवीर भारती,

कमलेश्वर, नागार्जुन आदि अनेक ऐसे साहित्यकारों की पंक्ति में पहुंचा जो कि अपने जनवादी विचारों को साहित्य के माध्यम से जनता तक पहुंचाते थे। शैलेंद्र अब गीतकार और साहित्यकार हो गए।

शैलेंद्र मुंबई में जन नाट्य संघ की एक काव्य -संध्या में अपना गीत "जलता है पंजाब साथियों" को जब गाना प्रारंभ किया तो उसके प्रभाव से न केवल दर्शक दीर्घा में उपस्थित सभी लोग प्रभावित हुए बल्कि वहां पर उपस्थित "द शोमैन राजकपूर" भी इस प्रभाव से अछूते ना रहे। यह गीत पंजाब और बंगाल विभाजन के पश्चात देश के कोने -कोने में फेली हुई अराजकता पर आधारित था। शैलेंद्र की वाणी की ओजस्विता, उत्तेजकता और शब्द -चयन को जब राज कपूर ने सुना तभी उन्होंने निश्चय कर लिया कि अपनी फिल्मों में वे शैलेन्द्र से गीत अवश्य लिखवाएंगे।

राज कपूर ने अपनी फिल्म "आग" में गीत लिखने के लिए कहा तो शैलेंद्र ने फिल्मी-गीत विधा को साहित्य की अपेक्षा निम्नतम स्तर का मानकर गीत लिखने के लिए स्पष्ट मना कर दिया और कहा कि वे फिल्मों में गीत लिखकर अपनी कलम का अपमान नहीं करना चाहते हैं और नपे-तुले शब्दों में राजकपूर,"द शोमैन राजकपूर" को यह कहकर कर मना कर दिया कि, "मैं पैसों के लिए नहीं लिखता कोई ऐसी बात नहीं है जो मुझे आपकी फिल्म में गाना लिखने के लिए प्रेरणा दें। मैं क्यों लिखूं?"[3]

शैलेंद्र का यह "इनकार" ही राज कपूर को लुभा गया, उन्होंने शैलेंद्र में अपनी ही प्रतिच्छवि दिखाई दी। उन्होंने शैलेंद्र को अपना पता देते हुए कहा कि जब इच्छा हो तो मुंबई आ जाना। शैलेंद्र का फिल्मों के लिए "नकार" भाव अधिक समय के लिए टिक ना सका, आर्थिक किल्लतों ने शैलेंद्र को फिल्मों में लिखने के लिए विवश कर दिया और उन्होंने राजकपूर की फिल्म बरसात के लिए गीत लिखा। गीत के बोल थे-

"बरसात में हमसे मिले तुम सजन।
तुमसे मिले हम....बरसात में।" (फिल्म- बरसात)

अपनी रचना काल के इतने समय बाद भी यह गीत युवाओं के दिल पर राज कर रहा है। इस गीत को सुनकर प्रेमी युगल प्रेम की बरसात की फुहारों में भींगने लगते हैं। यह गीत शैलेंद्र के लिए गीतों की दुनिया में मील का पत्थर साबित हुआ। इसके पश्चात् तो राजकपूर और गीतकार शैलेंद्र की जोड़ी ने एक से बढ़कर एक लोकप्रिय गीतों की लंबी पंक्ति खड़ी कर दी जिस की दीवार को फांदना शायद ही किसी गीतकार के लिए आज भी संभव हो।

शैलेन्द्र की फिल्मी-गीत यात्रा "बरसात" (1949) से प्रारंभ होकर "ममता की छांव" (1989) तक निर्बाध रूप से चलती रही। इस अनथक यात्रा में उन्होंने 171 हिंदी तथा 6 भोजपुरी फिल्मों को मिलाकर लगभग 800 फिल्मी गीत लिखे। शैलेंद्र को "मेरा दीवानापन है" (फिल्म -यहूदी 1958),"सब कुछ सीखा हमने..." (फिल्म -अनाड़ी, 1959)और "मैं गाऊं ,तुम हो जाओ" (फिल्म -ब्रह्मचारी, 1968)के लिए तीन बार सर्वश्रेष्ठ गीत लेखन के लिए "फिल्म फेयर पुरस्कार" से भी सम्मानित किया गया।

फिल्मों में जब दृश्य, भावाभिव्यक्ति करने में असमर्थ हो जाते हैं तो उसकी कमी गीतों के द्वारा पूरित की जाती है गीतों को फिल्म की आत्मा कहा जाता है। शैलेंद्र फिल्म की इस प्रवृत्ति से भली–भांति परिचित थे, वे गीतों के माध्यम से परिवेश, संस्कृति, आचार– व्यवहार व आम जनमानस के अंतर्मन की भावनाओं को सहजता से अभिव्यक्त कर देते थे इसी कारण उनके द्वारा लिखे गए गीत वैश्विक प्रसिद्धि पा जाते थे।

आर. के. बैनर तले निर्मित "बरसात" (1949), "आवारा" (1957), "आह" (1953), "बूट पॉलिश" (1954), "श्री 420" (1955), "जिस देश में गंगा बहती है" (1960), "कल आज और कल" (1962), "बंदिनी" (1963), "संगम" (1964), "गाइड" (1965), "ज्वेल थीफ" (1967) "मेरा नाम जोकर" (1970) आदि फिल्मों के कर्णप्रिय और मधुर गीतों के सर्जक कवि और गीतकार शैलेंद्र ही है।

कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति वाला रचनाकार फिल्म–जगत में वह स्थान और रुतबा प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका जो कि शैलेंद्र ने प्राप्त किया क्योंकि पहले तो शैलेंद्र फिल्मी–विधा की विसंगतियों को स्वीकारते हुए उसकी विशेषताओं के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सफल रहे और दूसरे राजकपूर जैसा कला–पारखी जिसने सदैव शैलेंद्र के संवेदनशील कवि–मन को कांच की तरह संभाल कर रखा और कवि की स्वायत्तता की रक्षा व सम्मान करते हुए राजकपूर ने कभी भी शैलेंद्र को गीत लिखने के लिए विवश नहीं किया।

शैलेन्द्र ने स्वतंत्र रूप से अंत:प्रेरणा से ही गीत लिखे। इस बाबत राजकपूर बताते हैं कि– "उन्होंने पैसों के लोभ में कभी भी गीत नहीं लिखें। यदि ऐसा होता तो उस लोकप्रिय गीतकार ने अब तक न जाने कितने बिल्डिंगें खड़ी कर ली होती। गीत लिखने के लिए जब तक उनके अपने अंदर से भावों की गूंज नहीं उठती तब तक वे नहीं लिखते थे।..... वह जो कुछ भी लिखते थे वह उनकी अंतरात्मा से निकलता था।"[4]

फिल्मी सिचुएशन के अनुसार गीत लिखना भी गीतकार के प्रतिभा को प्रमाणित करता है शैलेंद्र ने जब कभी सिचुएशन के अनुरूप गीत लिखे भी तो उन गीतों में भी अपने अंतस का ही विस्तार किया–

"आवारा हूं या गर्दिश में हूं
आसमान का तारा हू।" (फिल्म –आवारा)

इस गीत में शैलेंद्र एक ऐसे व्यक्ति का जीवन खाका खींचते हैं जो कि समाज की दृष्टि में बेकार है, बेरोजगार है और जिसे आवारा की संज्ञा दी जाती है, इसी कारण इस आवारे का इस धरती पर कोई घर–बार नहीं है क्योंकि इस धरती पर समता–विषमता की गहरी खाई है जहां वह अपने लिए कोई स्थान नहीं बना पाता है। इसलिए वह स्वयं को उस आसमान का वासी बताता है जहां सभी समान है, ऊंच–नीच का भेद नहीं है, सभी अपने हिस्से की कांति प्रसारित करते हैं इसी गीत में आवारा कहता है कि–

"आबाद नहीं, बर्बाद सही,
गाता हूं खुशी के गीत मगर ,
जख्मों से भरा सीना है मेरा ,
हंसती है मगर यह मस्त नजर

दुनिया में मेरे तीर का
या तकदीर का मारा हूं।"

शैलेन्द्र ने इस गीत में एक ऐसा पात्र सृजित किया है जो भले ही निर्धन है परंतु अपनी इस परिस्थिति में भी वह प्रसन्न रहता है, भले ही उसका जीवन दुख:पूर्ण है फिर भी वह दूसरों को प्रसन्नता ही देता रहता है। सामाजिक रुप से बहिष्कृत इस आवारे को शैलेंद्र ने अपने गीतों के माध्यम से दर्शकों की सहानुभूति का पात्र बना दिया।

शैलेंद्र के प्रगतिशील विचार उनके गीतों में भी दिखाई देते हैं, अपने गीतों के माध्यम से शैलेंद्र शोषक व शोषित के बीच एक निश्चित रेखा खींच देते हैं। शैलेंद्र की यह चाहना थी कि भले ही धन का सामान वितरण समाज में संभव न हो परंतु उचित वितरण तो अवश्य हो ताकि लोगों को रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित ना होना पड़े क्योंकि यह शोषित वर्ग थोड़े की पूर्ति में संतुष्ट हो जाता है और यही इस वर्ग की आवश्यकता पूर्ति की सीमा भी है–

"जादा कि नहीं लालच हमको
थोड़े में गुजारा होता है।" (फिल्म –जिस देश में गंगा बहती है)

भारतीय संस्कृति के मूल भाव 'अतिथि देवो भव:' के दर्शन हमें शैलेंद्र के गीतों में भी मिलते हैं, वे कहते हैं कि–

"मेंहमां जो हमारा होता है
हमें जां से प्यारा होता है।" (फिल्म–जिस देश में गंगा बहती है)

शैलेंद्र के लिए भारत एक भौगोलिक मानचित्र नहीं है, इनकी देशभक्ति किसी सीमा में बंधकर नहीं रह पाती है। शैलेंद्र स्वयं को उस देश का वासी बताते हैं जहां गंगा केवल भौगोलिक सीमा में ना बहकर लोगों के अंतस् में बहती है अर्थात गंगा की पवित्र, निर्मल, उज्जवल धारा भारतीयों के शरीर के मैल को ही नहीं साफ करती है बल्कि, उनके मन के मैल गंदे व कुत्सित विचारों को भी साफ करके उनके दिलों में सच्चाई, ईमानदारी आदि के रूप में निरंतर प्रवहमान होती रहती है–

"जहां होठों पर सच्चाई रहती है
जहां दिल में सफाई रहती है
हम उस देश के वासी हैं
जिस देश में गंगा बहती है।" (फिल्म–जिस देश में गंगा बहती है)

"प्रगतिशील कवि जिस ममत्व से बंगाल के साथ हाथ मिलाता है उसी ममत्व से केरल के साथी को भी भेंटता है और उसी स्नेह के साथ नई चीन, सोवियत यूनियन, लैटिन अमेरिका, अफ्रीका तथा अन्य देशों की जनता को भी छाती से लगाता है।"[5]

शैलेंद्र के गीतों में भारतीयता का स्वस्थ, सुंदर व संतुलित समन्वय दिखाई देता है साथ ही साथ वसुध ैव कुटुंबकम की भावना भी परिलक्षित होती है–

"मेरा जूता है जापानी
यह पतलून इंगलिस्तानी
सर पे लाल टोपी रूसी
फिर भी दिल है हिंदुस्तानी।" (फिल्म –श्री 420)

शैलेंद्र के प्रणय गीतों में प्रेम सतही न हो करके अपने विराटत्व में है। शैलेंद्र के लिए प्रेम प्रत्येक परिस्थिति में स्त्री–पुरुष का जीवन के प्रत्येक मोड़ पर एक–दूसरे के साथ खड़ा होना है और यह प्रेम अपनी विराटत्व में धीरे–धीरे प्रकृति के कण–कण में प्रसार पाता है–

"ये गोरी नदियों का चलना उछलकर
कि जैसे अल्हड़ चले पिया से मिलकर
प्यासे–प्यासे ये नजारे हैं हर कहीं।" (फिल्म–मधुमती)

शैलेंद्र के गीतों में प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए एक कोना ढूंढ ही लेता है। जीवन के प्रत्येक आयु वर्ग के लिए गीत शैलेंद्र ने अपनी कलम से रचे हैं। 'बचपन ओ प्यारे–प्यारे बचपन' (फिल्म–मेरी दीदी), 'मत जा मत मेरे बचपन नादां' (फिल्म–छोटी सी मुलाकात), 'अब के बरस भेज भैया को बाबुल' (फिल्म–बंदिनी), "राजा की आएगी बारात" (फिल्म–आह), 'नन्हें– मुन्ने बच्चे तेरी मुट्ठी में क्या है' (फिल्म–बूट पॉलिश),' तू प्यार का सागर है' (फिल्म–सीमा), 'प्यार हुआ इकरार हुआ' (फिल्म–श्री 420), 'यह रात भीगी– भीगी' (फिल्म–चोरी चोरी) आदि अनेक ऐसे गीत शैलेंद्र ने रचे हैं जिनको सुनकर के बाल–मन से लेकर वृद्ध तक झूम उठता है। शैलेंद्र के गीतों में लौकिक के साथ–साथ पारलौकिक संसार की भी बात की गई है ।एक प्रकार की दार्शनिकता दिखाई देती है कि संसार नश्वर है, क्षणभंगुर है इसलिए इंसान को सदैव सत्य, ईमानदारी, सच्चाई को ही जीवन का परमलक्ष्य मानना चाहिए–

"सजन रे झूठ मत बोलो
खुदा के पास जाना है
ना हाथी है ना घोड़ा है
वहां पैदल ही जाना है" (फिल्म –तीसरी कसम)

शैलेंद्र के गीतों में कहीं भी कृत्रिमता नहीं है, बनावट नहीं है, अतिरेक नहीं है, जो कुछ भी है,वह अपने स्वाभाविक रूप में है, सहज है, सपाट है। शैलेंद्र के गीत आसानी से लोगों की जुबान पर चढ़ जाते हैं, उन्हें हंसाते हैं, रुलाते हैं, जगाते हैं परंतु जबरदस्ती नहीं। शैलेंद्र के गीतों का संसार अत्यंत विशाल है, अपने गीतों के माध्यम से शैलेंद्र ने स्त्री पुरुष के सहज प्रेम, विरह आदि को बिल्कुल आदिम और मानवीय रूप में दिखाया है, यहां कुछ भी कृत्रिम नहीं है।

साहित्यिक प्रवृत्ति के व्यक्ति का अपनी प्रगतिशीलता के साथ फिल्मी गलियारे में जाना और सफलता के उच्चतम् शिखर तक पहुंचना ना तो साधारण बात है और ना ही आसान परंतु शैलेंद्र ने असाधारण से कार्य को अपनी गहरी सूझ-बूझ और सूक्ष्म सामंजसय क्षमता के साथ बखूबी निर्वहन किया है। शैलेंद्र का फिल्मी-जगत में दिया गया योगदान फिल्मी गीतों के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में सदैव अंकित रहेगा।

संदर्भ

1. हिंदी चित्रपट का गीति-साहित्य, डॉ ओंकार प्रसाद माहेश्वरी, पृष्ठ 321।
2. हिंदी के प्रगतिशील कवि, डॉ रणजीत, पृष्ठ 173।
3. धर्मयुग, राज कपूर, 1 जनवरी 1967 पृष्ठ 43।
4. राज कपूर: आधी हकीकत आधा फसाना, प्रहलाद अग्रवाल, पृष्ठ 48।
5. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, नामवर सिंह, पृष्ठ 105।

'तथागत' जैसा कोई नहीं

डॉ. मधुलिका बेन पटेल
सहायक प्राध्यापक
हिन्दी विभाग
तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तिरुवारुर
तमिलनाडु

'तथागत' वरिष्ठ साहित्यकार गोरखप्रसाद 'मस्ताना' की बेहतरीन कृति है. यह प्रबंध काव्य की दुनियां में तथागत बुद्ध की महागाथा को लाने वाली महत्वपूर्ण रचना है। लगभग सौ पृष्ठों में गौतम बुद्ध की जन्म से लेकर निर्वाण तक की तमाम घटनाओं को काव्य शैली में उकेरा गया है। इस रचना ने काव्य की दुनियां में विश्व के सबसे प्रभावशाली व्यक्तित्व की जीवन गाथा को सामने रखा है। यह प्रबंध काव्य कुल नौ सर्गों में विभाजित है, जिनमें उद्देश्य, बुद्ध का जन्म, चिंतन, महाभिनिष्क्रमण, ज्ञान प्राप्ति, यशोधरा, अष्टांगिक मार्ग, महानिर्वाण, पावन स्मरण हैं। यह निर्विवाद है कि इस संसार में कोई सबसे अधिक प्रतिभाशाली और प्रभावशाली अगर हुआ तो वह बुद्ध ही थे। उनके जैसा न कोई हुआ न होगा, ऐसा अनुमान है। बुद्ध ने किसी को झूठी दिलासा न दी। उनके अनुसार आत्म बोध ही सर्वोपरि है जो समस्त ज्ञान का मूल है. धरती के हर हिस्से पर बुद्ध की अमिट छाप है। यह बात अलग है कि उन्हें मिटाने के तमाम कुचक्र अविराम रहें हैं। समस्त जीव-जगत के हित के लिए बुद्ध अंतिम आशा हैं, समता के लिए उनकी शिक्षाएं अनिवार्य हैं। डॉ. गोरखप्रसाद 'मस्ताना' इस आवश्यकता को भली-भांति समझते हैं और शब्दों की दुनियां में 'तथागत' को उकेरतें हैं। इस रचना के आरम्भ में ही उद्देश्य स्पष्ट किया गया है। रचनाकार को इस बात का अहसास है कि यह काव्य इतने विराट व्यक्तित्व के आगे श्रद्धा के दो सुमन मात्र हैं, किन्तु हम पाठकों के लिए यह काव्य बहुत ही महत्वपूर्ण है।

समूची प्रकृति के रक्षार्थ बुद्ध की शिक्षाओं को जानने की बहुत आवश्यकता है। रचनाकार का यही उद्देश्य है कि बुद्ध के उपदेशों को आधार बना कर जीवन को अधिक सार्थक करना है-

> "मेरा एक उद्देश्य जगत अमिताभ प्रभु को जाने
> पहले से भी अधिक आस्था के संग उनको माने
> प्रकृति के इस महापुरुष को अंतर से पहचाने
> चलें कृपा से उनकी अपना जीवन और सजा लें।"[1]

बुद्ध के महान चरित्र का गायन की रचनाकार को उत्कट अभिलाषा है। बुद्ध के विषय में रचना करना शब्दों की सही सार्थकता है-

"उत्कट अभिलाषा मातृभाषा में कुछ गाँऊं
हिन्दी के चरणों में श्रद्धा के दो सुमन चढ़ाऊँ
समय सहायक होना, मैंने शुरू किया एक गान
मिले शब्द को दिव्य दीप्ति साक्षी हों बुद्ध महान"[2]

विकारों पर विजय प्राप्त करना बौद्ध पथ की नींव है। यह दर्शन किसी को छलता नहीं। मुक्ति शब्द का आशय यहाँ किसी पारलौकिकता से नहीं है वरन देह के भीतर जड़ जमाई तमाम कलुषित भावनाओं से है, जिनके कारण ही इस धरा पर असुंदर का राज है। बौद्ध पथ दुर्दमनीय इच्छाओं पर विजय का सन्देश देता है तथा प्राणी मात्र के हित के निहितार्थ है उसका सन्देश इस प्रकार है –

"निष्कलंक, निश्छल, निर्मल जिनका था जीवन दर्शन
उनके पावन चरणों में ही मेरा सकल समर्पण
शाक्य मुनि की कथा श्रवण से हृदय में है स्पन्दन
कमल सरिस उनके पग में, अर्पित भावों का चन्दन।"[3]

जिस समय जन को प्रपंचों में बांधा जा रहा था, उसे कहीं त्राण न था। उस समय बौद्ध पथ ने ज्ञान परम्परा की नींव डाली। ऐसे ही समय की चर्चा करते हुए रचनाकार कहते हैं–

"दिग दिगंत में जातिवाद औ' वंशवाद का नाच
अहंकार नभ चूमे, धरती पर धोखे की धारा
ईर्ष्या में रत हृदय हृदय से बरस रहा अंगारा
चिंतातुर मानव है आखिर, पाए कहाँ सहारा"[4]
'' '' ''
"हिंसा का तांडव सड़कों पर, मचा हुआ चहुँ ओर
अँधेरा बलवान हुआ, कुंठित हो गया अँजोर
धर्म ओढ़ कर कुकर्म का ही, जोर चला घनघोर
झूठ विंहसता सभा मध्य में, करता भरी शोर"[5]

उस समय की ऐतिहासिकता पर भी रचनाकार की गहरी पकड़ है। कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारियों को गीत एवं तुकांत शैली में किस प्रकार लाना है यह कवि की योग्यता के कारण ही संभव हो पाया है। द्वि तीय सर्ग 'बुद्ध का जन्म' में प्रारंभ से ही कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों की सत्यता का पूर्णत: निर्वाह किया है। इस लिहाज से यहाँ रचनाकार कवि भी है और इतिहास का ज्ञाता भी।

ईसा पूर्व पांच सौ तिरसठ का था वर्ष महान
दिन वैशाख पूर्णिमा को आया प्राणों का प्राण
दिव्य रूप औ' रंग अलौकिक ज्यों पूनम का चान
हुआ अवतार जिसका वो था ज्योति पुंज दिनमान"[6]

बुद्ध के जीवन से सम्बंधित घटनाएँ जैसे-जैसे आगे इतिहास में बढ़ती हैं वैसे-वैसे रचनाकार सुन्दर और उपयुक्त शब्द गढ़ कर उसे मोती की तरह माला में पिरोते जाते हैं।

था 'दयावान ह्रदय कोमल/ देखा जो एक पक्षी घायल/ दौड़ा औ' कर में उठा लिया/ हो गयी दया उसकी कायल'

जो दया सिद्धार्थ के ह्रदय से फूटी थी वही दया आगे बौध पथ की नींव बनी।

मत न्यायधीश का जब आया/सुन कर सबका मन हर्षाया/भक्षक से रक्षक सदा बड़ा/निर्णय उनका सबको भाया'

दुष्ट लोगों की प्रकृति निर्बलों को मारने में लगी रहती है। अन्याय बलशाली रहा है। धरा को असुंदर और अन्धेरयुक्त बनाने की हमेशा उनकी कोशिश रही है।

दुष्टों ने कहाँ विचारा है/निर्बल जीवों को मारा है/अन्याय भले कुछ पल विहँसे/पर न्याय भला कब हारा है[7]

सिद्धार्थ के जीवन से जुड़ी जितनी घटनाओं के विवरण आते हैं उन सबकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है-

"रथ पर सवार सिद्धार्थ चले, शत अभिनन्दन चहुँ ओर मिले
जन समूह की जयकार मिली, आनंदित मन की कली खिली
पर अकस्मात् वह क्षण आया थी समक्ष एक बूढ़ी काया
दुर्बल शरीर था काँप रहा, दो पग चल कर था हाँफ रहा"[8]

उस दृश्य के पश्चात जो प्रश्न सिद्धार्थ के मन में उपजा उसने धार के इतिहास को बदल कर रख दिया. ऐसा दर्शन न था और न कभी होगा। इस काव्यमय अभिव्यक्ति को पढ़ते हुए पूरा इतिहास आँखों के समक्ष नाच उठता है। सिद्धार्थ के साथ रहने वाले छंदक, राजा बिंबिसार समेत सब आ जाते हैं। शाक्य और कोलियों के मध्य होने वाले विवाद आदि की घटनाएं ऐतिहासिक हैं, जिनकी अभिव्यक्ति भी यहाँ पर है।

गौतम की ही पर्णकुटीर के निकट पंच ध्यानी थे
महानाम भद्रिक, कौण्डिन्य, अश्वजीत ज्ञानी थे
पंचम तपसी वाप्प बड़ा ही नामी परिव्राजक था
ध्यान योग में नव विद्याओं का वरीय सर्जक था।
'' '' ''
पाँचों परिव्राजक ने भेजा गौतम को संदेशा
शाक्य और कोलियों मध्य अब नहीं युद्ध अंदेशा।[9]

गौतम के जीवन में आने वाले सभीं नामों को गीत शैली में जिस तरह पिरोया गया है, वह अद्भुत है। इतिहास कविता में कैसे घुल जाता है यह यहाँ दिखाई देता है। कवि की कल्पना शक्ति ने सिद्धार्थ से सम्बंधित घटनाओं को सिलसिलेवार पिरोया है इसकी एक बानगी देखिये-

सात वर्ष की सफल साधना का प्रतिफल था शुद्ध
पैतीस वर्ष उम्र थी केवल, गौतम हो गये बुद्ध[10]

'यशोधरा' सर्ग में रचनाकार विस्तार से यशोधरा के रूप गुणों और त्याग को विस्तार दिया है। 'तथागत' काव्य में यशोधरा की विस्तार उपस्थिति कवि की उस दृष्टि की ओर इशारा करती, जहाँ स्त्री को छोड़ कर वे आगे बढ़ना नहीं चाहते। स्त्री के भीतर की पीड़ा, दु:ख दैन्य आदि को कवि स्वयं अनुभूत करते हैं. बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग का भी उल्लेख है यहाँ। कवि ने प्रज्ञा, सत्य, सदाचार, संयम समेत सभीं मार्गों को दु:ख निवारण हेतु अभिव्यक्त किया है। जीवों के दुखों का भान गौतम बुद्ध को था। कवि इसे उकेरना नहीं भूलते–

मानव की सद्गति, दुर्गति के कारण उसके कर्म,
हिंसा, चोरी व्यभिचार से मुक्त भाव ही धर्म,
तन्त्र, मन्त्र बलि प्रथा व नदियों में दुबकी स्नान
नहीं दिला सकते तिल भर भी त्राण[11]

महापरिनिर्वाण तक आते–आते पाठक का हृदय थम सा जाता है। यहाँ उसे बड़े मार्मिक स्वर में उसे उकेरा गया है। यहाँ ठहराव सा है। बुद्ध के परिनिर्वाण का अर्थ था कि बौद्ध पथ का खेवनहार नहीं है। यह पथ शाश्वत मूल्यों वाला है। जिसकी पावन अभिव्यक्ति 'पावन स्मरण' शीर्षक में कवि करते हैं। शोकग्रस्त पाठक के हृदय में पुन: आशा का संचार हो जाता है।

बुद्ध का ही धर्म जग में श्रेठतम है
इसका मध्यम मार्ग ही सर्वोत्तम है
है न जाति पाति छुआ छूत इसमें

ये तो वैज्ञानिक विचारों का धरम है।[12]

बौद्ध पथ ही वैज्ञानिक है, तर्कसंगत है। यहाँ कोई झोल नहीं है, हवाबाजियाँ नहीं है, छ्लावेयुक्त संजाल नहीं है। इस काव्य प्रबंध की भाषा सरल, सरस है। शीर्षक के अनुरूप वर्णन है। तथ्यों को गीत शैली में पिरोने से ज्ञान में वृद्धि करने वाली भाषा का प्रयोग है यहाँ पर।

संदर्भ

1. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 16
2. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 17
3. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 18
4. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 19
5. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 19
6. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 26

7. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 32
8. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 45
9. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 61
10. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 73
11. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 90
12. तथागत (प्रबंध काव्य) : डॉ गोरखप्रसाद मस्ताना, नव जागरण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ 106

जीवन-प्रवाह और मानवीय संवेदना की सटीक पहचान (प्रेमचन्द और उनका युग- रामविलास शर्मा)

प्रभात कुमार मिश्र
हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

"प्रेमचन्द ने पाप और पुण्य के राक्षस और देवता नहीं रचे। उन्होंने उस धड़कन को सुना जो करोड़ों किसानों के दिल में हो रही थी। उन्होंने उस अछूते यथार्थ को अपना कथा-विषय बनाया जिसे भरपूर निगाह देखने का हियाव ही बड़ों-बड़ों को न हुआ था। उन्होंने दिखलाया कि हिन्दुस्तान की साधारण जनता में साहस, धीरता और मनोबल के कौन से स्रोत छिपे पड़े हैं। प्रेमचन्द ने अपना कथा-विषय चुना- सदियों से पिसते हुए दासों की चेतना को, जो अब जाग रही थी और उनके हृदय में इंसान की तरह जीने की तीव्र लालसा पैदा कर रही थी।"

प्रेमचन्द के इसी वैशिष्ट्य के कारण से रामविलास शर्मा को प्रेमचन्द में प्रवृत्त हुआ मान सकते हैं। रामविलास शर्मा ने निराला को 'जनता का कवि' कहा है, उसी प्रकार रामविलास शर्मा को 'जनता का बुद्धिजीवी' बेहिचक कहा जा सकता है। रामविलास शर्मा के निष्कर्षों से सहमत-असहमत हुआ जा सकता है लेकिन यह भी तथ्य है कि उनके द्वारा विवेचित विषय या लेखक को पहले किसी ने इस रूप में नहीं देखा था। उनके द्वारा विवेचित भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला, रामचन्द्र शुक्ल, महावीरप्रसाद द्विवेदी, कालिदास, भवभूति उनके निजी हैं, अभूतपूर्व हैं और जिस विषय या व्यक्ति पर उन्होंने लिखा वह आज भी उसी रूप में प्रतिष्ठित हैं।

जिस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा (सूर, तुलसी, जायसी) का अनुसन्धान किया, उसी प्रकार रामविलास शर्मा ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परम्परा का अनुसन्धान किया है। जिस मूल अवधारणा को प्रस्थान बनाकार रामविलास शर्मा का आलोचना कर्म विकसित होता है वह है- 'जनता साहित्य के साथ नहीं रहती बल्कि लाई जाती है।'

रामविलास शर्मा ने रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी की तरह हिंदी साहित्य का इतिहास नहीं लिखा है, लेकिन उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और निराला के साहित्य और युग के मूल्यांकन द्वारा एक तरह से भारतेन्दु युग से छायावाद तक का हिन्दी साहित्य का इतिहास ही लिखा है। 'प्रेमचन्द और उनका युग' का प्रकाशन 1952 ई० में हुआ था। यद्यपि रामविलास शर्मा ने इसकी भूमिका में लिखा था कि -"मैं यह भी नहीं कह सकता कि उन पर यह मेरी आखिरी पुस्तक होगी।" किन्तु हम जानते हैं कि इस किताब के बाद उनकी लिखी प्रेमचन्द सम्बन्धी कोई दूसरी किताब नहीं छपी।

यह किताब प्रेमचन्द पर एक मुकम्मल किताब मानी जा सकती है। इस एक किताब में ही रामविलास जी प्रेमचन्द के जीवन, उपन्यासों, कहानियों के साथ ही उनके संपादक, विचारक और समालोचक पक्ष एवं युगीन सन्दर्भ में प्रेमचन्द्र के वैशिष्ट्य को भलीभाँति उजागर किया है। बाद के तीसरे संस्करण में उन्होंने अमृतराय और मदनगोपाल की प्रेमचन्द- सम्बन्धी पुस्तकों की आलोचना भी जोड़ दी है और एक नया अध्याय श्समस्याएँ है जिसमे मुख्यत: प्रेमचन्द, तोल्स्तोय और गाँधीवाद के सन्दर्भ में प्रेमचन्द की चर्चा की गयी है। इस किताब को लिखने का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए रामविलास शर्मा ने कहा है कि-"प्रेमचन्द हिन्दुस्तानी जनता के उज्जवल भविष्य की पेशगी थे। हिन्दी लेखक उस उज्जवल भविष्य को लाने में सहायक हो, हमारी संस्कृति और कला प्रेमचन्द की जातीय परम्परा का अनुकरण करती हुई फले-फूले, इस पुस्तक को लिखने का यही उद्देश्य है।"

'प्रेमचन्द और उनका युग' को भी रामविलास शर्मा की केन्द्रीय चिंता 'परम्परा का 'मूल्यांकन' के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। रामविलास शर्मा ने परम्परा को ठीक से समझने के लिए उसे एक प्रक्रिया के रूप में लिया है। उनके अनुसार परम्परा से साक्षात्कार का मतलब आत्ममुग्धता नहीं है और न ही अतीतग्रस्तता। परम्परा से साक्षात्कार का मतलब है एक भरे-पूरे समाज की गतिशीलता का साक्षात्कार। यही कारण है कि जीवन और मानव प्रेम में आस्था और विश्वास दिखाने के लिए वे साहित्य की परम्परा का अनुशीलन करते हैं और उसी एक धारा का प्रवाह वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी, निराला और प्रेमचन्द तक में देखते हैं। तुलसीदास से प्रेमचन्द का सम्बन्ध दिखाते हुए स्पष्ट शब्दों में रामविलास जी कहते हैं कि "तुलसीदास ने भारतीय जनता के शौर्य का चित्रण किया था- पौराणिक गाथाओं के पात्रों द्वारा। प्रेमचन्द तुलसीदास के त्याग, सहृदयता और शूरता की परम्परा के उत्तराधिकारी हैं।ष प्रोमचन्द के दृष्टिकोण की विशेषता बताते हुए रामविलास जी इस बात को बहुत महत्त्व देते हैं कि वह समाज में गहरे पैठ कर यह देख सकते हैं कि कौन सी चीज मर रही है और कौन सी चीज उग रही है। वह समाज को एक गतिशील क्रम के रूप से देखते हैं। यहाँ कुछ शक्तियाँ पतनशील हैं तो कुछ शक्तियों उदयशील भी। दो तरह के दलों में वर्षों तक संघर्ष चलता है और उसके दौरान नई नैतिकता पुरानी सामंती संस्कृति को चुनौती देती है, उससे टक्कर लेती है और दृढ़ होती है।

'प्रेमचन्द और उनका युग' में रामविलास शर्मा ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि यदि हर असाधारण इतिहासकार में श्रेष्ठ साहित्यकार की संवेदनशीलता पाई जाती है तो हर असाधारण साहित्यकार में एक उच्च कोटि का ऐतिहासिक बोध। प्रेमचन्द ने स्वयं श्साहित्य का उद्देश्य' में कहा है कि इतिहास की पुस्तकों में नामों और वर्षों के अलावा कुछ भी वास्तविक नहीं होता, जबकि कथा साहित्य में नामों और वर्षों के अलावा कुछ भी अवास्तविक नहीं होता। प्रेमचन्द ने साहित्यिक संवेदनशीलता को इतिहासबोध से मिलाकर उच्चकोटि के उपन्यास सृजन में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। भारतीय गाँवों पर औपनिवेशिक आक्रमण से उत्पन्न महान मानवीय त्रासदी के बेहद विचलित कर देने वाले चित्रण प्रेमचंद की सफलता और सार्थकता के प्रमाण हैं। प्रेमचन्द की रचनाओं में अंतर्निहित युगीन समस्याओं को रामविलास शर्मा प्याज की परतों की भाँति उतारते गए हैं। ये समस्याएँ हैं मुख्य रूप से साम्राज्यवादी झूठ का भंडाफोड़, स्वाधीनता आन्दोलन और साहित्यकारों का सम्बन्ध, साहित्य में शाश्वत सत्य के चित्रण और समसामयिक समस्याओं का द्वन्द्व, जनता की तरफदारी, हिन्दी-उर्दू विवाद आदि। रामविलास शर्मा ने लक्ष्य किया है कि प्रेमचन्द की रचनाएँ नैतिक

चेतना देती हैं, सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन करती हैं और सबसे बढ़कर मानव- प्रेम की प्रतिष्ठा करती हैं। चरित्र-चित्रण, कथानक गठन, वातावरण आदि तो किसी उपन्यास की सफलता को परखने के लिए केवल सामान्य कसौटियाँ हैं, किन्तु विश्व साहित्य में जब कथा कृतियों की महानता का निर्णय होता है तो कलापूरक उपकरण पीछे छूट जाते हैं, वहाँ तो केवल मानवीय संवेदना की व्यापकता ही टिक पाती है। रामविलास शर्मा ने भी प्रेमचन्द का मूल्यांकन इसी व्यापक प्रतिमान पर किया है। 'प्रेमाश्रम' के संदर्भ में उन्होंने कहा कि- "'प्रेमाश्रम' की कला किस बात में है? कथा गढ़ने में, कथोपकथन में, चरित्र-चित्रण में? इन सबमें भी लेकिन इन सबसे अलग भी। उस कला का विश्लेषण उपन्यास के इन अंगों का अलग-अलग विवेचन करने से नहीं हो सकता। वह कला जीवन का सम्पूर्ण चित्र देने में है, उस चित्र से जीवन को एक नई गति देने में है।"

रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द के समूचे साहित्य को एक क्रमवार ढंग से परखा है, खास कर उपन्यासों को। 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक में रामविलास शर्मा ने एक सम्बन्ध-सूत्र ढूँढ निकाला है। उनका कहना है 'गोदान' की रचनाशैली 'रंगभूमि' से किसी हद तक मिलती-जुलती है। 'कर्मभूमि' तक आते-आते उन्हें लगता है कि 'प्रेमाश्रम' के किसान अब अकेले नहीं हैं। 'निर्मला' के बाद 'गबन' हिन्दी साहित्य के यथार्थवाद का एक और आगे बढ़ा हुआ कदम है। रामविलास शर्मा ने लक्ष्य किया है कि प्रेमचन्द उपन्यास में जिन पात्रों को लेकर कथा रचते हैं, उनके जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। वह जनता की आर्थिक और सामाजिक कठिनाईयों का चित्रण ही नहीं करते, वह उसकी सजीव-सांस्कृतिक परम्पराओं से सच्ची सहानुभूति भी रखते हैं और उसके नृत्य और संगीत में रस भी ले सकते हैं। ऐसी सहृदयता बहुत कम साहित्यकारों में देखने को मिलती है। प्रेमचन्द की व्यापक लोकप्रियता की नब्ज बताते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं कि प्रेमचंद ने मनोवैज्ञानिक कलाकारों की तरह इस उपन्यास को तर्कजाल और अपनी टीका से लाद दिया होता तो वह साधारण जनता में कभी इतना लोकप्रिय न होता। वह जो कुछ कहना चाहते है, उसे चित्रों द्वारा ही कहते हैं। प्रेमचन्द्र पात्रों के, घटनाओं के, दृश्यों के ऐसे चित्र आँकते हैं कि पाठक उन्हें हमेशा याद रखता है और वे उसकी स्मृति में छिपे हुए उसके विचारों और कर्मों को प्रभावित करते हैं।

रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द के उपन्यासों की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण प्रेमचंद के जीवन-दर्शन को भी माना है। प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन इसी संसार में जूझनेवाले मनुष्यों के दुख-सुख, आशा-निराशा, विजय-पराजय का चित्रण करने में प्रकट होता है। वह पाठक को यह नहीं सिखाते कि यह संसार झूठा है, इसमें रहने वाले मनुष्य झूठे हैं, उनका संघर्ष झूठा है। वह दिखलाते हैं कि मनुष्य जिन परिस्थितियों में पैदा हुआ है, उनसे प्रभावित होते हुए भी उन्हें बदलने की कोशिश करता है। दरअसल यह जानी हुई बात है कि किसी भी समाज को जानने का काम उसे बदलने का जोखिम उठाने से शुरु होता है और समाज को बदलने का काम उसे जानने का जोखिम उठाने से। प्रेमचन्द के उपन्यासों के आधार पर रामविलास जी अपनी पद्धति और प्रेमचन्द-पक्षधरता के अनुसार एक अतिरंजित मान्यता आरोपित भी करते हैं कि "प्रेमचन्द का हृदय संकुचित राष्ट्रवाद से ऊपर था, वह जानते थे कि इंसाफ और नई जिन्दगी के लिए तमाम दुनिया की आम जनता में जो लड़ाई चल रही है, हिन्दुस्तान का स्वाधीनता आन्दोलन उस का एक हिस्सा है। वह हिन्दुस्तान के लोगों में एक नया भाव पैदा होते देख रहे थे कि दुनिया के तमाम मेहनत करने वाले लोग भाई-भाई हैं।"

रामविलास शर्मा की मान्यता है कि यदि कहानीकार प्रेमचन्द और उपन्यासकार प्रेमचन्द में एक को ही हिन्दी–साहित्य के इतिहास में जगह देने की बात हो तो शायद उपन्यासकार प्रेमचन्द को ही उस जगह के लिए चुना जाएगा। रामविलास शर्मा के अनुसार उनकी स्वाभाविक रुचि उपन्यास पढ़ने और लिखने की तरफ थी और उपन्यासों में ही उन्हें रस मिलता था किन्तु उपन्यासों की तरह ही कहानियों में भी रामविलास शर्मा ने सामान्य जनता के जीवन– प्रवाह को ही मुख्य गुण माना है। संवाद, चरित्र–चित्रण, कथानक – कहीं भी तटस्थ होकर प्रेमचन्द कलम नहीं चलाते। वह जीवन–प्रवाह में भाग लेनेवाले, उसे गति देने वाले, उसकी लहरों को एक दिशा देनेवाले साहित्यकार हैं। प्रेमचन्द को अपने देश की जनता से गहरा प्रेम और सहानुभूति है। जब वह साधारण किसानों और अछूतों का चित्रण करते हैं– 'पूस की रात', 'कफन' वगैरह में– तब उनकी सहानुभूति कथा के रचने में साफ झलकती है। प्रेमचन्द गरीबी और अंधविश्वास को आदर्श कहकर चित्रित नहीं करते। वह दिखलाते हैं कि इतने अँधेरे में भी मनुष्यता का दीपक केसे जल रहा है, उनकी लौ धनी आदमियों के घर से यहाँ कितनी ऊँची उठ रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे उपन्यास हो था कहानी रामविलास जी का प्रेमचन्द के मूल्यांकन का एक ही प्रतिमान है और वह है मानवीय संवेदना का विकास और मनुष्य में आस्था।

प्रेमचन्द के सम्पादक, विचारक और समालोचक वाले पक्ष पर प्रकाश डालते हुए रामविलास शर्मा उसे वृहत् उद्देश्य से जुड़ा हुआ बताते हैं। रामविलास शर्मा के अनुसार प्रेमचन्द कथाकार ही नहीं थे, पत्रकार भी थे। भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी साहित्य की परम्परा में यह बात ध्यान देने की है कि हमारे सभी बड़े साहित्यकार पत्रकार भी थे। पत्रकारिता उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गई थी। यह पत्रकारिता एक सजग और लडाकू पत्रकारिता थी, जो देश–विदेश के घटना–क्रम में दखल देती थी, जनता के जीवन और साहित्यकार के परस्पर सम्बन्ध को मजबूत करती थी। पत्रकारिता समाज के अन्तर्विरोध एवं उसके व्यक्तित्व के अन्तर्विरोध में सामंजस्य का एक माध्यम है।

इस किताब का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय 'समस्याएँ' शीर्षक का है जिसमे रामविलास जी ने यह बताने की कोशिश की है कि प्रेमचन्द, महात्मा गाँधी और तोल्स्तोय– इनकी विचारधारा का आपस में क्या सम्बन्ध है? रामविवास शर्मा प्रेमचन्द और गाँधी के दृष्टिकोण को अलगाते हुए कहते हैं कि गाँधी जहाँ एक ओर स्वाधीनता आंदोलन में किसान–जमींदार संघर्ष को गैरजरूरी मानते हैं वहीं प्रेमचन्द इस संघर्ष का स्वागत करने वाले लेखक थे। अगले अध्याय में रामविलास जी ने अमृत राय के 'कलम के सिपाही' की आलोचना की है। अमृत राय की आलोचना करते हुए रामविलास जी ने कहा कि "प्रेमचन्द कलम के सिपाही तो थे लेकिन यह उनके साहित्य का एक पहलू है। रामविलास जी ने कहा कि अमृत राय ने उनके व्यक्तित्व और साहित्य को बहुत सरल और समतल बनाकर पेश किया है जो ठीक नहीं है। व्यक्तित्व के अंतर्विरोधों एवं पेचीदगियों को भुलाकर अमृत राय कुछ मोटे सूत्रों को बार–बार दोहराकर अति–सरल चित्र प्रस्तुत करते हैं जो यथार्थ से दूर है। प्रेमचन्द की पहली प्रामाणिक जीवनी के महत्त्व को असंदिग्ध मानते हुए भी रामविलास जी अमृत राय की कमजोरियाँ बताते हैं–" प्रेमचन्द कलम के सिपाही थे लेकिन अकेले लड़ने वाले सिपाही न थे। वह न केवल दूसरे लेखकों के साथ मिलकर लड़ते थे वरन् जनता के साथ मिलकर लड़ते थे। अमृत राय ने बार–बार उन्हें लोगों से दूर, ज्यादातर घर पर रहनेवाले, बहुत कम दोस्तों, मुलाकातियों वाले लेखक के रूप में चित्रित

किया है। प्रेमचन्द का जीवन अलगाव का जीवन न था। उनके कथा- साहित्य में जो सैकड़ों सजीव पात्र हैं, वे जिंदगी से लिए गए हैं, घर में बैठकर कल्पना के कारखाने में नहीं ढाले गए।"

रामविलास शर्मा की इस पुस्तक का महत्त्व आँकने के लिए हम कल्पना करें कि रामविलास जी का यह लेखन नहीं है। प्रेमचन्द महान् उपन्यासकार हैं लेकिन आज भी रामविलास शर्मा को छोड़कर इन सब पक्षों का मूल्यांकन शेष हिन्दी साहित्य ने जैसा किया है, इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं। इनके निष्कर्षों से सहमत-असहमत हुआ जा सकता है लेकिन इन्हें छोड़कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। सही अर्थों में डॉ. रामविलास शर्मा ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद के 'जीनियस' आलोचक हैं। 'जीनियस आलोचक' के सम्बन्ध में श्रीकांत वर्मा ने रामचन्द्र शुक्ल शताब्दी वर्ष के दौरान भोपाल में कहा था कि 'हर जीनियस ज्यादती करता है और मीडियाकर न्याय'। रामाविलास शर्मा की आलोचना में भी जो ज्यादतियाँ है वह उनके असाध ारण आलोचक व्यक्तित्व का 'जीनियस' पहलू ही है।

मीरा पदावली में अंतर्कथाओं का संबंध

डॉ. मंजु रानी
जन्म स्थान :- दिल्ली
शिक्षा:- बी. ए.,एम. ए.-टॉप जानकी देवी महाविद्यालय, हिंदी
असिस्टेंट प्रोफेसर (किरोड़ीमल कॉलेज)

मीरा पदावली में मीरा जीवन का सिर्फ मीरा नाम तक ही सीमित, सिमट कर नहीं रहा, इसमें अनेक अंतर्कथाओं का संबंध मीरा पदावली में निरंतर जुड़ता रहा है। मीरा पदावली के विभिन्न पदों में अनेक नाम जुड़े हुए हैं, जो उस समय और समय रचना को जोड़ते चले गए हैं। इन नामों के समावेश से मीरा पदावली बहुत ही महत्वपूर्ण दोहे पूर्ण कर पाई है। मीरा ने एक सामान्य नाम अजमल, जो अपने पुत्र का नाम नारायण नाम रख देता है और निरंतर नारायण-नारायण पुत्र का नाम लेने से मात्र यमराज के पास जाने से उसकी मृत्यु टल जाती है। इस तरह के विभिन्न उदाहरणों और अंतर्कथाओं से मीरा पदावली एक संपन्न रूप प्रदान करती है। आज भी भारतीय परिवारों में ईश्वर रूपी नाम अपनी संतान का रखना एक परंपरा बनी हुई है। इसलिए मीरा पदावली में विभिन्न नाम जैसे अहिल्या, कबीर, कर्माबाई, गजराज, गणिका, गोवर्धन लीला, द्रोपता, धन्ना भगत ध्रुव, नामदेव, पहलाद, वामन अवतार, सदना जी और राजा हरिश्चंद्र जैसे प्रमुख नाम उल्लेख किए गए हैं। इन नामों से अंतर्कथाओं से मीरा पदावली महत्वपूर्ण पदावली का रूप ग्रहण कर लेती है जोकि अपने आप में एक भव्य रूप प्रदान करती है।

1. अजामिल या अजामेल
अजामील अपराधी तायाँ तायाँ नीच सदाण।
मीराँ के प्रभु री शरण रावली, विणताँ दीस्यो काण।[1]

अजामिल जाति का ब्राह्मण था, किन्तु स्वभाववश महा दुश्चरित्र और पातकी हो गया था। उसने अपने स्त्री का त्यागकर अन्य स्त्री के साथ सम्बन्ध किया और मद्यादि का सेवन करने लगा। एक दिन संयोगवश किसी दुष्ट ने उसके यहाँ हँसी में किन्हीं साधुओं को भेज दिया, जिनका उसे सत्कार करना पड़ा। उन्होंने प्रसन्न होकर उसकी गर्भिणी रखेलिन को अपने पुत्र का नाम 'नारायण' रखने का उपदेश दिया, परन्तु अजामिल की बुद्धि में कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हुआ। वह निरन्तर व्यसनों में ही लगा रहा। अन्त में जब वह मृत्यु-शय्या पर पड़ा, तो उसे यमदूतों का भय सताने लगा और उसने विवश होकर अपनी रक्षा के लिए अपने पुत्र नारायण को पुकारा। इधर 'नारायण' शब्द आर्त्तनाद के रूप में सुनते ही भक्त के रक्षार्थ जगत् में विचरने वाले, भगवत्पार्षद् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने भगवन्नामोच्चारण का माहात्म्य बतलाकर यमदूतों को वहाँ से मार भगाया। अजामिल इस प्रकार यमराज के यहाँ जाने से बच गया। उसे अपने पुत्र के लिए केवल 'नारायण' शब्द उच्चारण करने पर भी, भगवत्पद की प्राप्ति हो गयी।

2. अहल्या (ऋषि पत्नी)
पत्थर की तो अहिल्या तारी, बण के बीच पड़ी।
कहा बोझ मीराँ में कहिय सौ पर एक घड़ी।।[2]

अहल्या वृद्धाश्व ऋषि की पुत्री तथा महर्षि गौतम की परम रूपवती स्त्री थी। एक बार गौतम ऋषि के गंगा-स्नान करने चले जाने पर उन्हीं का रूप धारण करके इन्द्र आश्रम में चला आया ओर उसने अहल्या के साथ भोग-विलास किया। बाहर निकलते समय इन्द्र की गौतम ऋषि से भेंट हो गयी। योगबल द्वारा सम्पूर्ण वृत्तान्त जान लेने पर गौतम ऋषि ने 'सहस्त्रभग' हो जाने के लिए इन्द्र को तथा पत्थर बन जाने के लिए अहल्या को शाप दिया। भगवान् रामचन्द्र जी ने विश्वामित्र जी के कहने पर, कृपा करके अहल्या को अपने चरण-स्पर्श द्वारा शाप-मुक्त किया।

3. कबीर
दास कबीर घर बालद जो लायाँ।
सब संतन का काज सुधारा, मीराँ सूँ दूर रहन्द।[3]

कबीर साहब जाति के जुलाहे, किन्तु पहुँचे हुए साधक थे। उनका देहावसान का समय सं. 1505 (ईसवी सन् 1445) के लगभग समझा जाता है। वे अधिकतर काशी में रहते थे। अपनी आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ जीविका निर्वाह के लिए कपड़ा बुनने का उद्योग भी किया करते थे। थान तैयार हो जाने पर उसे मंडी में ले जाते और उसे बेचकर पैसे लाते। एक दिन वे मंडी में थान लेकर खड़े थे। किसी साधु ने आकर कहा-"मैं वस्त्रहीन हूँ, मुझे कपड़े दे दो।" और जब वे उसके लिए थान का आधा हिस्सा फाड़कर देने लगे, तब उसने समूचे थान के लिए आग्रह किया। कबीर साहब ने अन्त में उसे पूरा थान दे दिया और 'छुँछा हाथ घर क्या जाऊँ' सोचकर घरवालों के डर से कहीं राह में ही छिपे रहे। इधर भूखे परिवार की दशा पर विचारकर भक्तवत्सल भगवान् स्वयं व्यापारी के वेश में उनके घर पहुँचे और बैल पर लादकर सभी प्रकार की आवश्यक खाद्य-सामग्री दे आये। दो-चार दिनों के अन्दर जब कबीर साहब को ढूँढ़कर लोग उनके घर लाये, तो भगवान् की कृपा का भेद खुला। 'कबीरदास के घर बालद व बैल लाने' की कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है।

4. करमाबाई
करमाबाई को खाँच आरोग्यो, होइ परसण पाबन्द।[4]

करमाबाई जगन्नाथपुरी में रहती थी और नित्य सवेरे श्री जगन्नाथ जी को खिचड़ी का भोग लगाया करती थी। परन्तु वह कभी किसी रीति वा आचार की ओर विशेष ध्यान न देती। सदा स्नान, चौका आदि बिना किये ही उसे बनाकर अपने इष्टदेव को प्रेमपूर्वक अर्पण कर देती। हाँ, इसका विचार सदा रखती कि कहीं विलम्ब न हो जाये अथवा खिचड़ी आलोनी ही न रह जाये। कहते हैं, भगवान् बालक का रूप धारणकर उनके यहाँ स्वयं जाते और प्रतिदिन प्रातःकाल खिचड़ी खा आते। एक दिन किसी संत ने करमा की आचार-विहीनता देखकर, उसे सम्प्रदाय के नियमानुसार खिचड़ी तैयार करने का उपदेश दिया; जिस कारण दूसरे दिन उसे भोग लगाने में बड़ा विलम्ब हो गया। इधर पंडों ने जब जगन्नाथ जी का पट खोला तो देखा कि उनके श्रीमुख में

जूठी खिचड़ी लगी हुई है और उनके चकित होने पर आकाशवाणी हुई कि "मैं नित्य करमाबाई की खिचड़ी खाकर सवेरे मुँह धो लेता था, किन्तु आज किसी संत के आदेशानुसार तैयारी में विलम्ब हो जाने के कारण मेरा मुँह शीघ्रता से जूठा ही रह गया।" पंडों ने जब यह बात उस संत से कही, तो भगवान् की प्रेमप्रियता पर विचारकर वह बहुत लज्जित हुए। भगवान वास्तव में प्रेम के भूखे हैं।[5]

5. गजराज (गज, कुंजर)
गज बूडताँ अरज सुण धावाँ, भगताँ कष्ट निवारण।
मीराँ रे प्रभु अरजी म्हारी, अब अबेर कुण कारण।[6]

कहते हैं कि श्वेत द्वीप के किसी सरोवर में स्नान करते समय एक बार केवल मुनि का पाँव किसी 'हाहा' नामक गन्धर्व ने पकड़ लिया, जिससे रूष्ट होकर मुनि ने उसे ग्राह हो जाने का शाप दिया। इसी प्रकार मौन होकर भोजन करने वाले इन्द्रदवन राजा के सत्कारार्थ न उठने में अप्रसन्न होकर अगस्त्य जी ने उसे अभिमान के कारण गज हो जाने का शाप दिया। दोनों संयोगवश एक-दूसरे के निकट ही रहा करते थे। एक दिन जब हाथी कुछ हथिनियों के साथ जल पी रहा था कि ग्राह ने उसके पैर पकड़ लिये और दोनों के बीच खींचातानी द्वारा जोर की आजमाइश होने लगी। अंत में जब हाथी निर्बल पड़ने लगा और हथिनियों की सहायता से भी कोई काम न निकला, तब हार मानकर उसने भगवान् को पुकारा। उधर भगवान ने जैसे ही उसके मुँह से अपना नाम आधार ही सुना, वे बिना गरुड़ के नंगे पैर दौड़ पड़े और ग्राह को चक्र-सुदर्शन द्वारा मारकर उसे संकट-मुक्त कर दिया। ग्राह की उसी समय पशु योनि से मुक्त हो गयी और उसे भगवान् का परमपद प्राप्त हो गया।

6. गणिका (गणका)
गणका कीर पढ़ावताँ, बैकुण्ठ बसाणी जी।
मीराँ दासी रावली, अपणी कर जाणी जी।[7]

प्राचीन काल के किसी नगर में जीवन्ती नाम की एक वेश्या रहती थी, जो लोक-परलोक के भय से रहित रहकर सदा व्यभिचार-वृत्ति से अपना उदर-पोषण किया करती थी और निस्सन्तान होने के कारण, उसे पुत्रवत् प्यार करने लगी। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर उसे 'राम-राम' पढ़ाया करती और उसके साथ-साथ स्वयं भी 'राम-राम' उच्चारण करती। समयानुसार एक दिन नामोच्चारण करते-करते ही दोनों का एक साथ मृत्युकाल आ गया। दोनों को ले जाने के लिए यमदूत भी पहुंच गये; किन्तु दूसरी ओर उसी क्षण भगवान् विष्णु के भी दूत आ गये और यमदूतों को डाँट-डपटकर दोनों को विमान पर बिठा ले गये। यमदूत जब यमराज के यहाँ यह कथा कहने लगे, तब उन्होंने भी गवन्नामोच्चारण का माहात्म्य ही उनसे बतलाया।

7. गोवर्धन लीला
जिण चरण गोबरधन धार्याँ गरब मघवा हरण।
दासि मीराँ लाल गिरधर, आगम तारण तरण।[8]

ब्रजवासी इन्द्र की पूजा करते थे, किन्तु श्रीकृष्ण ने उनसे उसकी जगह गोवर्धन की पूजा करायी। इस पर इन्द्र क्रुद्ध होकर मूसलाधार वृष्टि करने लगे और सारा ब्रज डूबने को आया। ब्रजवासियों की दी दशा देख श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को अपनी उंगली पर छाते की भाँति उठा लिया और सबको डूबने से बचाकर इन्द्र का गर्व भी चूर किया। इन्द्र ने क्षमा मांगी।

8. द्रोपता (द्रोपदी, द्रुपदसुता)
द्रौपती री लाज राख्याँ थे बढ़ायाँ चीर।
बूड़ताँ गजराज राख्याँ, कट्याँ कुँजर भीर।[9]
पाँचु पाँडु री राणी द्रुपती, हाड़ हिमालाँ गराँ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, बिखरू अम्रित कराँ।[10]

द्रौपदी द्रुपद राजा की पुत्री एवं प्रसिद्ध पांडवों की धर्मपत्नी थी। जब महाराज युधिष्ठिर, दुर्योधननादि के साथ जुआ खेलते समय, बाजी में हार गये और दुर्योधन की आज्ञा से दु:शासन भरी सभा में नग्न करने के निमित्त उनके वस्त्र खींचने लगा। उस समय उन्होंने अपनी लज्जा बचाने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण भगवान् को सहायतार्थ पुकारा। उस समय उनके शरीर पर केवल एक साड़ी भर थी, किन्तु भगवान् की कृपा से बलवान् दु:शासन द्वारा बार-बार खींचे जाने पर भी पर्दा न हट सका और वे चारों ओर से ढंकी हुई ज्यों-की-त्यों खड़ी रह गयी। कहते हैं कि ज्यों-ज्यों चीर खींचा गया, त्यों-त्यों बढ़ता ही गया और अंत में दुष्ट दु:शासन का सारा घमंड जाता रहा।

9. धन्ना भगत (धनादास)
दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनन्द।
सब संतन का काज सुधारा, मीराँ सूँ दूर रहन्द।[11]

धन्ना भगत प्रसिद्ध संत थे, जिनका आविर्भाव-काल पन्द्रहवीं ईसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समझा जाता है। उनका कार्य कृषि-प्रधान था और वे एक किसान के रूप में ही जीवनयापन करते हुए भक्ति-साधना में तल्लीन रहते थे। एक समय की बात है, जब धन्ना जी के घर कुछ साधु लोग पधारे और उनके आदर-सत्कार में उन्होंने बीज के लिए घर में रखे हुए गेहूँ को लगा दिया, परन्तु अपने घरवालों का उन्हें बड़ा भय लगा। इस कारण यह दिखलाने के लिए कि खेत बोया गया है, उसमें खेत में बिना बीज के भी फसल खूब उपजी, जिसे देख सभी आश्चर्य में पड़ गये और धन्ना जी की भक्ति की प्रशंसा करने लगे।

10. ध्रुव
जिण चरण ध्रुव अटल करस्याँ, सरण असरण सरण।
दासि मीराँ लाल गिरधर, अगम तारण तरण।[12]

भक्त ध्रुव राजा उत्तानपाद के पुत्र थे और उनका जन्म रानी सुनीति के गर्भ से हुआ था। उनकी सौतेली माता का नाम सुरुचि था, जिसके गर्भ से उत्तम का जन्म हुआ था। एक बार राजा उत्तम को गोद में लिये बैठे थे, चार वर्ष के बालक ध्रुव ने भी वहाँ बैठना चाहा, किन्तु उसकी सौतेली माता ने यह कहकर उसे रोक

दिया कि "पहले भगवान् का तप कर मेरे उदर से जन्म ले, तो राजा के अंक में बैठने का अधिकारी होगा।" इन शब्दों द्वारा अपमानित होकर वे अपनी माता के पास रोते हुए चले गये। माता ने उन्हें तप करने की आज्ञा दे दी और उन्होंने बाल्यावस्था में ही घोर तपस्या कर भगवान् को प्रसन्न कर दिया। भगवान् ने उन्हें अपनी शरण में लिया और पिता का राज्य दिलाने के उपरान्त अंत में उन्हें वह लोक प्रदान किया, जिसे अटल 'ध्रुव लोक' कहते हैं।

11. नामदेव
नामदेव की छान छवन्द।
सब संतन का काज सुधारा, मीराँ सूँ दूर रहन्द।[13]

"नामदेव जी दक्षिण भारत के प्रसिद्ध संत थे, जिनका आविर्भाव-काल 13वीं ईसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं 14वीं का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। इनके चमत्कारों से सम्बद्ध अनेक प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं; जैसे-बाल्यकाल में ही अपने हाथों भगवान् को कटोरे से दूध पिला देना, मरी हुई गाय को जिला देना, अपनी भक्ति के बल से देवल का द्वार पिछवाड़े की ओर करा लेना आदि। इसी प्रकार कहा जाता है कि एक दिन साँझ को उनके घर पर अचानक आग लग गयी और उनका बहुत कुछ जलकर स्वाहा हो गया। नामदेव जी पंचतत्त्वादि सबको भगवद्रूप में ही देखा करते थे। अतएव उन्होंने अग्नि की ज्वाला में यह कहकर बची-खुची वस्तुएं भी डाल दीं कि; हे नाथ, इसे भी अंगीकार कीजिये। भगवान् इस अलौकिक भाव द्वारा अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनका सारा छप्पर रात भर में ही अपने हाथों से छा दिया।

12. प्रह्लाद
प्रह्लाद परतग्या राख्याँ, हरणाकुस नख उद्र विदारण।
मीराँ रे प्रभु अरजी म्हारी, अब अबेर कुण कारण।[14]

प्रह्लाद दैत्यराज हिरण्यकशिपु के पुत्र, किन्तु परम भक्त थे। इनके पिता भक्ति के विरोधी थे और सदा हृदय से चाहते रहे कि मेरा भी पुत्र यही करे। भक्ति में प्रह्लाद का अटल विश्वास देखकर उन्होंने क्रुद्ध होकर इन्हें आग में जलाने, हाथी से कुचलवाने, पत्थर के टीलों से लुढ़कवाने तथा समुद्र में डुबाने के यत्न किये, किन्तु इनकी कुछ भी हानि नहीं हुई। अन्त में एक दिन, जबकि पिता और पुत्र में शक्ति का विषय लेकर वाद-विवाद चल रहा था, पिता ने पूछा-"बता तेरा ईश्वर कहाँ है?" और पुत्र के यह कहने पर कि "वह सर्वत्र है, यहाँ तक कि इस पत्थर के खम्भे में भी है।" उसने खम्भे पर पदाघात कियां उधर खम्भा फट पड़ा और भगवान् नृसिंह रूप धारणकर निकल आये। उन्होंने दैत्यराज हिरण्यकश्यप को एकाएक पकड़ लिया और घुटनों पर रखकर नखों से उसका उदर विदीर्ण कर डाला। प्रह्लाद का वचन पूरा हो गया और भक्त के लिए कष्ट उठानेवाले भगवान् को फिर शांति कर इन्होंने अन्त में इन्द्र की पदवी पायी।

13. वामनावतार
जाग कियाँ बलि लेण इन्द्रासण, जाँयाँ पाताल पराँ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, बिखरू अम्रित कराँ।[15]

भक्त प्रह्लाद का पौत्र और विरोचन का पुत्र राजा बलि बड़ा पराक्रमी था। उसका बढ़ता ऐश्वर्य देखकर सभी देवता भयभीत हो चले थे। अतएव जब उसने इन्द्रासन लेने के उद्देश्य से अश्वमेघ यज्ञ आरम्भ किया, तब उसमें विघ्न उपस्थित करने के विचार से उन लोगों ने भगवान् को वामनावतार धारण करने पर उद्यत किया। विष्णु भगवान् यज्ञ की समाप्ति के अवसर पर बलि के यहां वामन–रूप धारण ब्राह्मण होकर गये और उनसे तीन पग धरती मांगी। बलि ने अपने गुरु शुक्राचार्य के मना करने पर भी स्वीकार कर लिया, परन्तु पृथ्वी नापते समय भगवान् ने वामन रूप से विराट् रूप धारण कर लिया और दो पगों में स्वर्ग एवं पाताल दोनों लेकर तीसरे पग द्वारा बलि का शरीर तक नाप लिया। राजा बलि बांधकर पाताल भेज दिये गये और भगवान् ने उनकी ड्योढ़ी पर सदा वान रूप में दर्शन देना स्वीकार किया।

14. सदना जी (सदान)

अजामील अपराधी तायाँ तायाँ नीच सदाण।
मीराँ प्रभु री शरण रावली, विणताँ दीस्यो कारण।[16]

भक्त सदना जाति के कसाई थे किन्तु पूर्वसंस्कार–वश उनमें हरि की भक्ति पूर्ण रूप से थी। कसाई कुल में प्रचलित मांस बेचने का व्यवसाय करते समय भी वे हिंसा से बचने के उद्देश्य से, दूसरों से लेकर ही मांस बेचा करते थे और यथासम्भव हरि–स्मरण किया करते थे। दैवयोग से उन बटखरों में एक शालिग्राम की शिला भी सम्मिलित थी, जिसे पहचानकर एक साधु नियमानुसार पूजन करने के लिए ले गये। परन्तु साधु को भगवान् ने स्वप्न दिया कि "सदना जी के बटखरों में रहना अधिक पसन्द करता हूँ और मुझे वहाँ फिर पहुँचा दो।" कहा जाता है कि साधु ने वैसा ही किया और घटना से प्रभावित हो, सदना जी ने अपना व्यवसायादि छोड़कर जगन्नाथ जी का रास्ता लिया। सदना जी को अंत में मुक्ति मिली।

15. राजा हरिश्चन्द्र

सतवादी हरिचन्दा राजा, डोम घराँ णीराँ भराँ।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, बिखरू अम्रित कराँ।[17]

हरिश्चन्द्र अयोध्या के राजा थे। इन्द्र ने इनसे द्वेष करके इनकी दानशीलता की परीक्षा के लिए विश्वामित्र को भेजा। विश्वामित्र ने इनका सारा राज्य इनसे स्वप्न में ही दानस्वरूप ले लिया और फिर दक्षिणा के लिए इनके यहाँ पहुंचे। हरिश्चन्द्र ने 'तीन लोक से न्यारी' काशी में जाकर अपनी स्त्री को एक ब्राह्मण के हाथ सपुत्र बेच दिया और इस प्रकार आधी दक्षिणा चुकाकर शेष के लिए स्वयं एक डोम के श्मशान पर नौकरी कर ली। फिर जब अपने पुत्र के मर जाने पर इनकी स्त्री जलाने के लिए श्मशान पर आयी, तब अपना कर्त्तव्य समझकर, इन्होंने उससे भी श्मशान का कर माँगा और उनकी रानी को विवश होकर अपनी साड़ी का टुकड़ा फाड़कर देना पड़ा। हरिश्चन्द्र अपने सत्य–पालन एवं आत्मत्याग के लिए बहुत प्रसिद्ध है। इन अंतर्कथाओं के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि मीरा के काव्य में भाषा केवल कोरी भाषा नहीं अपितु संस्कृति, इतिहास, धर्म आदि से संगुफित है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मीरा ने अपने आराध्य की भक्ति करते समय जो भाषा अपनाई उसमें अनेक अवान्तर कथाओं के आने से एक नयापन आया है, वैविध्य आया है। जो उन्हें सबसे अलग करता है।

'मीराबाई का काव्य इन नामों के आने से अत्यधिक प्रासंगिक बना रहा है भगवान, ईश्वर के अनेक नाम हमारे परिवार के बालक-बालिकाओं के नाम में सामान्य रूप से मिल जाते हैं। आधुनिक युग में भी शिशु के जन्म लेने पर पुरोहित ईश्वर की अनेक कुंडली देखकर सुझाव में दिया करते हैं। कृष्ण के अनेक नाम गोपाल, नंदलाल, कृष्णा, मनमोहन, महेन्द्र, अमृत, श्याम, साक्षी, आदि नाम सुझाये जाते हैं और अन्य नाम लक्ष्मी, गौरी, सरस्वती, जया, भव्या, चित्रा, अलका, चेतना आदि नाम भी प्रत्येक युग में मिल जाते हैं। इसी प्रकार मीरा पदावली में भी अनेक अंतर्कथाओं का समावेश हुआ है जोकि पदावली को एक बृहद, ज्ञानवध ंक, महत्वपूर्ण रूप प्रदान करते हैं।

संदर्भ

1. मीराँबाई की पदावली: परशुराम चतुर्वेदी, पद 133, पृष्ठ 135
2. वही, पद 117, पृष्ठ 131
3. वही, पद् 138, पृष्ठ 136
4. वही, पद 138, पृष्ठ 136
5. कहते हैं कि करमाबाई का जन्म चौत्र 11 सं. 1073 (सन् 1017) को वर्तमान। झाँसी जिले के किसी गाँव में रामशाह तेली के घर हुआ था और उन्हें जगन्नाथपुरी में श्रीकृष्ण भगवान् का साक्षात् दर्शन भी हुआ था।
6. मीराँबाई की पदावली: परशुराम चतुर्वेदी, पद 136, पृष्ठ 136
7. वही, पद 139, पृष्ठ 136
8. वही, पद 1, पृष्ठ 95
9. वही, पद 61, पृष्ठ 114
10. वही, पद 188, पृष्ठ 151
11. वही, पद 138, पृष्ठ 136
12. वही, पद 1, पृष्ठ 95
13. वही, पद 138, पृष्ठ 136
14. वही, पद 136, पृष्ठ 136
15. वही, पद 188, पृष्ठ 151
16. वही, पद 133, पृष्ठ 135
17. वही, पद 188, पृष्ठ 151

राष्ट्रकवि दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना

डॉ० ज्योति कुमारी
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
रोहतास महाविद्यालय, सासाराम।

'राष्ट्र' और 'चेतना' दोनों स्वतंत्र शब्द हैं जिसके मेल से एक महान शक्ति उद्घृत होकर राष्ट्रीयता राष्ट्रीय भावना अथवा राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप धारण करती है। यही भावना साहित्य में स्वर और सुर बनकर फूट पड़ती है और अनंतर प्रवाहित होती रही है। इससे जनमानस में सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। "देश भक्ति का उद्वेलन कभी समर्पण तो कभी आन्दोलन का रूप धारण कर लेता है, जिससे व्यक्ति के स्वत्व से लेकर राष्ट्र तथा देश की स्वतंत्रता और समानता की सुरक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण तक के भावन समाविष्ट होते हैं।"[1]

राष्ट्रकवि दिनकर की चेतना महान है, वे संवेदनाओं एवं संचेतनाओं के साहित्यकार हैं। भारतीय संस्कृति और अस्मिता की जमीन से जुड़े साहित्यकार है, दिनकर जी। उनके काव्य ने समय-समय पर भारतीय युग चेतना को राष्ट्र की अस्मिता का प्रति उद्वेलित किया है। मन मानस को राष्ट्रीयता से अपूरित किया है। एतदर्थ राष्ट्रकवि दिनकर का काव्य प्रासगिकतापूर्ण है और यह प्रासंगिकता युग-युग का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए दिनकर हिन्दी साहित्य-संसार में अमर हैं उनका काव्य भारतीय संस्कृति भारतीयता से परिचित कराता है उनकी दृष्टि में भारत एक भू-खण्ड मात्र नहीं है। एक विचारधारा है जो भारतीयता से अंगीकृत है।

राष्ट्रप्रेम अथवा राष्ट्रीय चेतना इस देश में सदैव से रही है, जैसा कि हमें विदित है - कोई भी देश बनता है भौगोलिक क्षेत्र से, उस क्षेत्र में रहने वाली जनता से, उसकी भाषा से, उसकी रहन-सहन तथा संस्कृति से और इन सबका प्रतिबिम्ब साहित्य में मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस बात को इस प्रकार स्वीकार किया है कि "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्रवृत्ति को संचित संचित प्रतिबिम्ब होता है।"[2]

बाबुल गुलाब राय ने कहा है - किसी विशिष्ट भौगोलिक इकाई के जनसमुदाय के पारस्परिक सहयोग और उन्नति की अभिलाषा से प्रेरित, उस भू-भाग के लिए प्रेम और गर्व की भावना को 'राष्ट्रीयता' कहते हैं। वस्तुतः राष्ट्रीयता एक अनूठी भाव-धारा है, जिसमें राष्ट्र के सूक्ष्म और स्थूल दो तथ्यों के प्रति उत्तरोत्तर लगाव दिखाई देता है। राष्ट्रीयता के स्थूल तथ्यों में भौगोलिक और प्राकृतिक संदर्भ आते हैं, तो सूक्ष्म तथ्यों में सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, कलात्मक, भाषायी चेतना आती है।

राष्ट्रीय चेतना में धार्मिकता की बलवती भूमिका होती है। राष्ट्रीयता में व्यक्ति राष्ट्र की गौरव-गरिमा की रक्षा के लिए समर्पित होने के लिए तत्पर रहता है। राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में ऐतिहासिक संदर्भों की

महती भूमिका होती है। देश के निर्माण में ऋषि मुनियों, महात्माओं, मनीषियों के चिन्तन और गतिशीलता का विशेष योगदान होता है। अतीत की गौरव–गाथा से जन–मन को सन्मार्ग पर गतिशील रहने की प्रेरणा मिलता है। निश्चय ही, राष्ट्रीय चेतना में राष्ट्र की स्वतंत्रता, अंखण्डता और एकता की पावन–त्रिवेणी का प्रवाह होती है।

धर्मपाल सिंह कहते हैं –"कवि ने जब काव्य जगत में प्रवेश किया उस समय भारतीय राजनीति हलचल के दौर से गुजर रही थी। भारत अंग्रेजों का गुलाम था। इन परिस्थितियों में ही कवि के रूप में अपने युग को बड़ी ईमानदारी से सशक्त स्वर में वाणी दी है।"[3]

आधुनिक साहित्य का संबंध राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम से है, राष्ट्रीय कविता, स्वच्छंदवादी कविता, छायावादी कविता, प्रगतिशील कविता इन सबका संबंध किसी न किसी तरह स्वाधीनता संग्राम की चेतना से जोड़ा जा रहा है लेकिन राष्ट्रीय कविता से जो खास या रूढ़ अर्थ लिया जाता रहा है, वह यही है कि प्रत्यक्षत: स्वाधीनता संग्राम को विषय बना कर लिखी गई कविता राष्ट्रीय कविता है। इस राष्ट्रीय कविता में ही मैथलीशरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, सुंभद्रा कुमारी चौहान और रामधारी सिंह दिनकर, सबकी अपनी अलग विशेषताएँ हैं और उनमें पारस्परिक फर्क भी है। दिनकर की भावनात्मक विशिष्टता को समझने के लिए इस फर्क पर गौर करना जरूरी है।

सभी कवियों से भिन्न है दिनकर की राष्ट्रीय चेतना, जब दिनकर की चेतना रूप लेती है। इस दौर की विशेषता यह है कि भारतीय राष्ट्रवाद उग्र रूप ले रहा था। इसके साथ ही देश के विभिन्न हिस्सों में मजदूर किसान आन्दोलन छेड़ रहे थे। कांग्रेस ने भी किसानों को आकृष्ट करने के लिए बल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में बारदौली में किसान सत्याग्रह का आयोजन 1929 में किया और इसी वर्ष देश की नई पीढ़ी को आकृष्ट करने के लिए जवाहर लाल नेहरू को कांग्रेस का अध्यक्ष बना दिया। दिनकर जी ने बारदौली सत्याग्रह पर काव्य रचना की लेकिन चौथे दशक रचित उनके काव्य, खास करके रेणुका और हुंकार की कविताओं का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि दिनकार की कविताओं में उग्र राष्ट्रवाद की प्रवृति प्रबल थी। उग्र राष्ट्रवाद कविता में उत्तेजक भावों और अंग्रेजों के साथ उत्तेजनापूर्ण भाषा में व्यक्त हुआ है। स्वयं दिनकर जी ने इस तरह की अपनी अभिव्यक्ति को गर्जन तर्जन कहा है। यही वह दौर है जब दिनकर की राष्ट्रीयता चेतना प्रखर रूप ले रही थी –

"रे। रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दो उनको स्वर्ग धीर।
पर फिर! हमें गांडिव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।"[4]

'हिमालय' कविता की ये पंक्तियाँ राष्ट्रीय भाव को व्यक्त करने के बहुत प्रसिद्ध है। यही वह दौर है जब बिहार प्रान्त के सिमरिया ग्राम के इस सूर्य के ताप को पूरा हिन्दुस्तान महसूस करने लगा था। जिसके हुँकार से न जाने कितने वर्षो के सोए इस देश की नींद में खलल पैदा कर उसमें नई शक्ति का संचार पैदा किया।

रामधारी सिंह दिनकार की कविताओं को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। प्रथम श्रेणी की अधिकांश कविताएँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत है। इन कविताओं में क्रांति का उद्वेष है। हृदय के अन्दर जल रही धधकती ज्वाला है। दास्तां की पीड़ा है और उसके विरूद्ध विद्रोह की भावना है –

"जातीय वर्ग पर क्रूर प्रहार हुआ है,
माँ के किरीट पर ही यह वार हुआ है।
अब जो सिर पर आ पड़े नहीं डरना है,
जन्मे हैं तो दो बार नहीं मना है।"[5]

दिनकर में अपने देश के प्रति अपार करूणा भी है तभी तो वह पीड़ित मानवता और दलित समाज के भूखे, नंगे, गरीब लोगों के प्रति दिनकर की सहानुभूति सहज ही फूट पड़ती है –

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र,
भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी में चिपक,
ठिठुर जाड़े की रात बिताते हैं।"[6]

दिनकर जी का अधिकांश साहित्य राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत है। चीन से युद्ध के दिनों में दिनकर की 'परशुराम की प्रतिज्ञा' कविता अत्यंत प्रसिद्ध हुई। इस कविता में देश के सैनिकों को अहिंसा त्यागकर पौरूष बनने का आह्वान् किया गया है। सन् 1962 के चीनी भारतीय युद्ध के समय कविवर दिनकर ने 'परशुराम की प्रतिज्ञा' कविता में देश के पौरूष को जागृत करते हुए सिंह गर्जना की थी –

"वैराग्य छोड़ बाहों की विभा संभालो,
चट्टानों की छाती से दूध निकालो।
है रूकी जहाँ भी धार, शिलाएँ तोड़ो,
पीयूष चन्द्रमाओं को पकड़ निचोड़ो।
चढ़ तुंग शैल शिखरों पर सोम पियो रे,
योगियों नहीं, विजयी के सदृश जियो रे।"[7]

आज का मनुष्य सत्य से कोसों दूर होता जा रहा है। दिनकर की 'परशुराम की प्रतिज्ञा' में सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया है –

"जो सत्य जानकर भी सत्य न कहता है,
या किसी लोभ के विवश मूक रहता है
उस कुटिल राजतंत्री कदर्थ को धिक है
यह मूक सत्यहंता कम नहीं वादिक है।"[8]

दिनकर जी की रचनाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने पूर्ण रूप से सत्य पर बल दिया है, आधुनिक जीवन को सफल बनाने के लिए सत्य का होना अति आवश्यक है।

'कुरूक्षेत्र' 1943 में प्रकाशित दिनकर का प्रथम निबंध काव्य है। विचारों की दृष्टि से ही कवि इसे प्रबंध काव्य मानता है। कवि 'कुरूक्षेत्र' में राष्ट्रवादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण का ही विशेष समर्थन करते हैं।

दिनकार ने कुरूक्षेत्र में युद्ध दो स्तर स्पष्ट किये हैं - बाह्य और आंतरिक। सनातन काल से चलने वाला देवासुर संग्राम आंतरिक युद्ध है, शेष सभी बाह्य दोनों के कारण समान और लगभग एक से हैं। जब तक मन में विकारी भाव रहेंगे तब तक समाज में युद्ध आवश्यंभावी है। 'कुरूक्षेत्र' के छठे सर्ग में इसी अखण्ड शांति का संदेश कविता देता है। कवि का द्वन्द्व है -

"है बहुत देखा सुना मैंने मगर,
भेद खुल पाया धर्माधर्म का
आज तक ऐसा कि रेखा खींच कर
बाँट दूँ मैं पाप को और मनुष्य को।"[9]

'कुरूक्षेत्र' अपने समय और समाज के प्रति जागृति का संदेश देने वाला समन्वय की भूमि पर स्थित काव्य है जहाँ युद्ध की अनिवार्यता, धर्म एवं शांति के मंगल की शुभकामना सन्निहित है। कवि के द्वारा -

"छिनता हो स्वत्व कोई और तुम त्याग तय से
काम ले, यह पाप है।
पूण्य है विछिन्न कर देना उसे बढ़ा रहा तेरी
तरफ जो हाथ है।।"[10]

'कुरूक्षेत्र' की यह पंक्ति गुलामी और अन्याय का प्रतिकार करती है। देशवासियों में पुनः स्वाभिमान का संचार करती है। उनमें राष्ट्र के लिए मर मिटने का जज्बा पैदा करती है।

'रश्मिरथी' में दिनकर जी ने कर्म का उल्लेख किया है। इसके नायक दानवीर कर्ण अपने भुजबल को ही सर्वश्रेष्ठ जाति मानते हैं। कर्म की ओर संकेत करते हुए कहा है कि -

"पूछो मेरी जाति, शक्ति हो तो, मुरे भुजबल से,
रवि-समान दीपित ललाट से और कवच-कुण्डल से,
पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज-प्रकाश,
मेरे रोम-रोम में अंकित है मेरा इतिहास।"[11]

दिनकर ने अपने काव्य में मित्रता का चित्रण किया है। दुर्योधन और कर्ण की मित्रता का चित्रण किया है। दुर्योधन और कर्ण की मित्रता एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करती है जो समूचे भारतीय इतिहास में नहीं मिलता। 'रश्मिरथी' में कृष्ण की विविध प्रकार के प्रलोभन देने पर भी कर्ण अपनी मित्रता नहीं छोड़ता। मित्रता को वह प्रमुख स्थान देता है। कर्ण मित्रता के विषय में कहता है -

"मैत्री की बड़ी सुखद छाया, शीतल हो जाती है काया,
धिक्कार-योग्य होगा वह नर, जो पाकर भी ऐसा तरुवर,
हो अलग खड़ा कहलाता है
खुद आप नहीं कट जाता है।"[12]

कर्ण भी कहता है कि दुर्योधन का साथ देने पर मेरा कोई हित साधन नहीं है। मुझे धन-दौलत की चाह नहीं है। मित्रता ही मेरे लिए सबकुछ है-"मित्रता बड़ा अनमोल रत्न, कब इसे तोल सकता धन?"

कवि देश के लोगों को जागृत करते हुए कहता है कि लक्ष्य पास आ जाने पर थक कर बैठ जाना उचित नहीं है -

दिशा दिप्त हो उठी प्राप्त कर पुण्य प्रकाश तुम्हारा।
लिखा जा चुका अनल अक्षरों में इतिहास तुम्हारा।
जिस मिट्टी ने लहू पीया, वह फूल खिलायेगी।
अम्बर पर धन बल छाएगा ही उच्छवास तुम्हारा।
और अधिक ले जाँच, देवता इतना क्रूर नहीं है:
थक कर बैठ गये क्यों भाई। मंजिल दूर नहीं है।"[13]

उक्त कविता 'आशा का दीपक' से है। कविता का आशय यह है कि जिस भारत भूमि की स्वतंत्रता के लिए इतने बलिदान हुए, उसमें स्वतंत्रता का फूल खिलकर ही रहेगा। यह आशा अवश्य फलवती होगी। हमारी पीड़ा जन्य साँसें आकाश में बादल बनकर आवश्य छायेगी जिससे स्वतंत्रता के रूप में सुखों की वर्षा होगी हे भाई, अब लक्ष्य निकट ही है, अत: थक कर मत बैठो। तुम साधना-श्रम करो जिससे तुम शीघ्र लक्ष्य की प्राप्ति कर सको।

दिनकर की कविताओं में कहीं भावनाओं का उदग्र स्वर तो कहीं भावप्रवण, स्निगध कोमल-धारा। इसे देखकर कुछ लोगों को यह भ्रम होता है कि वे छायावाद और प्रगतिवाद के बीच की कड़ी थे। परन्तु सच्चाई यह है कि दिनकर साहित्य में किसी वाद विशेष को लेकर कभी चले नहीं। आजीवन अपनी अनुभूति के प्रबल आवेग को स्वच्छन्द अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास किया। यही कारण है कि वे तत्कालीन काव्य पंक्तियाँ जैसे यथा छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद इत्यादि साहित्य के किसी खाँचे में समा न सके।

दिनकर जी का काव्य जीवन आदि से अंत तक द्वन्द्वों से जूझते रहने की मनोहारी कथा ही कही जायेगी। इस सहज किन्तु दुर्लभ प्रकृति के कारण ही उनके काव्य को 'दहकते अंगारों पर इन्द्रधनुष की क्रीड़ा' कहा गया। यह अंतर्द्वंद जितना उनके अभ्यान्तर में लक्ष्य किया गया उतना ही उनके सृजन में भी। इस अन्तर्द्वंद पर ज्ञानपीठ समारोह में भाषण देते हुए स्वयं दिनकर जी ने कहा -"मैं रन्दा लेकर काठ को चिकनाने नहीं आया था। मेरे हाथ में तो कुल्हाड़ी थी। मैं जड़ता की लकड़ियों को फाड़ रहा था। लेकिन मुझे राष्ट्रीयता, क्रांति और गर्जन-तर्जन की कविताएँ लिखते देख मेरे भीतर बैठे हुए रवीन्द्राथ दुखी होते थे और संकेतों में कहते थे - 'तू जिस भूमि पर काम कर रहा है, वह काव्य के असली स्रोतों के ठीक समीप नहीं है।" तब मैं "असमय

आह्वान्" में, "हाहाकार" में, कई अन्य कविताओं में अपनी किस्मत पर रोता था कि हाथ, काल ने इतना कसकर मुझे ही क्यों पकड़ लिया? मेरे भीतर जो कोमल स्वप्न है, वे क्या बुझकर मर जायेंगे? उन्हें क्या शब्द बिल्कुल नहीं मिलेंगे।"[14]

दिनकर की रचनाओं में 'संस्कृति के चार अध्याय' न केवल आकार में विशाल हैं वरन धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रंथों में निहित प्रमुख तत्वों के गहन अध्ययन विश्लेषण के जरिये मानवतावादी जनवादी मूल्यों का प्रतिपादन हैं। संस्कृत, बंगला, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं के ग्रंथों तथा विभिन्न विचारकों के उद्धरणों और व्याख्याओं में सटीक निष्कर्षों की प्रस्तुती के कारण यह ग्रंथ हिन्दी पाठकों के लिए अद्वितीय है। जिन बुद्धिजीवियों, पाठकों को लक्ष्य बनाकर यह ग्रंथ लिखा गया, उन्होंने उत्सुकतापूर्वक इसका समादर भी किया। भारत भूमि पर वैदिक काल से लेकर अपने युग तक के इतिहास को दिनकर ने चार क्रांतियों के आधार पर चार अध्यायों में विभाजित किया है जिसे 1962 के द्वितीय संस्करण में अंतिम रूप दिया।

इस ग्रंथ का प्रथम अध्याय, भारत के मूलवासियों से आर्यों के 'मिलन' से संबंधित है। जिससे 'भारत के बुनियादी संस्कृति बनी।' महावीर और गौतम बुद्ध का यज्ञवान और उपनिषदों की चिंतन धारा के विरूद्ध विद्रोह दूसरे अध्याय का विषय है। विजेताओं के धर्म के रूप में इस्लाम का हिन्दुत्व के साथ सम्पर्क, तीसरे अध्याय का तथा भारत में यूरोपियों के आगमन का हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों पर प्रभाव, मान्यताओं तथा विद्वानों की स्थापनाओं से उन्होंने संवाद के साथ जहाँ-तहाँ असहमति, छेड़-छाड़ और प्रतिवाद भी किया है। प्रथम अध्याय में कतिपय रोचक संदर्भ दर्शनीय है –

"आर्य यहाँ आए, उससे पहले ही सभ्यता का विकास यहाँ हो चुका था और धर्म तथा संस्कृति अंग रूप ग्रहण कर चुका था और धर्म तथा संस्कृति अंग रूप ग्रहण कर चुके थे। आर्यों ने इन सबको लेकर आर्य धर्म का संगठन किया।"[15]

'संस्कृति के चार अध्याय' की रचना एवं प्रकाशन ऐसे संक्रमण काल में हुआ था जब सांस्कृतिक विरासत को राष्ट्र हित में संजोना था, उस राष्ट्र के हित में जिसका नेतृत्व में स्वाधीनता संग्राम के महानायक नेहरू कर रहे थे। 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसे श्रम साध्य ग्रंथ की रचना करके दिनकर ने हिन्दी साहित्य में एक अभाव को सम्पुष्टि किया। उन्हें विश्वास रहा है कि इस ग्रंथ में "अर्द्ध सत्य और अनुमान चाहे जितने रहे हो, किन्तु जो प्रतिमा इस पुस्तक में खड़ी की गयी है। वह निर्जीव नहीं है।"[16]

'संस्कृति के चार अध्याय' के प्रकाशन ने हिन्दी पाठकों को आकर्षित किया था। संवेदनशील पाठकों ने से अपने उद्गारों को मंचों से उद्घाटित किया, समाचार पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिक्रिया व्यक्त की और करीब तीन सौ पत्र दिनकर को प्राप्त हुए। इनमें दिनकर का 'फल समर्थन' करते हुए उनकी भूरी-भूरी प्रशंसा थी किन्तु दूसरी ओर कुछ पत्रों में लेखक अज्ञानी और मूर्ख है, कहते हुए 'कठिन विरोध' भी किया गया था।

दिनकर के अनन्य मित्र और सहयोगी ममननाथ गुप्त ने संस्कृति के चार अध्याय को 'गागर में सागर' मानते हुए लिखा कि मुझे पता नहीं कि "भारतीय भाषा में इतनी ठोस सामग्री कहीं एक जगह एकत्र भी है?" या नहीं। गुप्त जी के शब्दों में इस पुस्तक के पहले दिनकर हिन्दी के एक श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रसिद्ध थे,

पर इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद से वह एक गहन चिंतक तथा सुपाठित मनीषी के रूप में हिन्दी संसार में ही क्यों भारतीय साहित्य में आ गए।"[16]

दिनकर के मन की कसक अकारण न थी, राजनीति और दिल्ली का सम्मोहन संभव है। संस्कृति के चार अध्याय' की रचना के कारक रहे हों, अन्यथा दिनकर का घोषित मत था –

"वैभव की दीवानी दिल्ली
कृषक मेघ की रानी दिल्ली
अनाचार, अपमान व्यंग्य की
चुभती हुई कहानी दिल्ली।"[17]

रामधारी सिंह दिनकर ने सर्वप्रथम गुप्त जी की रचना 'जयद्रथ वध' के अनुकरण पर 'प्रणभंग' काव्य की रचना की। इसके बाद बहुचर्चित राष्ट्रवादी चेतना को पोषित करने वाली हुंकार, रेणुका, सामधेनी, कुरूक्षेत्र, रश्मिरथी, परशुराम की प्रतीक्षा आदि रचनाएँ प्रकाशित हुई। जिसमें दिनकर ने आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओं की अपेक्षा देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए क्रांति एवं विद्रोह का सिंहनाद करते हुए जन जागरण के भावना को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। दिनकर की जब भी बात होती है तो लोग वह संस्मरण अवश्य सुनाते हैं कि जब एक बाद किसी कार्यक्रम में नेहरू जी शिरकत करने मंच पर चढ़ रहे थे तो अचानक उनका पैर लड़खड़ा गया और दिनकर जी ने उन्हें संभाल लिया इसके उपरांत जब नेहरू जी ने कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहा तो दिनकर जी ने नेहरू जी कहा कि 'इसमें है तो साहित्य उसे सहारा देता है' दिनकर का यह जबाब उनकी प्रतिबद्धता को दर्शाता है। वह जहाँ तक रहे राष्ट्र और कलम के साथ रहे।

दिनकर जी एक बड़ी विशेषता उनकी राजनीतिक चेतना है। देश स्वतंत्र होने के बाद जो कुछ भी चीजें धुंधली थी वह साफ हो गयी। सड़क से लेकर संसद तक की पहुँच ने दिनकर की वह मौका दिया जिससे वह शासन और सत्ता के बीच रहकर उसकी कमियाँ एवं आम जनता के शोषण के केन्द्रों को ठीक ढंग से पहचान सके। उनसे सवाल-जबाब कर सके।

"अत्याचार सहन करने की कुफल यही होता है,
पौरूष का आतंक मनुज कोल होकर खोता है।
क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दंतहीन विष रहित विनीत सरल हो।"[18]

दिनकर की काव्य चेतना के विकास और स्वरूप का जो विश्लेषण में किया गया है उसे देखते हुए स्वातंत्रयोत्तर काल में उर्वशी की रचना कहीं से आश्चर्यजनक नहीं है। इस प्रसंग में 'रेणुका' की हाहाकार शीर्षक कविता मुझे याद आ रही है, जिसमें दूध का दूध कई बार आया है, जिससे स्पष्ट होता है कि गरीब परिवारों के मासूम बच्चों के लिए कवि बहुत परेशान है लेकिन कविता में कवि कहता है।

"मेरी ही चाह बिलासनी, सुन्दरता को शीष झुकाऊँ।
जिधर-जिधर मधुमयी सखी हो उधर वसंतानिल बन जाऊँ"[19]

दुनिया में मचे हाहाकार के बीच कवि की इस लालसा पर गौर करना चाहिए। कवि की लालसा यह है कि सुन्दरता को शीश नवाए। दिनकर की सौन्दर्य दृष्टि हर वस्तु में सौन्दर्य वही खोज पाती सुंदरता का प्रचालित अर्थ और रूप ही वे ग्रहण करते हैं। अत: हाहाकार थम जाने पर सुदरता की देवी उर्वशी की कविता का ध्यान चला ही जाता है। 'उर्वशी' के दिनकर के सृजन क्षेत्र में आने पर मुझे 'रेणुका' की एक कविता की ये पंक्तियाँ याद आती है –

"व्योम कुंजी की परी अभिकल्पने?
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं
पा न सकती मृति उड़ कर स्वप्न को
युक्ति हो तो आ बसा अलका चहीं।"[20]

'उर्वशी' में मातृ का प्रतिनिधि पुरूखा अपना कोई स्वप्न पाने के लिए नहीं, बल्कि स्वर्ग के देवी और देवराज इन्द्र की सत्ता की रक्षा करने के लिए गया था और उसका पौरूष एवं वीरत्व देखकर स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी इस पर आशक्त हो गयी। उर्वसी का सार तत्व यह है। भूमि पुत्र पुरूखा को स्वर्ग और स्वर्ग की देवी नहीं ललचा सकती है, उल्टे उर्वसी भूमि पुत्र पर समर्पित हो जाती है। दिनकर की काव्य चेतना का एक रूप यह भी है। मनुष्य के पुरूषार्थ का स्थान उसमें सबसे ऊपर है। पुरूखा के प्रति उर्वशी की आशक्ति का एक बड़ा कारण देवताओं में भी है और यह कि देवताओं में कोई परिवर्तन नहीं होता, उनमें एकरसता है, इसमें ऊब पैदा होती है। स्वर्ग देवी से ऊबी हुई उर्वशी धरती के मनुष्य पुरखा की ओर आकृष्ट होती है। इसी पृष्ठभूमि में पुरूखा कह सकता है –

"मर्त्य मानव की विजय का सूर्य हूँ मैं,
उर्वशी अने समय का सूर्य हूँ मैं।"[21]

दिनकर कहते हैं मैंने किसी भी ध्येय को ध्यान में रखकर इस काव्य की रचना नहीं की है। (रश्मिलोक की भूमिका) स्वयं रचनाकार के ऐसा कहने के बावजूद कोई ध्येय या कोई संदेश रचना में आ ही जाता है, क्योंकि भाषा सटीक सार्थक शब्द की व्यवस्था है, दूसरे रचना प्रसंग बिना किसी विशिष्ट अर्थ या संदेश के हो नहीं सकता। स्वयं कवि ने भी काम और प्रेम के सम्बन्ध पर प्रश्न उठाया है। इस प्रसंग में दिनकर जी का यह कहना महत्वपूर्ण है – "उर्वशी धर्म नहीं प्रेम की अर्तीदियता का आख्यान है और यही अर्तीदियता उसका आध्यात्मिक पक्ष है।"[22]

नई कविता के दौर में उर्वशी का खास महत्व था क्योंकि इसने कविता में लघु मानव की विजय के स्थान पर ये बोध प्रस्तुत किया कि मर्त्य मानव की विजय का सूर्य स्वर्ग तक गुँजता है। इस दृष्टि से उर्वशी हिन्दी कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

'परशुराम की प्रतीज्ञा' के बारे में कवि ने खुद एक मजेदार बात कही है। सन् 1962 में भारत चीन युद्ध हुआ और चीन की सेना ने भारत की सीमा का अतिक्रमण किया। स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र फिर एक बार आहत हुआ। यही आहत भावना फिर एक बार दिनकर को उत्तेजित कर देती है। दिनकर ने खुद कहा है – "हमारा

सारा राष्ट्र एक विचित्र उन्माद से ग्रस्त है। मैं उस उन्माद को जुगाकर साहित्य में रख देना चाहता हूँ, जिसके इतिहास उसे याद कर सके।"[23]

दिनकर जैसे बड़े कवि 'परशुराम की प्रतिज्ञा' में फिर उलट कर 1933 में लिखित 'हिमालय' के करीब चले गये हैं। इसमें 'निलकुसुम' की कविताओं की चेतना खंडित होती है। नीलकुसुम से 'कोयला और कवित्व' तक की काव्यात्मक भावना के बीच में 'परशुराम की प्रतिज्ञा' संगीत का धैवत स्वर है, जो राग को भंग कर देता है। 'कोयला और कविता' में भी कवि सोचता है, अनेक प्रश्नों पर प्रतीकों और रूपकों के सहारे सोचता है। उपयोगिता और सौन्दर्य का रिश्ता, स्वयं प्रकृति के अंर्तविरोध आदि प्रश्नों पर कवि सोचता रहता है। यहाँ कवि निर्द्वद्व भाव से मनुष्यत।, प्रेम, सौन्दर्य आदि का पक्ष लेता है। उर्वशी का मनुष्य यहाँ और व्यापक भूमिका में दिखाई पड़ता है, भले ही किसी अध्ययन नहीं, फुटकल कविताओं में।

सामधेनी का प्रकाशन सन् 1946 में हुआ था। सन् 1941 से 1946 तक का काल देश में क्रांति का काल रहा है। समय देश का प्रतिशोध और प्रतिहिंसा का स्वर इसमें व्यक्त हुआ है। इस कृति का मूल स्वर क्रांति ही है।

क्रांति पुरोधा बनकर क्रांति यज्ञ में बलिदानों की समीधा द्वारा अग्नि प्रज्जवलित करना चाहता है। सामसेधी की प्रथम कविता – 'अचेतमृत-अचेतन' शिला मंगलाचरण रूप है। संग्रह के प्रथम सात गीत भाव प्रधान मुक्तक हैं। उनमें कवि के राष्ट्रीय भाव बड़ी प्रवीणता से व्यक्त हुए हैं। कवि की दृढ़ता रागपूर्ण स्वर में व्यक्त हुई हैं। वह चाँद से बाते करते हुए समय उसे छिपी चेतावनी तो दे ही देता है।

"स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं तो वे,
रोकिए जैसे सने इन स्वप्न बालों को
स्वर्ग की हो ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।"[24]

'सामधेनी में कवि ने काव्य का विषय सवर्ग की अपेक्षा धरती को चुना है। 'हुकार' का क्रांतिकारी कवि स्थिर हो गया है। जो युद्ध के संदर्भ में शांति की ओर विचारशील हो गया है। श्री विश्वनाथ सिंह के शब्द निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत करना पर्याप्त है – "दिनकर का यह काव्य संग्रह सामधेनी इस प्रकार यौवन के उद्याम वेग की वाणी ही नहीं युग की वाणी भी है।"[25]

'इतिहास के आँसू' में कवि की दस प्रारंभिक ऐतिहासिक संग्रहित है। इन कविताओं का रचनाकाल 1932 ई० से 1948 ई० तक है। ये सभी कविताएँ हमारे इतिहास से संबध्ति हैं किन्तु कवि का राष्ट्रप्रेम और उसका ओजपूर्ण स्वर भी इनमें मुखरित महान योद्धाओं की वीरता का गुणगान किया है।

'इतिहास के ये आँसू को कितने प्रिय हैं हमारे लिए कितने अनमोल हैं इसका पता हमें इन रचनाओं को पढने के बाद ही लगता है। राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत कवि का आगे काव्य संग्रह 'धूप और धुँआ' का प्रकाशन 1953 में हुआ और इसमें कवि भी 1947 से 1951 तक की रचनाओं का संग्रह है। कवि इसके नामकरण के

बारे में लिखता है – "स्वराज्य से फूटने वाली आशा की धूप और उसके विरूद्ध जन्म हुए असंतोष का धुँआ, ये दोनों ही इन रचनाओं में यथास्थान प्रतिबिम्बित रही है। इसके लिए यह नाम कुछ निरर्थक नहीं होगा।"[26]

"माँ का अंचल है फटा हुआ, इन दो टुकड़ों को सीना है।
देखें देता है कौन लहू, दे सकता कौन पसीना है।"[27]

दिनकर की सोच राष्ट्रवादी सोच है और स्वदेश गौरव तथा स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा है। कवि गाँधी जी की विचारधारा से प्रभावित होने के कारण उनका राष्ट्रवाद और अधिक पुष्ट तथा मजबूत बन गया है, किन्तु वे अहिंसा में विश्वास न करते हुए हिंसा को मूल में रखते हुए कहते हैं शांति और अहिंसा के सिद्धांतों को अपनाता है तो इससे उसकी कायरता उजागर होती है।

निष्कर्ष

दिनकर के काव्य का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि नका काव्य राष्ट्रीय चेतनाओं से परिपूर्ण है कवि ने शुरूआत ही राष्ट्रीय चेतना से संबंधित काव्य से की है तथा अलग-अलग संदर्भों में राष्ट्रीय चेतना को अपने काव्य में दर्शाया है। कवि दिनकर ने अपने युग का प्रतिनिधि हब अपने काव्य में दिया। दिनकर की सोच राष्ट्रवादी सोच है और स्वदेश गौरव तथा स्वाभिमान उनमें कूट-कूटकर भरा है, कवि गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित है किन्तु वे अहिंसा के बल पर नहीं बल्कि हिंसा के बल पर देश को आजाद कराना चाहते हैं। कवि स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सभी कुछ न्योछावर करने देने तथा स्वयं को भी बलिदान कर देने की भावना को प्रोत्साहित करते हैं। दिनकर की कविता जनमानस में ऊर्जा का संचार करती है। उनकी कविता देश की संस्कृति, सभ्यता, भाषा, परम्परा और आदर्श आदि की अनूठी एकता की आधारभूमि प्रस्तुत करती है।

संदर्भ

1. महाले, डॉ० सुभाष, माखन लाल चर्तुवेदी और वि.दा. सावरकर की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना, पृ०-251
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०-211
3. इन्टरनेट सामग्री
4. रामधारी सिंह दिनकर, 'संचयिता', पृ०-311
5. वहीं से, पृ०-491
6. आधुनिक काव्य, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ०-1451
7. इंटरनेट सामग्री
8. रामधारी सिंह दिनकर, परशुराम की प्रतिक्षा, पृ०-3
9. इन्टरनेट सामग्री
10. रामधारी सिंह दिनकर, 'संचयिता', पृ०-71

11. रामधारी सिंह दिनकर, 'रश्मिरथी', प्रथम सर्ग, पृ०-16
12. वहीं से, तृतीय सर्ग, पृ०-45
13. इन्टरनेट सामग्री
14. वहीं से
15. वहीं से
16. वहीं से
17. रामधारी सिंह दिनकर, 'संचयिता', पृ०-271
18. इन्टरनेट सामग्री
19. वहीं से
20. वहीं से
21. वहीं से
22. वहीं से
23. वहीं से
24. वहीं से
25. वहीं से
26. वहीं से
27. वहीं से

आत्मकथात्मक उपन्यास : स्वरूप एवं अवधारणा

राज मणि सरोज
असि० प्रो० हिन्दी विभाग
धर्मसमाज महाविद्यालय, अलीगढ़

शोध-पत्र

आत्मकथात्मक उपन्यास का आशय :- *आत्मकथात्मक उपन्यास का आशय ऐसे उपन्यास से है जिसमें लेखक द्वारा 'मैं' शैली का प्रयोग किया जाता है और उपन्यास के मुख्य पात्र के रूप में नायक या नायिका के माध्यम से लेखक अपने जीवन के अनुभवों को प्रकट करता है। आत्मकथात्मक उपन्यास में नाम, स्थान, घटनाएँ इत्यादि परिवर्तित हो जाने के बाद भी कथा-लेखक के जीवन से काफी मिलती-जुलती है। आत्मकथात्मक उपन्यास आत्मकथा की शैली में लिखा जाता है।*

दूधनाथ सिंह ने आत्मकथात्मक उपन्यास को परिभाषित करते हुए लिखा हैं- "आत्मकथा की शैली में लिखा गया विविध प्रसंगों, चरित्रों, घटनाओं, सामाजिक विश्वसनीयता प्रदान करते हुए कथा कहने का प्रयत्न आत्मकथात्मक उपन्यास है।"[1]

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार -"जिस प्रकार से आधुनिक आत्मकथाओं में चरित्र-नायक प्रधान न होकर उनका युग अधिक प्रधान हो गया है, उसी प्रकार से आत्मकथात्मक उपन्यास में भी नायक एक माध्यम मात्र है, मानव जीवन के कुछ पक्षों को संवेदित करने के लिए। आत्मकथात्मक उपन्यास का एक अन्य पक्ष विकसित हुआ है, जिसमें कथा का नायक अपने श्रोता या पाठक को अपना निकट विश्वासपात्र बनाता है, और उसे एक सक्रिय सहयोगी के रूप में ग्रहण करता है।"[2]

हिन्दी साहित्य-कोश में आत्मकथात्मक उपन्यास के बारे में लिखा गया है कि - "वह आत्मकथात्मक शैली है, जिसमें या तो उपन्यास के नायक या किसी अन्य पात्र की आत्मकहानी के रूप में सम्पूर्ण कथा उपस्थित की जाती है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न पात्रों से अपनी-अपनी आत्मकहानी कहलाकर उपन्यास की कथा के सूत्र जोड़े जाते हैं।"[3]

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में आत्मकथात्मक उपन्यास को परिभाषित करते हुए लिखा गया है - "आत्मकथात्मक उपन्यास एक ऐसा उपन्यास है, जो लेखक के जीवन पर आधारित होता है। आत्मकथा अथवा जीवनवृत्त साहित्यिक तकनीकि के काल्पनिक अनुबंध द्वारा वर्णन करने पर विख्यात होती है। यथार्थ से दूरी

भी कभी-कभी आत्मकथात्मक उपन्यास की निर्मिति का कारण बनती है जिसे अर्द्ध-आत्मकथात्मक उपन्यास कहते हैं।"[4]

'ए ग्लॉसरी ऑफ लिट्रेरी टर्म्स' के अनुसार - "लेखक के जीवन से सम्बंधित उपन्यास होता है। बहुत से उपन्यासकार अपनी रचनाओं में जनसामान्य तथा घटनाओं का विवरण देते हैं, जो स्वयं के जीवनानुभवों से सम्बंधित होता है क्योंकि (अपने जीवन को) उधेड़ने से जो रचनात्मकता है, उससे (अतीत का) स्मरण अधिक सरल है।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि आत्मकथात्मक उपन्यास में लेखक के जीवन की घटनाएँ जुड़ी होती हैं और वह उनका वर्णन स्वयं न कहकर किसी पात्र के माध्यम से करता है। उपन्यास लेखन में 'मैं' शैली का प्रयोग किया जाता है। उपन्यास का पात्र या नायक-नायिका 'मै' शैली के माध्यम से घटनाओं या कथानक को विस्तार देता है। लेखक अपने जीवन के सभी पक्षों को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हुए उपन्यास में अपने जीवनानुभव को अभिव्यक्त करता है। आत्मकथात्मक उपन्यास लेखन में यथार्थ और कल्पना का मिश्रण होता है।

आत्मकथात्मक उपन्यास में लेखक या किसी पात्र के जीवन की कहानी उपन्यास के कथावस्तु में शामिल होती है। लेखक उपन्यास के कथानक में व्यक्ति, समाज, देशकाल एवं तत्कालीन परिवेश का उल्लेख करता है। आत्मकथात्मक उपन्यास में प्रमुख पात्र नायक या नायिका अपनी कथा को स्वयं सुनाते हैं। 'मैं' शब्द के द्वारा उपन्यास का कथानक विकसित होता है। आत्मकथा मैं आख्यानात्मक प्रयोग से आत्मकथात्मक उपन्यास का उद्‌भव होता है। लेखक पाठक से आत्मीयता स्थापित करने के लिए इस तरह के उपन्यास में स्वयं बात न करके किसी पात्र के माध्यम से खुद को प्रस्तुत करता है। आत्मकथात्मक उपन्यास में लेखक जो कथानक तैयार करता है, वह वस्तुतः उसी की होती है परन्तु यदि वह स्वयं पाठक के सामने प्रस्तुत करे तो वह लेखन आत्मकथा विधा में परिवर्तित हो जाती है। आत्मकथात्मक उपन्यास में लेखक अपनी कथा वस्तु को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करता है जिसमें वह स्वयं उपस्थित न होकर किसी अन्य के माध्यम से अपने जीवनानुभवों, समस्याओं, विचारों आदि को अभिव्यक्त करता है। डॉ. अभिषेक दुबे ने आत्मकथात्मक उपन्यास की रचना-प्रक्रिया के बारे में लिखा हैं- "उपन्यासकार अपने अनुभव को एक नवीन शिल्प और रूप देने के लिए अपनी कल्पनाशीलता का सहारा लेता है। साथ ही साथ अपने व्यक्तिगत जीवन को भी कृति में उद्‌घाटित करता है। पर उपन्यासकार का महत्व जीवनी लेखक होने में नहीं है। महान उपन्यास का रचनाकार अपने सार्वभूत तत्त्व को स्वयं की कल्पनाशीलता के साथ समन्वित करता है। उसे अनुभव के पुनर्पाठ से जोड़ देता है। यद्यपि जिन पात्रों को वह अपनी कृति में उकेर रहा है, वे उसके वास्तविक जीवन के चरित्र नहीं हैं। फिर भी, वह अपने व्यक्तित्त्व को उनसे एकीकृत करता है।"[6] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अपूर्ण कृति 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' को हिन्दी का प्रथम आत्मकथात्मक उपन्यास होने का श्रेय दिया जाता है। ठाकुर जगमोहन सिंह द्वारा लिखित पूर्ण कृति 'श्यामास्वप्न' को प्रथम आत्मकथात्मक उपन्यास माना जाता है।

आत्मकथा और उपन्यास - आत्मकथा और उपन्यास दोनों हिंदी साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधाएं हैं। लेखक द्वारा उपन्यास में मानव जीवन की काल्पनिक कथा, घटना, प्रसंग आदि का उल्लेख किया जाता है। आत्मकथा

में इनके साथ लेखक की स्वानुभूति होती है जिसमें यथार्थता के कारण इनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। दोनों विधाओं में एक दूसरे के तत्त्व मिलते-जुलते हैं। यही कारण है कि अधिकतर दलित आत्मकथाएं आत्मकथात्मक उपन्यास के रूप में पायी जाती हैं। डॉ. विजय मोहन सिंह लिखते हैं- "आत्मकथा और आत्मकथात्मक उपन्यास दोनों एक नहीं हैं। अत: इन्हें विकल्प के रूप में नहीं देखना चाहिए। आत्मकथा लिखना अनिवार्य नहीं है बल्कि लेखक यदि उपन्यासकार है तो उसे पृथक से आत्मकथा लिखने की आवश्यकता होनी ही नहीं चाहिए क्योंकि अधिकांश महत्त्वपूर्ण उपन्यास प्रकारान्तर से आत्मकथा ही होते हैं।"[7]

उपन्यास विधा में शैलीगत विभेद में आत्मकथात्मक शैली आती है। इस शैली के अन्तर्गत उपन्यास में लेखक 'मैं' शैली का प्रयोग करता है। 'मैं' के द्वारा वह उपन्यास में केन्द्रीय भूमिका में होता है। उपन्यास लेखन में उपन्यासकार द्वारा आत्मकथा की 'मैं' शैली प्रयोग किये जाने के कारण ही उपन्यास आत्मकथात्मक स्वरूप धारण कर लेता है। डॉ. अभिषेक दुबे लिखते हैं- "जो उपन्यास में कहा गया है, वह 'मैं' शैली के कारण भी पूर्णतया सत्य नहीं है क्योंकि रचना उपन्यास विधा में होने के कारण कल्पना का मिश्रण उसमें मिल जाता है। वैसे भी लेखक द्वारा अपने जीवन की वास्तविक सच्चाइयों का उपन्यास में उद्घाटन कर देने के कारण दोबारा आत्मकथा लिखने के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता है। आत्मकथा सच्चाई को निर्ममता से उधेड़ने की प्रतिज्ञा लेकर लिखी जाती है जबकि आत्मकथात्मक उपन्यास अपने कलेवर में कल्पनशीलता एवं उद्बोधन शैली से बँधा रहता है। आत्मकथात्मक उपन्यास की तकनीकि में सर्वाधिक योगदान आत्मकथा के शिल्प का होता है। आत्मकथा विधा अपनी सीमाओं के चलते एक विशिष्ट दायरे में बँधकर रह गयी है जबकि आत्मकथात्मक उपन्यास लेखक, पाठक में कथा के प्रति विश्वसनीयता पैदा करता है और अपने जीवन-यथार्थ का बचाव भी कर लेता है।"[8]

अमृत लाल नागर ने अपने उपन्यास 'अमृत और विष' के पात्र अरविन्द शंकर को अपना प्रतिनिधि पात्र बना दिया है। लेखक की पत्नी भी उपन्यास के पात्र अरविन्द शंकर की पत्नी 'माया' के रूप में पहचानी जा सकती है। अरविंद शंकर के पुत्र-पुत्रियों के चरित्र-निर्माण के लिए लेखक ने अपने अनुभव संसार के मॉडल को आधार बनाया है। इस तरह से लेखक ने सतर्कता पूर्वक आत्मवृत्त को उपन्यास के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिसे समीक्षक आत्मकथात्मक उपन्यास की श्रेणी में रखते हैं। आत्मकथात्मक उपन्यास में आप बीती और जगबीती दोनों का समन्वय दिखाई पड़ता है जो आत्मकथा और उपन्यास दोनों के तत्त्वों को एक दूसरे से जोड़ता है। लेखक समाज की गतिविधियों और व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर लेखन कार्य करता है। इसलिए उसकी कृति में दोनों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उपन्यास में लेखक स्वयं अथवा पात्रों के माध्यम से अपनी कल्पनाशीलता एवं दृष्टिकोण को प्रकट करता है।

लेखक शिवपूजन सहाय ने अपने उपन्यास 'देहाती दुनिया' में प्रमुख पात्र 'मैं' के माध्यम से कथा की प्रस्तुति कराया है। उपन्यास का परिचय कराते हुए उन्होंने लिखा है - "मैं ऐसे ठेठ देहात का रहने वाला हूँ। जहाँ इस युग की नई सभ्यता का बहुत ही धुँधला प्रकाश पहुँचा है। वहाँ केवल दो ही चीजें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं- अज्ञानत का घोर अंधकार और दरिद्रता का ताण्डव नृत्य! वहीं पर मैंने स्वयं को कुछ देखा-सुना है, उसे यथाज़क्ति ज्यों-का-त्यों इसमें अंकित कर दिया है। इसका एक शब्द भी मेरे दिमाग की खास उपज या

मेरी मौलिक कल्पना नहीं है, यहाँ तक कि भाषा का प्रवाह भी मैंने ठीक वैसा ही रखा है, जैसे ठेठ देहातियों के मुख से सुना है।"[9]

डॉ० अभिषेक दुबे ने आत्मकथात्मक उपन्यासों के स्वरूप के बारे में लिखा हैं- "आदर्श और यथार्थ के द्वंद के बीच उपन्यासकारों ने मनुष्य-मन को थाह लेने की कोशिश की तो उपन्यासों का शिल्प बदलने के साथ आत्मभिव्यक्ति के प्रकाशन में शैली भी बदली। 'मैं' शैली सशक्त ढंग से उपन्यास लेखन में प्रयुक्त हुई। कह सकते हैं कि आत्मकथात्मक उपन्यास का सही आरम्भ प्रेमचन्दोत्तर युग में (1936 से 1960 ई.), वह जैनेन्द्र के उपन्यास 'त्यागपत्र' (1937 ई.) से शुरू हुआ। हिन्दी का पहला महत्त्वपूर्ण आत्मकथात्मक उपन्यास 'त्यागपत्र' है। आत्मकथात्मक उपन्यासकारों की श्रृंखला में इलाचन्द जोशी, अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. देवराज एवं प्रेमचन्द भी अपने अधूरे व अंतिम आत्मकथात्मक उपन्यास 'मंगलसूत्र' के साथ हिन्दी उपन्यास के परिदृश्य में आते हैं। जैनेन्द्र की सृजनात्मक क्षमता थी कि कथा कहने वाले के स्थान पर उपन्यास के पात्र को ही नियुक्त कर दिया। कहानी का तार तोड़ने की यह प्रक्रिया जैनेन्द्र से प्रारम्भ होती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने आत्म-कथात्मक उपन्यास को विश्वसनीय बनाने के लिए आत्मकथात्मक शिल्प-विधान का सृजनात्मक प्रयोग किया। इन्होंने कथा के बिखरे हुए सूत्रों को जोड़ने में सफलता पाई। अज्ञेय ने आत्मकथात्मक शिल्प-विधान के द्वारा अपने विषय में परिवर्तन किया एवं अपने उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता को उभारा। इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर युग में आत्मकथात्मक उपन्यासकारों (जैनेन्द्र एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी) ने अपने उपन्यासों में 'मैं' को परत-दर-परत छिपाने का प्रयास किया था। वहीं साठोत्तरी युग में (1960 से 1980 ई.) आत्मकथात्मक उपन्यास लेखकों ने पात्र के रूप में अपने को व्यक्त किया। आत्मकथात्मक उपन्यास 'वे दिन' के लेखक निर्मल वर्मा कहने के लिए कह तो देते हैं, यह उनका आत्मवृत्त नहीं है। पर उपन्यास में उन्हें स्पष्ट पहचाना जा सकता है। उनकी कोशिश थी, पाठक भ्रम में ही रहे लेकिन पाठकों के भ्रम को राही मासूम रजा तोड़ देते हैं। आत्मकथात्मक शिल्प-विधान में रचित 'आधा गाँव' में राही मासूम रजा ने अपने 'मैं' को पाठक के बिल्कुल सामने खड़ा कर दिया है। यह 'मैं' उपन्यास का एक पात्र है, साथ ही वह राही मासूम रजा भी है। साठोत्तरी युग में ही अमृत लाल नागर ने 'अमृत और विष' नामक आत्मकथात्मक उपन्यास में अपनी आत्मकथा एवं इस आत्मकथा में भी आत्मकथा का प्रयोग कर औपन्यासिक संरचना की तीन परतें खोलीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर अमृत लाल नागर तक अनेक कथाकारों ने आप-बीती को कथा-संसार में विन्यस्त करने का प्रयोग किया था। जहाँ अमृत लाल नागर यथार्थवादी शिल्पविधि में, हजारी प्रसाद द्विवेदी ऐतिहासिक शिल्प विधि में आत्मकथात्मक औपन्यासिक लेखन कर रहे थे, वहीं जैनेन्द्र, इलाचंद जोशी, अज्ञेय और निर्मल वर्मा जैसे व्यक्तिवादी उपन्यासकार भी नवीन सृजनात्मकता के साथ औपन्यासिक लेखन में दिखते हैं। साठोत्तरी युग के बाद आत्मकथात्मक उपन्यास लेखन में नये सृजन प्रयोग के साथ विनोद कुमार शुक्ल अवतरित होते हैं। उनकी 'नौकर' की कमीज' में आत्मालाप के भीतर से 'मैं' के अन्य पात्रों के साथ संवाद के रूप में कथा प्रस्फुटित होती है। आत्मकथात्मक शिल्पविधान में रचित नये प्रयोग एवं कथालेखन की रूढ़ियों को तोड़ने की दृष्टि से 'बहती गंगा' एवं 'सूरज का सातवां घोड़ा' आदि उपन्यासों का नाम लिया जा सकता है। अलग-अलग कहानियों के द्वारा सम्पूर्ण कथा को उपस्थित कर देना शिव प्रसाद मिश्र 'रूद्र' एवं धर्मवीर भारती के कुशल सृजनात्मक क्षमता का द्योतक है। आत्मकथात्मक उपन्यासों के शिल्प और रचना संवेदना की दृष्टि से 1980

ई. के बाद से अब तक बहुरंगी परिदृश्य को लिए हुए सशक्त लेखन दिखाई देता है, जिसके अगुवाकारों में मंजूर एहतेशाम, अब्दुल बिस्मिल्लाह, असगर बजाहत, गोविन्द मिश्र, बल्लभ डोभाल आदि लेखक आते हैं।"[10]

सन्दर्भ

1. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया', प्रथम संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 24
2. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया', प्रथम संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 22
3. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया', प्रथम संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 22
4. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया', प्रथम संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 21
5. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया', प्रथम संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 21
6. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया', प्रथम संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 51
7. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया', प्रथम संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 24
8. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया प्रथम', संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 36
9. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया', प्रथम संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 172
10. दुबे, अभिषेक, 'आत्मकथात्मक उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया', प्रथम संस्करण, 2011, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. – 163

आधुनिक कवियों की काव्य चेतना

डॉ० वनीत कौर
पूर्व शोध छात्रा, हिंदी विभाग
कश्मीर विश्विद्यालय, श्रीनगर
जम्मू व कश्मीर–190006

सन् 1857 ई० से आज तक के काल को आधुनिक काल कहा जाता है। यह रीतिकाल के बाद का काल है। इस काल में गद्य और पद्य दोनों लिखे गए। आधुनिक काल की कविता अनेक चरणों से होकर गुरजती है, जो इस प्रकार हैं –

1) भारतेंदु युग

2) द्विवेदी युग

3) छायावाद युग

4) प्रगतिवाद युग

5) प्रयोगवाद युग

6) नई कविता

7) नव गीत

8) समकालीन कविता

1) भारतेंदु युग– भारतेंदु युग आधुनिक कविता का प्रथम चरण है। भारतेंदु ने हिंदी कविता में सामान्य जन के जीवन के सुख–दु:ख को अभिव्यक्ति प्रदान की। इस प्रकार कविता जन–जीवन के समीप आई। इस युग की कविता में देश और जनता की भावनाओं तथा समस्याओं को पहली बार अभिव्यक्ति मिली। इस युग के कवियों ने देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दशा के करुण चित्र प्रस्तुत किए हैं। भारतेंदु युग में गद्य के लिए खड़ी बोली और पद्य के लिए ब्रज भाषा का अधिक प्रयोग किया गया है। खड़ीं बोली की भी कुछ कविताएँ इस काल में रची गई है। "आधुनिक विषयों को लेकर कविता करने वाले कई कवि जैसे– स्वर्गीय नाथूराम शंकर शर्मा, लाला भगवान दीन पुरानी परिपाटी की बड़ी सुंदर कविता करते थे।"[1] सामाजिक दोषों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट कराते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र कहते हैं–

"अंग्रेज राज सुख साज साजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।"[2]

2.) **द्विवेदी युग**– आधुनिक कविता के दूसरे चरण को द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम रखा गया द्विवेदी युग। इस युग की कविताओं में खड़ीं बोली का प्रचलन था। इस युग के जितने भी कवि, लेखक एवं साहित्कार थे, उन्होंने ब्रजभाषा को छोडकर खड़ी बोली का प्रयोग किया। इस युग के कवियों का मुख्य स्वर राष्ट्रीयता है। मैथलीशरण गुप्त 'भारत–भारती' नामक कविता में भारतवर्ष की श्रेष्ठता की घोषणा करते हुए कहते हैं–

"भूगोल का गौरव प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।"[3]

यह युग सुधारवादी युग या जागरण सुधार काल नाम से भी जाना जाता है। इस युग के कवियों ने दहेज प्रथा, छुआछूत, नारी उत्पीड़न, बाल विवाह आदि को अपनी कविता का विषय बनाया है। गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता कालानुसरण की क्षमता है। गुप्त जी नए–नए विषयों को सामान रूप से उठाते चले। स्त्री समाज के प्रति उनकी कारुणिक भावना इन पंक्तियों में देखती ही बनती हैं–

"अबला–जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"[4]

3.) **छायावाद युग**– यह युग आधुनिक हिंदी कविता का तीसरा चरण है। इस युग के कवियों ने यर्थाथ की अपेक्षा कल्पना को काव्य में अधिक स्थान दिया है। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा इस काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि माने जाते है। छायावाद ने हिंदी में खड़ी बोली कविता को पूर्णत: प्रतिष्ठत कर दिया। इसके बाद ब्रजभाषा हिंदी काव्यधारा से बाहार हो गई। छायावादी कवियों में नारी सौंदर्य के प्रति विशेष आकर्षण दिखाई पड़ता है। उनकी लेखनी ने नारी को श्रद्धा पात्र बना दिया है। नारी को सबसे ज्यादा आदर छायावादी काव्य में मिला है। जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' की पंक्तियाँ इसका उदाहरण हैं–

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास–रजत–नग पगतल में।
पीयूष–स्त्रोत–सी बहा करो,
जीवन के सुंदर समतल में।"[5]

जयशंकर प्रसाद जी ने श्रद्धा के सौंदर्य का अनूठा रूप प्रस्तुत किया हैं–

"नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघवन बीच गुलाबी रंग।"[6]

छायावादी कवियों के काव्य में वेदना और करुणा की अधिकता पाई जाती है। जयशंकर प्रसाद ने 'आँसू' नामक कविता में वेदना को साकार रूप दिया है और पंत ने तो काव्य की उत्पत्ति ही वेदना को माना हैं–

"वियोगी होगा पहला-कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।"[7]

4.) **प्रगतिवाद युग**- यह युग आधुनिक कविता का चौथा चरण है। प्रगतिवादी साहित्य जनता का साहित्य है, इसलिए उसकी भाषा भी जन भाषा है। इस काव्यधारा का मूल केंद्र शोषित वर्ग है। कवियों ने शोषण से पीड़ित मजदूरों और किसानों की करुण दशा का सुंदर चित्रण किया है। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला 'भिक्षुक' की दयनीय दशा का वर्णन इस प्रकार करते हैं–

"वह आता–
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक।"[8]

प्रगतिवादी कवि सोहनलाल द्विवेदी ने अपनी कविता 'बढ़े चलो! बढ़े चलो' में शोषित समाज को स्वावलंबी बनाकर अपना उद्धार करने की प्रेरणा दी हैं–

"न हाथ एक शस्त्र हो,
न हाथ एक अस्त्र हो,
न अन्न वीर वस्त्र हो,
हटो नहीं, डरो नहीं
बढ़े चलो, बढ़े चलों।"[9]

5.) **प्रयोगवाद युग**- यह आधुनिक कविता का पाँचवा चरण है। हिंदी में प्रयोगवाद का जन्म सन् 1943 में प्रकाशित तार सप्तक से माना जाता है। प्रयोगवादी कवियों के काव्य में प्रकृति का सुंदर रूप दिखाई पड़ता है। भवानी प्रसाद मिश्र के 'गीत फरोश' नामक काव्य संग्रह में प्रकृति बड़े सहज और आत्मीय रूप में आकर बैठ गई हैं–

"सतपुड़ा के घने जंगल
नीद में डूबे हुए-से,
उघते अनमने जंगल।
झाड़ ऊँचे और नीचे
चुप खड़े है, आँख मीचे;

घास चुप है, काश चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है;
बन सके तो धँसो इनसे,
धँस न पाती हवा जिनमें,
सतपुड़ा के घने जंगल
ऊँघते, अनमने जंगल।"[10]

6.) **नई कविता**- नई कविता हिंदी साहित्य की उन कविताओं को कहा गया, जिनमें परंपरागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प-विधान का अन्वेषण किया गया। यह प्रयोगवाद के बाद विकसित हुई हिंदी कविता की नवीन धारा है। अज्ञेय कृत 'असाध्य वीणा' तथा मुक्तिबोध कृत 'अंधेरे में' नई कविता की सुंदर रचना हैं।

7.) **नव गीत**- नव गीत का संपादक श्री शंभूनाथ सिंह द्वारा रचित 'समय की शीला पर' कविता से किया गया है।

8.) **समकालीन कविता**- 1960 से आज तक में जितनी भी कविता लिखी गई वे समकालीन कविता के अंतर्गत आती है। इस युग के कवि अत्यधिक उत्साह भाव से कविता बनाते हैं। कविजन उत्साहित होकर शब्द कहते चले जाते है। कहने का अर्थ हैं कि उत्साह हृदय की संवेदना को प्रेरित करती है। उसी प्रकार वह आगे कहते हैं–

"वे सह नहीं पाएँगे यह भीतर घात
जबकि सचमुच वही कविता उपजने वाली है
उन बच्चों के मन कोष में
धरती का सबसे उपजाऊ और अनदुहा टुकड़ा है वह
बच्चों का मस्तिष्क
जहाँ से तीर तरह छुटेगी
जहाँ नीर की तरह भर आएगी।"[11]

प्रवासी साहित्यकार गुलशन मधुर ने 'अपहरण' नामक कविता में प्रत्येक्ष रूप से अपने देश की सभ्यता, संस्कृति और देश प्रेम को प्रस्तुत किया हैं–

"ऐ मेरे बिछुड़े देश
मैं तुझमें नहीं हूँ
पर तू मुझमें है
बसा ही नहीं, रचा-बसा
मेरा वह सारा व्यतीत
जो तुझमें जुड़ा है
तेरी धरती पर बीते

पल-छिन, दिन, महीने, साल
वह सारी सुधियाँ
गूंजती खिलखिलाहटे, मौन आँसू
उलसते तोडती मायूसियाँ
और भी कितना ही कुछ।"[12]

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचंद्र शुक्ल, संवत 2057 वि०, 38 वा संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, वाराणसी, पृ०-318
2. भारत दुर्दशा- भारतेंदु हरिश्चंद्र,विश्विद्यालय प्रकाशन मोतीलाल मोती एंड संस गोरखपुर, संपादक- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण: 3000, जनवरी -1957, पृ०-18
3. भारत-भारती-भारतवर्ष की क्षेष्ठता- मैथलीशरण गुप्त, साहित्य सदन चिरगाँव झांसी- दशम संस्करण: 1984, पृ०- 4
4. यशोधरा- मैथलीशरण गुप्त, प्रकाशन साहित्य प्रेस चिरगाँव,झांसी, हिंदी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचंद्र शुक्ल, सम्वत 2057 वि०, 38 वा संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, वाराणसी, पृ०-59
5. कामायनी-लज्जा सर्ग- जयशंकर प्रसाद, हिंदी पांकेट बुक्स प्रा० लिमिटेड, जी०टी०रोड शोहदरा, दिल्ली, पृ०-53
6. वही, श्रद्धा सर्ग, पृ०-29
7. पल्लव-आँसू- सुमित्रानंदन पंत, इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, प्रथमावृति, पृ०-16
8. परिमल-भिक्षुक- सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, श्रीदुलारेलाल अध्यक्ष गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, चतुर्थावृति, सं०: 2005 वि०, पृ०-133
9. गान्ध्ययन- सोहनलाल दिववेदी,साहित्य भवन प्रा०लिमिटेड,इलाहाबाद, सं०: प्रथम 1970, पृ०-74
10. गीत-फरोश- सतपुड़ा के जंगल-भवानी प्रसाद मिश्र, प्रथम प्रकाशन-1956, नव हिन्द प्रकाशन बेगमबाजार, हैदराबाद, पृ०-65
11. संशयात्मा-कविता से मत मारों- ज्ञानेंद्रपति, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेटलिमिटेड, दूसरा संस्करण: 2016, पृ०-252
12. प्रवासी साहित्य- जोहान्सबर्ग से आगे- अपहरण,गुलशन मधुर, विदेश मंत्रालय भारत सरकार, सं०: प्रथम 2015, पृ०-316

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के काफी थाट के प्रचलित एवं अप्रचलित राग

डॉ० कविता शर्मा
विभागाध्यक्ष
सिम्बॉयजिया गर्ल्स कॉलेज

सार

संगीत मानव जीवन का ऐसा शुभ्र और शाश्वत अलंकार है जिसकी दीप्ती कम नहीं होती। वस्तुत: चराचर जगत में जो कुछ भी सौन्दर्यमयी तत्व है, सब संगीतमय है। इसकी अभिव्यक्ति रागों व तालों के माध्यम से होती है जिनकी प्रस्तुति में भिन्न-भिन्न मौलिक तत्वों का समावेश होता है। संगीत के यह मौलिक तत्त्व हैं- नाद, श्रुति, स्वर सप्तक, लय व थाट। संगीत के मौलिक तत्त्वों में क्रमश: नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थाट तथा थाट से राग की उत्पत्ति हुई है। पं० भातखण्डे जी द्वारा प्रचलित 10 थाटों का उत्तर भारतीय संगीत में विशेष महत्व है। इन्हीं 10 थाटों में रागों को वर्गीकृत किया गया है।

पं० भातखण्डे जी ने अंगदृष्टि से काफी थाट के रागों को निम्न वर्गों में बांटा है-

काफी अंग, धनाश्री अंग, कान्हड़ा अंग, सारंग अंग, मल्हार अंग।

प्रस्तुत शोध अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से काफी थाट व काफी अंग के रागों को इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है।

(1) काफी थाट के प्रचलित व अप्रचलित राग।

(2) काफी अंग के प्रचलित व अप्रचलित राग।

काफी अंग के रागों को भी इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है-

(1) सारंग अंग के प्रचलित व अप्रचलित राग।

(2) मल्हार अंग के प्रचलित व अप्रचलित राग।

(3) कान्हड़ा अंग के प्रचलित व अप्रचलित राग।

प्रमुख शब्दावली:- शास्त्रीय संगीत, थाट, काफी थाट, प्रचलित राग, अप्रचलित राग

प्रस्तावना

प्राचीन ऋषि-मुनि, साधु-संत, युग कवि तथा लोक मानव सदैव अपने उद्‌गारों की अभिव्यक्ति संगीत के माध्यम से करता रहा है। भारतीय आचार्यों ने संगीत को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय माना है। संगीत को हृदय की विषय वस्तु मानते हुए श्री रिंगे जी लिखते हैं- संगीत मानव मात्र की आत्मा का ऐसा भोजन है, जिसके अभाव में मानवोचित गुण फलफूल नहीं सकते। जिसे मानवता के विकास की उत्कृष्ट इच्छा है, उसे भी कोई महात्मा अथवा योगी चित्त की स्थिरता के लिये संगीत का ही आश्रय लेने का परामर्श देता है।

संगीत मानव जीवन का ऐसा शुभ्र और शाश्वत अलंकार है जिसकी दीप्ती कम नहीं होती। वस्तुत: चराचर जगत में जो कुछ भी सौन्दर्यमयी तत्व है, सब संगीतमय है। संगीत एक कला से अधिक वह अप्रतिम सुधा है जो मानव मन में रागात्मक गुणों का संचार करती है। संगीत का सम्यक आनन्दमय स्वरूप अपना अस्तित्व तब ग्रहण करता है जब गीत के साथ वाद्य निनादित हो रहे हों और नृत्य उसकी रंजकता में वृद्धि कर रहा हो।

शास्त्रीय संगीत

भारतीय शास्त्रीय संगीत शास्त्रीय नियमों एवं सैद्धान्तिक सीमाओं में बँधा हुआ है। यह संगीत का सर्वाधिक परिष्कृत, औपचारिक एवं जटिलतम रूप है। किसी भी स्थिति में इसके शास्त्रीय नियमों व सिद्धान्तों की सीमाओं का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। यह मोक्ष प्राप्ति का साधन है तथा वैराग्य की ओर प्रेरित करता है। इसकी अभिव्यक्ति रागों व तालों के माध्यम से होती है जिनकी प्रस्तुति में भिन्न-भिन्न मौलिक तत्वों का समावेश होता है। संगीत के यह मौलिक तत्त्व हैं- नाद, श्रुति, स्वर सप्तक, लय व थाट।

नाद और लय के सूक्ष्म तत्त्व संगीत में प्राण प्रतिष्ठा करते हैं और नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर और स्वर से राग में परिणिति प्राणी को इस अनुभूति के चरमोत्कर्ष की अनुभूति कराने में सहायक है। संगीत के यह मौलिक तत्त्व इतने महत्वपूर्ण हैं कि इनके बिना शास्त्रीय संगीत निराधार है। सृष्टि के समस्त जड़ चेतन में नाद का वास माना गया है। जड़ में चैतन्य लाने वाला नाद ही है।

संगीत में स्वर की उत्पत्ति आहत नाद से मान्य है। नाद के बिना न स्वर है न वाद्य है और न नृत्य है। नाद के पश्चात् श्रुति भारतीय स्वर सप्तक का मूलाधार है। नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर की उत्पत्ति हुई जो संगीत का मौलिक उपकरण है। श्रुति और स्वर में सामान्यत: कोई भेद प्रतीत नहीं होता परन्तु दोनों में सूक्ष्म भेद हैं। वे नाद श्रुतियाँ कहलाती हैं जो सूक्ष्म या अपुष्ट हैं। जब ये सूक्ष्म नाद धीरे-धीरे आगे बढ़कर क्रमानुसार पुष्ट होने लगते हैं, तब वे स्वर का रूप ग्रहण कर लेते हैं। स्वरों की सूक्ष्म अवस्था को श्रुति कहा जा सकता है इसलिये स्वरों का जन्म श्रुतियों से मान्य है।

संगीत का विकास चाहे भारतीय हो या पाश्चात्य, सप्तक के विकास पर ही निर्भर करता है। भारतीय सप्तक का श्री गणेश उदात्त अनुदात्त और स्वरित आदि स्वरों के द्वारा आदिकाल में ही हो चुका था। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में स्वरों का परिचय 22 श्रुतियों के निवास स्थान में 4, 3, 2, 4, 4, 3, 2 के विभाजन सिद्धान्त के रूप में दिया। यही स्वर सप्तक भरत मुनि का षड़ज ग्राम है। जो प्राचीन व मध्यकालीन संगीत सप्तक का आधार बना। इस प्रकार संगीत के मौलिक तत्त्व में क्रमशः नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थाट तथा थाट से राग की उत्पत्ति हुई है।

थाट

प्राचीनकाल में राग गायन के स्थान पर जाति गायन प्रचलित था। रागों को मेलों में वर्गीकृत करने की व्यवस्था मध्ययुग में अस्तित्व में आई तथा विद्वानों के अनुसार विद्यारण्य ने 14वीं शताब्दी में सर्वप्रथम मेल शब्द का प्रयोग किया।

यूँ तो मेल का इतिहास विद्यारण्य, लोचन आदि के समय से ही प्रारम्भ होता है, किन्तु सैद्धान्तिक रूप में इसे संगीत पद्धति में लाने का श्रेय पं० व्यंकटमखी को है, जिन्होंने 72 थाटों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उत्तर भारत में पं० विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने व्यंकटमखी के सिद्धान्त के आधार पर ही अपना 32 थाट का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। अतः मेल अथवा थाट पद्धति मध्यकाल में विद्यारण्य से प्रारम्भ हो कर आधुनिक काल में भातखण्डे जी द्वारा पल्लवित हुई। आज इस मेल अथवा थाट पद्धति का संगीत में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह सभी रागों के आधार का कार्य करता है।

पं० भातखण्डे जी द्वारा प्रचलित 10 थाटों का उत्तर भारतीय संगीत में विशेष महत्व है। इन्हीं 10 थाटों में रागों को वर्गीकृत किया गया है। भातखण्डे जी के निम्न श्लोक में 10 थाटों के नाम समाहित हैं।

कल्याणी मेलकस्त्वाद्यो बेलावली इतीयकः।
खमाजाख्यस्तृतीयः स्याद् भैरवाख्यश्चतुर्थकः।।
पंचमः पूर्विकासंज्ञः षष्ठः स्यान्मारवाभिधः।
सप्तमः काफिसंज्ञः स्यादासावरी तथाष्टमः।
नवमो भैरवी मेलो दशमस्तोड़िकाद्वयः।
इत्येते दशमेलास्ते रागोत्पादन हेतवः।।

इस श्लोक के आधार पर क्रमशः 10 थाटों के नाम हैं–

(1) कल्याण, (2) बिलावल, (3) खमाज, (4) भैरव, (5) पूर्वी, (6) मारवा, (7) काफी, (8) आसावरी, (9) भैरवी, (10) तोड़ी

काफी थाट

स्वर व स्वरूप की दृष्टि से काफी थाट के स्वर अत्यन्त प्राचीन तथा ऐतिहासिक हैं, परन्तु काफी नाम अपेक्षाकृत नवीन है। प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि प्रचीनकाल का शुद्ध थाट आधुनिक काफी के समान था। प्राचीनकाल के षड़ज ग्राम की 'उन्तरमंद्रा' मूर्च्छना तथा मध्यम ग्राम की 'सौवीरी' मूर्च्छना के स्वर लगभग आधुनिक काफी के समान हैं।

मध्यकालीन भारत में काफी थाट के स्थान पर श्री मेल का उल्लेख मिलता है। कर्नाटक संगीत में श्री को एक जनक मेल माना गया है। 13वीं शताब्दी में संगीत रत्नाकर में वर्णित रागों में भी श्री राग का उल्लेख मिलता है। रामामात्य कृत स्वरमेल कलानिधि में श्री को जनक मेल माना गया है। पुण्डरीक विग्ल ने भी अपने ग्रन्थ 'सद्राग चन्द्रोदय' में श्री को जनक मेल माना। इसके अन्तर्गत जन्य राग श्री राग, मालवश्री, भैरवी तथा सिंधवी थे। श्री राग का पुत्र मालव माना गया। पुण्डरीक के ग्रन्थ 'राग मंजरी' में श्री राग का स्वरूप खमाज के समान बताया गया है तथा उससे उत्पन्न जन्य राग 'श्री' को बताया गया है। व्यंकटमखी ने 'चतुर्दण्डि प्रकाशिका' में श्री मेल में गन्धार कोमल तथा निषाद शुद्ध माना है। श्री मेल के जन्य राग श्री, सालभैरवी, धन्यासी, कन्नड़गौल व देवगन्धार इत्यादि बताऐ हैं।

अथ श्री राग मेले तु मणिरंगस्तत: परम्।
स्यात् सालग भैरवी च शुद्ध धन्यासि रागक:।।
राग कन्नड़गौलश्च शुद्ध देशी तत: परम।
देवगान्धाररागश्च मालवश्रीव्युपांगयका:।।

व्यंकटमखी ने भाषांग रागों के अन्तर्गत काफी का वर्णन किया है–

भाषांग श्री रंजनी च काफी रागो दुशानिका।
वृन्दावनी सैंधवी च कान्हरा माधव मनोहरी।।
स्यान्मध्यामावती देव मनोहरी तत: परम्।
नाट कुरंजिरागश्च हवेतो भाषांग संज्ञिता'।।

दक्षिण के 'रागलक्षण' नामक ग्रन्थ में काफी थाट का उल्लेख इस प्रकार है।

अधिकारिखरहर प्रिय मेलात् सुनामक:।
काफिरागक: इत्युक्त: सन्यासं सांशक ग्रहम।।
अरोहे अवरोहे च सम्पूर्ण इति विश्रुत:।
स रे ग म प ध नि सां । सां नि ध प म ग रे सा।।

'राग लक्षण' में काफी थाट का मेल खरहर प्रिय बताया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि राग लक्षण ग्रन्थ के समय तक आधुनिक काफी का रूप पूर्ण तथा विकसित हो गया था।

पं० भातखण्डे जी ने अंगदृष्टि से काफी थाट के रागों को निम्न वर्गों में बांटा है।

	अंग	–	**इसके अन्तर्गत आने वाले राग**
1.	काफी अंग	–	काफी, सैंधवी, पीलू
2.	धनाश्री अंग	–	धनाश्री, धानी, भीमपलासी, हंस कंकणि, पटदीपकी
3.	कानड़ा अंग	–	बहार, बागेश्री, सूहा, सुधराई, नायकी, शहाना, देवसाख
4.	सारंग अंग	–	शुद्ध सारंग, मध्यमाद सारंग, वृन्दावनी सारंग, सामंत सारंग, मियां की सारंग, लंक दहन सारंग पटमंजरी
5.	मल्हार अंग	–	शुद्ध मल्हार, गौड़ मल्हार

इस प्रकार उत्तर भारतीय संगीत में काफी थाट अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रचलित थाट है। इस थाट का आश्रय राग काफी है। इस थाट में गन्धार व निषाद स्वर कोमल लगते हैं। अत: इस थाट से उत्पन्न होने वाले प्रत्येक राग में गन्धार व निषाद स्वर कोमल होते हैं किन्तु कुछ राग ऐसे भी हैं जिनमें कोमल गन्धार व कोमल निषाद के साथ-साथ तीव्र मध्यम का भी प्रयोग होता है जैसे शुद्ध सारंग, मधुकौंस इत्यादि।

यह थाट अत्यन्त विस्तृत है। प्रस्तुत शोध अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से काफी थाट व काफी अंग के रागों को इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है।

(1) काफी थाट के प्रचलित व अप्रचलित राग

(2) काफी अंग के प्रचलित व अप्रचलित राग।

काफी अंग के रागों को भी इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है-

(1) सारंग अंग के प्रचलित व अप्रचलित राग

(2) मल्हार अंग के प्रचलित व अप्रचलित राग

(3) कान्हड़ा अंग के प्रचलित व अप्रचलित राग

काफी थाट व काफी अंग

काफी थाट के रागों से अभिप्राय उन रागों से है जो सीधे काफी थाट से सम्बन्धित हैं और काफी अंग से अभिप्राय उन रागों से है जिनमें काफी अंग कहीं न कहीं विद्यमान है अर्थात काफी अंग से गाये जाते हैं।

काफी थाट के प्रचलित राग- काफी, बागेश्री, भीमपालासी, बहार, धनाश्री, पटदीप, धानी, पीलू, मालगुंजी, जोग, चन्द्रकौस, शिवरंजनी, बरवा, भीम, सिंदूरा, मधुकौंस।

सारंग अंग के प्रचलित राग– विन्द्रावनी सारंग, मधमाद सारंग, शुद्ध सारंग, मियां की सारंग, सामन्त सारंग।

मल्हार अंग के प्रचलित राग– मियां मल्हार, मेघ मल्हार, रामदासी मल्हार, सूर मल्हार, गौड़ मल्हार।

कान्हड़ा अंग के प्रचलित राग– सूहा, सुघराई, शहाना, आभोगी कान्हड़ा, नायकी कान्हड़ा, कौंसी कान्हड़ा, काफी कान्हड़ा, देवसाख।

काफी थाट के अप्रचलित राग– हंसमंजरी, मालवी, यमनीबहार, हंसकिंकणी, पटमंजरी, नीलाम्बरी, गोपिकांवोजी, मनोहरी, कोलहास, विजय, दौलती, रंजनी, राजेश्वरी, सरस्वती रंजनी, पुष्प, मधुरंजनी, कोहल, जयकंस, रक्त हंस, अहीरी, सावन, राग श्री रंजनी, जयन्त, गौड़।

सारंग अंग के अप्रचलित राग– बहार सारंग, गौरहार सारंग, सरस्वती सारंग, बड़हंस सारंग, लंकदहन सारंग, धूलिया सारंग।

मल्हार अंग के अप्रचलित राग– नट मल्हार, झांझ मल्हार, जयन्त मल्हार, सामन्त मल्हार, गौड़गिरि मल्हार, रूप मंजरी मल्हार, श्वेत मल्हार, नायकी मल्हार, मीराबाई की मल्हार, चंचलस मल्हार, बसन्त मल्हार, धूलिया मल्हार, पट मल्हार, बहार मल्हार, चरजू की मल्हार।

कान्हड़ा अंग के अप्रचलित राग– रायसा कान्हड़ा, हुसैनी कन्हड़ा, रेवती कान्हड़ा, मुद्रिक कान्हड़ा, रामसाख, भावसाख, बागेश्री कान्हड़ा।

भारतीय संगीत में शुद्ध एवं विकृत स्वरों के संयोग से विभिन्न रागों की रचना की जाती है जो व्यवस्थित एवं रंजक होती है। यह रचना एक समय ग्राम, मूर्च्छना, जाति और राग रागिनी पद्धति पर आधारित थी तत्पश्चात प्रचलित थाट पद्धति के विशिष्ट नियमों के आधार पर होने लगी। थाट जन्य रागों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया–

- जाति भेद वाले राग अर्थात् सम्पूर्ण षाडव औड़व और मिश्र जाति वाले राग
- शुद्ध, छायालग एवं संकीर्ण राग
- प्रकृति भेद वाले राग अर्थात् गम्भीर एवं चंचल प्रकृति वाले राग
- समय के राग अर्थात् दिन एवं रात्रि के अलग–अलग प्रहरों में गाये जाने वाले राग
- परमेल प्रवेशक राग अर्थात् एक थाट के पश्चात् दूसरे थाट के प्रारम्भ होने वाले रागों को जोड़ने वाले राग
- अंग प्रधान राग अर्थात पूर्वांग एवं उत्तरांग प्रधान राग
- रस प्रधान राग जैसे करण, श्रंगार व वीर रस वाले राग
- ऋतु के राग अर्थात् मौसमी राग जैसे बसन्त ऋतु में किसी भी समय गाये जाने वाले बसन्त और बहार एवं वर्षा ऋतु में किसी भी समय गाये जाने वाले मल्हार एवं उसके प्रकार

- रागांग राग अर्थात् जो स्वर संगति किसी राग में अपना विशिष्ट स्थान बना लेती है और उसे अन्य किसी भी राग में समाविष्ट करने से उस राग का अंग बनकर उसी अंग या प्रकार के नाम से पहचानी जाती है।

ऐसे रागांग रागों में काफी थाट के रागांग जैसे- सारंग, मल्हार और कान्हड़ा के प्रकार भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

सन्दर्भ

1. पं० भातखण्डे - उ० भा० *संगीत का संक्षिप्त इतिहास,* संगीत कार्यालय, हाथरस।
2. पं० भातखण्डे - *क्रमिक पुस्तक मालिका (भाग- 1-6),* संगीत कार्यालय, हाथरस।
3. त्रि. शाह, जयसुखलाल - *कान्हड़ा के प्रकार, संगीत कार्यालय,* हाथरस।
4. त्रि. शाह, जयसुखलाल - *सारंग के प्रकार, संगीत कार्यालय,* हाथरस।
5. शुक्ल, टी०आर० - *नवनिर्मित एवं अप्रचलित राग मंजरी,* प्रकाश बुक डिपो, बरेली।
6. बनर्जी, गीता - *राग मल्हार दर्शन,* प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली।
7. श्री बसन्त - *संगीत विशारद, संगीत कार्यालय,* हाथरस।
8. भट्, पं० विश्व मोहन - *संगीत कादम्बिनी,* संगीत कार्यालय, हाथरस।
9. https://saptswargyan.in
10. https://fizikamind.in
11. https://raagparichay.in
12. https://www.mgkvp.ac.in

सड़क दुर्घटनाओं की प्रवृत्तियों को व्यवस्थित करने के लिए सड़क सुरक्षा कानूनः अधिकार और कर्त्तव्य

अमर प्रताप सिंह
शोध छात्र, विधि संकाय, आगरा कॉलेज, आगरा।

सार

सड़क सुरक्षा एक बहु-क्षेत्रीय विषय है जो विभिन्न हितधारकों और एजेंसियों से संबंधित है। प्राचीन भारत में, जब गैर-मोटर चालित वाहन का उपयोग किया जाता था उस समय भी ड्राइवरों को सड़क सुरक्षा के बारे में कुछ आचार संहिता का पालन करना होता था। भारत में पहली बार 1914 में मोटर वाहन कानून बनाया गया, फिर 1939 में एक और कानून लाया गया। मोटर वाहनों का नियंत्रण और विनियमन वर्तमान में मोटर वाहन अधिनियम, 1988 के केंद्रीय अधिनियम 59 और इसके तहत केंद्र सरकार के साथ-साथ संबंधित राज्य सरकारों द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा शासित होता है। उक्त अधिनियम जुलाई 1989 में अधिसूचना, मई 1989 द्व ारा पहले के मोटर वाहन अधिनियम 1939 को निरस्त करके लागू हुआ। सड़क विनियमन, 1989 के नियम केंद्र सरकार द्वारा अधिनियमित किए गए थे। इन प्रावधानों का कार्यान्वयन अधिनियम में निर्दिष्ट क्षेत्रों के संबंध में केंद्र सरकार के साथ-साथ राज्य सरकारों द्वारा समवर्ती रूप से किया जाना है।

कुंजीशब्दः सड़क दुर्घटना, सड़क सुरक्षा कानून, अधिकार, कर्त्तव्य।

प्रस्तावना

भारत में ड्राइविंग विभिन्न कानूनी शक्तियों द्वारा शासित होती है और कुछ मामलों में ड्राइविंग टेस्ट पास करने पर निर्भर होती है। सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय, भारत सरकार की एक शाखा, गतिशीलता और दक्षता बढ़ाने के लिए सड़क परिवहन, राष्ट्रीय राजमार्ग और परिवहन अनुसंधान से संबंधित नियमों, विनियमों और कानूनों के निर्माण और प्रशासन के लिए शीर्ष निकाय है। भारत में सड़क परिवहन प्रणाली की दुनिया के अधिकांश देशों के विपरीत, भारतीय यातायात बाई ओर चलता है। पहला मोटर वाहन अधिनियम, विनियमन और नियंत्रण के लिए कुछ उपाय पेश करने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में प्रांतीय अधिनियम द्वारा पूरा किया गया। 1914 में, पहला भारतीय मोटर वाहन अधि

नियम पारित किया गया था और इसे तत्कालीन ब्रिटिश भारत में लागू किया गया था। इस अधिनियम में 18 धाराएँ थीं। इसने स्थानीय सरकारों को पंजीकरण, लाइसेंसिंग और दंड के माध्यम से मोटर वाहनों के उपयोग को विनियमित करने की शक्तियां प्रदान कीं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अधिशेष सेना वाहनों को नागरिक बाजार में स्थानांतरित करने के परिणामस्वरूप 1920 की शुरुआत में सड़क परिवहन की अभूतपूर्व वृद्धि शुरू हुई। मोटर वाहनों की तीव्र वृद्धि ने ब्रिटिश स्वामित्व वाली रेलवे कंपनियों के लिए खतरा पैदा कर दिया। इस प्रकार, सरकार को रेलवे के साथ प्रतिस्पर्धा करने से रोकने के लिए यात्री और माल मोटर परिवहन वाहनों को विनियमित करने की आवश्यकता महसूस हुई। इस मुख्य उद्देश्य के साथ, दूसरा अखिल भारतीय मोटर वाहन अधिनियम, 1939 पारित किया गया और 1940 में लागू हुआ।[1]

सड़क परिवहन नियमन से अछूता नहीं है। नियमन के शुरुआती प्रयासों में से एक 1939 का मोटर वाहन अधिनियम है, जहां सेवाएं छोटे ऑपरेटरों द्वारा प्रदान की जाती हैं, जिनका तेजी से पैसा कमाने के अलावा कोई बड़ा उद्देश्य नहीं होता है और अनुशासन, सुरक्षा सुनिश्चित करना सरकार की प्राथमिक जिम्मेदारी बन जाती है। अभिगम्यता जब कि माल परिवहन असंगठित और निजी तौर पर चलाया जाता रहा, यात्री सड़क परिवहन, सड़क परिवहन निगम अधिनियम, 1950 के प्रावधानों के तहत आयोजित बड़े सार्वजनिक एकाधि कार के दायरे में आ गया।[2]

सड़क दुर्घटनाओं की प्रवृत्तियों को व्यवस्थित करने के लिए सड़क सुरक्षा कानून रूपी अधिकार और जिम्मेदारियां का यह विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि सड़क दुर्घटनाएँ आम जीवन में बड़ी आत्मिक और सामाजिक चुनौतियों का सामना कराती हैं। यहाँ पर कुछ मुख्य अधिकार और जिम्मेदारियां बतायी जा रही हैं:

1. **सड़क परिवहन नियमों का पालन करने का अधिकार:** सड़क परिवहन नियमों का पालन करना और इन नियमों को मानना जीवन और सड़क सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण है। इससे सड़कों पर होने वाली दुर्घटनाओं की रोकथाम में मदद मिलती है।

2. **सड़कों पर सुरक्षित ड्राइव करने का अधिकार:** ड्राइवरों का सड़कों पर सुरक्षित तरीके से वाहन चलाने का अधिकार होता है। इसमें दुर्घटनाओं से बचाव के लिए सड़क पर कदम उठाना शामिल है।

3. **सड़क सुरक्षा के लिए जिम्मेदारियाँ:** सड़क सुरक्षा के लिए आम लोगों, सड़क परिवहन नियामक प्राधि कृतियों, और सड़क परिवहन प्राधिकृतियों के बीच जिम्मेदारियाँ होती हैं। सड़क पर सुरक्षित ड्राइव करने के लिए सड़क कानूनों का पालन करना और दुर्घटनाओं की रोक-थाम के उपायों को जानना और मानना महत्वपूर्ण है।

4. **सड़कों का इंफ्रास्ट्रक्चर और बनावट की जिम्मेदारी:** सड़क इंफ्रास्ट्रक्चर का निर्माण और देखभाल की जिम्मेदारियाँ सड़क सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण होती हैं। सड़कों की ठीक से बनावट का सुनिश्चित करना आवश्यक है।

5. **सड़क सुरक्षा जागरूकता:** सड़क सुरक्षा को लेकर जागरूकता बढ़ाना और लोगों को सुरक्षित ड्राइव करने के उपायों के बारे में शिक्षा देना जरूरी है। सड़क सुरक्षा के महत्व को समझाने और जागरूकता फैलाने के लिए जिम्मेदारियाँ होती हैं।

इन अधिकारों और कर्त्तव्यों/जिम्मेदारियों का सड़क सुरक्षा को बेहतर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है और इसके अंतर्गत समाज के सभी सदस्यों को सुरक्षित रूप से सड़क पर चलने को उत्साह के साथ बढ़ाना चाहिए।

सड़क दुर्घटना के मुख्य कारण निम्नलिखित है–

- अत्यधिक तेज गति व खतरनाक तरीके से वाहन चलाना।
- शराब या मादक द्रव्यों के असर में वाहन चलाना।
- मानसिक या शारीरिक रूप से अयोग्य व्यक्ति द्वारा वाहन चलाना।
- दौड़ और गति का मुकाबला
- असुरक्षित दशा वाले वाहन का प्रयोग करना।
- सड़क यातायात नियमों और सड़क सुरक्षा के उपायों की अनदेखी करना।
- यातायात मार्गों का क्षतिग्रस्त होना।
- वाहन चलाने के दौरान सेलफोन या इलेक्ट्रोनिक उपकरण का इस्तेमाल करना।
- लापरवाही या उपेक्षापूर्ण वाहन चलाना।
- वातावरण अनुकूल न होने के बावजूद भी वाहन चलाना।
- क्षमता से अत्यधिक वाहन पर सवारी बैठाना व माल लादना इत्यादि।

सड़क सुरक्षा कानून: भारत ने 1947 में अपनी स्वतंत्रता हासिल की थी और यह दुनिया के उन बहुत से देशों में से एक है, जिन पर सदियों तक शासन किया गया है। युद्धों, विजयों और विदेशी प्रभुत्व के माध्यम से इतिहास की एक खंडित प्रक्रिया को प्रेरित किया गया है। शासित होने का ही परिणाम रहा है कि कई अधि नियम और नियम हैं, जो नागरिकों को कानून के शासन के अस्तित्व का आश्वासन देने के लिए आवश्यक हैं।[3]

भारतीय दंड संहिता, 1860: भारतीय दंड संहिता के तहत सड़क सुरक्षा के संबंध में कोई विशिष्ट कानून नहीं हैं, लेकिन भारतीय दंड संहिता की कुछ चयनित धाराएं मोटर वाहन दुर्घटनाओं के संबंध में दंडात्मक प्रावधानों का 'मेन्सरिया' द्वारा वर्णन करती हैं। मेन्सरिया शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द "एक्टसरीस नॉन फैसिट रीमनिसी मेन्ससिटरी" से हुई है। मेन्सरिया का अर्थ है "कोई कार्य किसी दोषी मन के बिना प्रतिवादी को दोषी

नहीं बनाता है।" सड़क से संबंधित अपराध में पुरुषों के लिए सीमित शब्द हैं जैसे तेज गति से गाड़ी चलाना, लापरवाही आदि। भारतीय दंड संहिता और न्यायिक टिप्पणियां उनकी सुरक्षा के उद्देश्य से सड़क उपयोगकर्ताओं के संबंध में न्याय की घोषणा करती हैं।[4]

भारतीय दंड संहिता (आईपीसी) भारत में सामान्य दंड व्यवस्था प्रदान करती है, जिसमें निहित रूप से अपराधों को परिभाषित करने और दंड निर्धारित करने वाले विशेष कानूनों के अस्तित्व की संभावना को माना जाता है। उदाहरण के लिए, वर्तमान संदर्भ में मोटर वाहन अधिनियम, 1988, में धारा 279, 304ए, 336, 337, 338, आईपीसी प्रासंगिक हैं, जो अग्रलिखित हैं:

धारा 279, सार्वजनिक रास्ते पर लापरवाही से गाड़ी चलाना या सवारी करना- जो कोई भी सार्वजनिक रास्ते पर कोई वाहन इतनी तेजी से या लापरवाही से चलाएगा कि मानव जीवन को खतरे में डाल दे, या किसी अन्य व्यक्ति को चोट या चोट पहुंचाने की संभावना हो, उसे दोनों में से किसी भी तरह के कारावास से दंडित किया जाएगा। अवधि जिसे छह महीने तक बढ़ाया जा सकता है, या जुर्माना जो एक हजार रुपये तक बढ़ाया जा सकता है, या दोनों से दंडित किया जा सकता है।

धारा 304ए, लापरवाही से मौत का कारण- जो कोई भी बिना सोचे-समझे या लापरवाही से कोई ऐसा कार्य करके किसी व्यक्ति की मृत्यु का कारण बनता है जो गैरइरादतन हत्या की श्रेणी में नहीं आता है, उसे दो साल तक की कैद या जुर्माना या दोनों से दंडित किया जाएगा।

धारा 336, दूसरों के जीवन या व्यक्तिगत सुरक्षा को खतरे में डालने वाला कार्य-जो कोई भी इतनी जल्दबाजी या लापरवाही से कोई कार्य करेगा जिससे मानव जीवन या दूसरों की व्यक्तिगत सुरक्षा खतरे में पड़ जाए, उसे किसी भी अवधि के लिए कारावास की सजा दी जाएगी जिसे तीन महीने तक बढ़ाया जा सकता है, या जुर्माना जो दो सौ पचास तक बढ़ाया जा सकता है।

धारा 337, दूसरों के जीवन या व्यक्तिगत सुरक्षा को खतरे में डालकर चोट पहुँचाना-जो कोई इतनी जल्दबाजी या लापरवाही से कोई कार्य करके किसी व्यक्ति को चोट पहुंचाता है जिससे मानव जीवन या दूसरों की व्यक्तिगत सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है, तो उसे छह महीने तक की अवधि के कारावास या पाँच सौ रुपये तक जुर्माने से दंडित किया जाएगा या दोनों से दंडित किया जा सकता है।

धारा 338, दूसरों के जीवन या व्यक्तिगत सुरक्षा को खतरे में डालकर गंभीर चोट पहुँचाना- जो कोई इतनी जल्दबाजी या लापरवाही से कोई कार्य करके किसी व्यक्ति को गंभीर चोट पहुंचाता है जिससे मानव जीवन या दूसरों की व्यक्तिगत सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है, उसे दो साल तक की कैद या जुर्माने से दंडित किया जाएगा। जिसे एक हजार रुपये तक या दोनों के साथ बढ़ाया जा सकता है।

केंद्रीय मोटर वाहन अधिनियम, 1988: सड़क पर यातायात को विनियमित करने वाले कानून मोटर वाहन अधिनियम, 1988 के तहत प्रदान किए जाते हैं, यह भारत की संसद द्वारा पारित एक अधिनियम है जो 1 जुलाई, 1989 से लागू हुआ और पूरे भारत में लागू है। हालांकि यातायात कानूनों के

नियमों में खामियां वास्तविकता हैं। भारत में वर्ष 1914 से ऐसा अधिनियम लागू है, लेकिन ड्राइविंग का खतरा अभी भी जारी है और पीड़ित को इस खतरे से बचाने के लिए कानूनों की उपयुक्तता पर विचार कर रहे हैं। सड़क सुरक्षा के मुद्दे पर चिंताओं को दर्शाते हुए कई महत्वपूर्ण निर्णय हैं, जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों पर यहां चर्चा की गई है। सड़क दुर्घटनाएं, ट्रैफिक जाम, रोडरेज, कम उम्र में ड्राइविंग, शराब के प्रभाव में ड्राइविंग कुछ प्रमुख मुद्दे हैं, जो अनिवार्य रूप से वर्तमान स्थितियों पर विचार करना महत्वपूर्ण बनाते हैं। समझदारी से गाड़ी चलाना कानूनी, सामाजिक और नैतिक रूप से एक जिम्मेदारी है, हालाँकि ऐसा कम ही देखा जाता है। इस कर्तव्य की अनदेखी से गैर-जिम्मेदार चालक, वाहन के मालिक, बीमाकर्ता और अन्य को न केवल कानूनी लड़ाई में फंसना पड़ सकता है बल्कि पीड़ित और उसके परिवार के सदस्यों को जीवनभर भारी पीड़ा झेलनी पड़ती है।[5]

मोटर वाहन के इन नियमों का अनुपालन यातायात पुलिस सहित प्रवर्तन एजेंसियों द्वारा सुनिशिचित कराया जाता हैं। यदि किसी भी मामले में कोई यातायात कानूनों से संबंधित नियमों और विनियमों का उल्लंघन करता है तो वे मोटर वाहन अधिनियम, 1988 के अनुसार, दंडात्मक कार्यवाही के तहत अपराधी के खिलाफ चालान करने के लिए बाध्य हैं। यहाँ यह समझना महत्वपूर्ण है कि ड्राइविंग के लिए आवश्यक कानून अनुपालन के बारे में उक्त कानून क्या कहता है तथा ड्राईवर व वाहन के मालिक के कर्तव्य क्या हैं

- ड्राइविंग लाइसेंस से संबंधित कानून
- पैदल यात्री से संबंधित कानून
- यातायात और सड़क सुरक्षा मुद्दे

मानवाधिकार की सुरक्षा तथा सामाजिक कल्याण की पूर्ति के लिए मोटरयान अधिनियम की धारा 140 में दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को देरी किए बिना क्षतिपूर्ति देने का प्रावधान है।

मोटर वाहन चालन विनियमन, 2017: मोटर वाहन अधिनियम, 1988 (1988 का 59) की धारा 118 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए और सड़क विनियम, 1989 के नियमों के संबंध में किए गए या छोड़े गए कार्यों को छोड़कर इस तरह के अधिक्रमण से पहले केंद्र सरकार मोटर वाहनों के संचालन के लिए अनेक नियम बनाये हैं।[6]

1. संक्षिप्त शीर्षक, विस्तार और प्रारंभ

(1) इन विनियमों को मोटर वाहन (ड्राइविंग) विनियम, 2017 कहा जा सकता है।

(2) वे अधिकारिक राजपत्र में इसके प्रकाशन की तारीख से लागू होंगे।

2. परिभाषाएँ

(1) इन विनियमों में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, –

(ए) अधिनियम का अर्थ, मोटर वाहन अधिनियम, 1988 (1988 का 59) है

(बी) कैरिजवे का अर्थ है, सड़क का वह हिस्सा या हिस्से जो आमतौर पर वाहन यातायात द्वारा उपयोग किए जाते हैं, चाहे वे एक विभाजन पट्टी या स्तर के अंतर से एक दूसरे से अलग हों या नहीं।[7]

(सी) निर्माण क्षेत्र का अर्थ है सड़क का एक खंड जहां निर्माण गतिविधि प्रगति पर है या शुरू करने की घोषणा की गई है और जिसमें कार्य स्थान, यातायात स्थान या बफर स्थान शामिल हो सकता है।

(डी) 'भारी वाहन' का अर्थ भारी माल वाहन या भारी यात्री मोटर वाहन है, जैसाकि अधिनियम की धारा 2 के क्रमशः खंड (16) और (17) में परिभाषित है,

3. अन्य सड़क उपयोगकर्ताओं और आमजनता के प्रति कर्तव्य- किसी भी वाहन को सड़क पर या सार्वजनिक स्थान पर इस तरह से नहीं चलाया जाएगा, रोका या पार्क नहीं किया जाएगा, जिससे अन्य सड़क उपयोगकर्ताओं की सुरक्षा को खतरा हो या असुविधा हो।

4. वाहनों द्वारा सड़कों का उपयोगः

(1) सड़क पर चलते समय प्रत्येक वाहन या वाहनों के संयोजन में एक ड्राइवर होगा।

(2) एक मोटर वाहन को कैरिजवे पर चलाया जाएगाः बशर्ते कि दोहरे कैरिजवे पर, वाहन को बाएं कैरिजवे पर चलाया जाएगा, जब तक कि वर्दी में उस समय ड्यूटी पर मौजूद पुलिस अधिकारी द्वारा या उचित सड़क संकेतों द्वारा अन्यथा निर्देशित न किया जाए।

5. ड्राइवरों और सवारों के कर्तव्यः

(1) प्रत्येक चालक हर समय उचित सावधानी और सावधानी से वाहन चलाएगा।

(2) चालक को यह सुनिश्चित करना होगा कि वाहन चलाते समय वह अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं पर पूर्ण नियंत्रण में है और वाहन चलाने के लिए शारीरिक और मानसिक रूप से पूरी तरह से फिट है।

सड़क परिवहन निगम अधिनियम, 1950: सड़क परिवहन निगम अधिनियम, 1950 (1950 का अधिनियम संख्या 64) सड़क परिवहन निगम के निगमन और विनियमन के लिए प्रावधान करने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया था। अधिनियम के प्रावधान पूरे भारत में विस्तारित हैं, पहले यह अधिनियम जम्मू और कश्मीर राज्य और केंद्र शासित प्रदेश दिल्ली को कवर नहीं करता था। इस अधिनियम को संशोधित प्रावधानों के साथ क्रमशः वर्ष 1971 और 1982 में केंद्र शासित प्रदेश दिल्ली और मिजोरम तक विस्तारित किया गया था। इसी प्रकार, यह अधिनियम अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग तारीखों से लागू किया गया। इस अधिनियम की धारा 3 संबंधित राज्य सरकारों द्वारा राज्यों में सड़क परिवहन निगम की स्थापना से संबंधित है। ऐसे सड़क परिवहन निगम को कॉर्पोरेट बॉडी होनी चाहिए और उसमें वे सभी सुविधाएं होनी चाहिए, जो पंजीकृत कंपनी में हैं। ऐसा करते समय, राज्य सरकारों को कुछ बातों पर विचार

करना चाहिए, जिनमें सड़क परिवहन के विकास से जनता, व्यापार और उद्योग को मिलने वाले लाभ, विभिन्न प्रकार के सड़क परिवहन के बीच समन्वय की वांछनीयता और किसी भी क्षेत्र में सड़क परिवहन सुविधा का विस्तार और सुधार करना और प्रदान करना शामिल है। सड़क परिवहन सेवा की कुशल एवं किफायती प्रणाली। इसके अलावा, निदेशक मंडल को इस अधिनियम के प्रावधानों के तहत ऐसे निगम के प्रबंधन का अधिकार प्राप्त है। ऐसे बोर्ड और अध्यक्ष और निदेशकों की नियुक्तियों और उनकी सेवा शर्तों के प्रावधान, 1982 के संशोधन अधिनियम (1982 का अधिनियम संख्या 63) द्वारा अधिनियम में जोड़े गए हैं।[8]

अधिनियम में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रावधान धारा 12 है, जहां अधिनियम बैठकों में इस आशय के प्रस्ताव पारित करके बोर्ड द्वारा समितियों की नियुक्ति का प्रावधान करता है। समितियों की ऐसी नियुक्ति पर, बोर्ड शर्तों और सीमाओं पर या अन्यथा ऐसी समितियों या अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को शक्तियां और जिम्मेदारियां भी सौंप सकताहै। इसके अलावा, धारा 14 संबंधित राज्य सरकारों द्वारा प्रबंध निदेशकों, मुख्य लेखा अधिकारी और वित्तीय सलाहकार की नियुक्तियों से संबंधित है।

राष्ट्रीय सड़क सुरक्षा नीतिः सरकार ने सड़क सुरक्षा और यातायात प्रबंधन पर एक समर्पित निकाय के निर्माण पर विचार-विमर्श करने और सिफारिशें करने के लिए वर्ष 2005 में पूर्व सचिव श्री एस. सुंदर की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। बाद में समिति से सरकार के विचारार्थ राष्ट्रीय सड़क सुरक्षा नीति के मसौदे को अंतिम रूप देने का भी अनुरोध किया गया। समिति ने फरवरी, 2007 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते समय अन्य बातों के साथ-साथ राष्ट्रीय सड़क सुरक्षा नीति के मसौदे की सिफारिश की। सुंदर समिति की सिफारिशों के आधार पर केंद्रीय मंत्रिमंडल ने 15.03.2010 को राष्ट्रीय सड़क सुरक्षा नीति को मंजूरी दे दी। राष्ट्रीय सड़क सुरक्षा नीति देश में सड़क सुरक्षा गतिविधियों को बेहतर बनाने के लिए सभी स्तरों पर सरकार द्वारा तैयार की जाने वाली नीतिगत पहलों की रूपरेखा तैयार करती है।

निष्कर्ष

स्पष्टतः जीवन का मूल्य क्षतिपूर्ति की राशि या अन्य किसी परितोष से निर्धारित नहीं किया जा सकता। न्यायमूर्ति भगवती के अनुसार, जीवित रहने का मूलाधिकार सबसे मूल्यवान मानवाधिकार है तथा अन्य सभी अधिकारों की महत्वपूर्ण नीव है। जीवन का संरक्षण तथा जीवित बनाये रखना महत्व का कार्य है। यदि किसी व्यक्ति का जीवन नष्ट हो जाता है तथा उसके जीवन में यथास्थिति नहीं लायी जा सकती क्योंकि उसे पुनः जीवित नहीं किया जा सकता। ऐसा करना मानव की क्षमता से बाहर है। इसलिए जब भी कोई दुर्घटना में घायल व्यक्ति चिकित्सक के यहाँ लाया जाता है तो चिकित्सीय नैतिकता यही कहती है कि उसे तुरन्त आवश्यक चिकित्सीय लाभ पहुँचाकर उसे मृत होने से बचा लिया जाय तथा सम्बद्ध आपराधिक विधि की प्रक्रिया तत्पश्चात् पूरी होती रहेगी। दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति जीवन की गुणवत्ता को सदा-सदा के लिए खो देता है। मानव गरिमा के साथ जीने की उसकी प्रत्याशा नष्ट हो जाती है। ऐसे अभागों के लिए मोटरयान अधिनियम एक वरदान बन कर आया है। न्यायालय के अनुसार, अधिनियम के प्रावधान यातायात अधिकारियों तथा पुलिस बल को इसे

नियंत्रित करने के लिए अधिकृत करने हेतु पर्याप्त है। इस अधिनियम के प्रावधानों का विरचन सड़क सुरक्षा तथा लोगों के जीवन को दुर्घटनाग्रस्त होने तथा खतरनाक स्थितियों से बचाने के लिए किया गया है। यातायात अधिनियम के सड़क सुरक्षा को ध्यान में रखते हुये किसी अज्ञात वाहन से दुर्घटना होने पर भी केस दर्ज कर सड़क दुर्घटना में पीड़ित व्यक्ति/आश्रितों को सरकार से मुआवजा देने का प्रावधान किया जाए। साथ ही सड़क दुर्घटना के मामलों में गंभीरता से अन्वेषण किया जाए, क्योंकि कभी-कभी जो सामान्य/अज्ञात दिखने वाली सड़क दुर्घटना के पीछे कोई गहरी साजिश हो सकती है, जो कि दुर्घटना न होकर हत्या की श्रेणी में आएगी, जो केवल एक अच्छे अन्वेषण से ही संभव हो सकेगा। यातायात अधिनियम के सड़क सुरक्षा से सम्बद्ध प्रावध ानों के अनुपालन में राज्य मार्ग, राष्ट्रीय राजमार्ग, एक्सप्रेसवे आदि पर यदि किसी आवारा पशु से किसी की दुर्घटना होती है तो सड़क दुर्घटना में पीड़ित व्यक्ति/आश्रितों को सरकार से मुआवजे का प्रावधान किया जाए। यातायात अधिनियम के सड़क सुरक्षा से सम्बद्ध प्रावधानों के अनुपालन में राष्ट्रीय राजमार्ग, एक्सप्रेसवे आदि पर सरकार द्वारा आधुनिक तकनीकयुक्त थोड़ी-थोड़ी दूरी पर अस्पताल खोले जाएँ, जिससे कि सड़क दुर्घटना में पीड़ित व्यक्ति को अविलंव उपचार मिल सके।

संदर्भ

1. एडीएसआई-2021, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो। (रा); 3 अप्रैल, 2023 को https://ncrb-gov-in/en/node/3722
2. भारत में अपराध 2021, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो। (रा।); 19 अगस्त, 2022 को https://ncrb-gov-in/en/Crime&in&India&2020
3. मोहसिन, ए.एस.एम. (2022)। बांग्लादेश के सड़क यातायात दुर्घटना परिदृश्य पर एक अध्ययन। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एडवांस रिसर्च एंड इनोवेटिव आइडियाज इन एजुकेशन, 8(4), 731-745।
4. फ्रिडस्ट्रॉम, एल., इफवर, जे., इंगेब्रिग्त्सेन, एस., कुलमाला, आर., और थॉमसन, एल.के. (1995)। सड़क दुर्घटनाओं की संख्या में भिन्नता के लिए या दृच्छिकता, जोखिम, मौसम और दिन के उजाले के योगदान को मापना। दुर्घटना विश्लेषण और रोकथाम, 27(1), 1-20.
5. घोड्स, ए.एच., सैकोमैनो, एफ., औरगुइडो, जी. (2012)। सूक्ष्म सिमुलेशन का उपयोग करके दो-लेन राजमार्ग सुरक्षा संचालन पर कार/ट्रक की अंतरगतिसीमा का प्रभाव। प्रोसीडिया-सामाजिक और व्यवहार विज्ञान, 53, 833-840।
6. गोयल, जी., और सचदेवा, एस.एन. (2014), एनएच-1 के चयनित खंड पर दुर्घटना गंभीरतामान का उपयोग करके दुर्घटना संभावित स्थानों की पहचान, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इंजीनियरिंग रिसर्च एंड एप्लीकेशन, 2, 11-21।
7. मोरादी, ए., नजरी, एस.एस.एच., और रहमानी, के. (2019), तंद्रा और सड़क यातायात दुर्घटनाओं का जोखिम: पिछले अध्ययनों की एक व्यवस्थित समीक्षा और मेटा-विश्लेषण। परिवहन अनुसंधान भाग एफ: यातायात मनोविज्ञान और व्यवहार, 65, 620-629।
8. कुमार, वी., और बंसल, आर. (2016), हिसार तहसील में सड़क दुर्घटना का विश्लेषण, आईजेआरई, खंड 05।
9. मेहर, आर., और अग्रवाल, पी.के. (2013)। भारत में सड़क सुरक्षा सुधार कार्यक्रम तैयार करने के लिए एक व्यवस्थित दृष्टिकोण। प्रोसीडिया-सामाजिक और व्यवहार विज्ञान, 104, 1038-1047।
10. मेश्राम, के., और गोलिया, एच.एस. (2013), इंदौर से धामनोद के बीच राष्ट्रीय राजमार्ग-3 पर दुर्घटना विश्लेषण। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एप्लीकेशन या इनोवेशन इन इंजीनियरिंग एंड मैनेजमेंट (आईजेएआईईएम), 2(7)।

11. भारत का संविधान
12. भारतीय दंड संहिता
13. मोटर वाहन अधिनियम, 1988
14. सड़क परिवहन निगम अधिनियम, 1950
15. मोटर वाहन चालन विनियमन, 2017

जनपद कुशीनगर (उ०प्र०) की जनसंख्या की संरचनात्मक विशेषताएं

रामप्रवेश गुप्ता
शोध छात्र (जे.आर.एफ.) भूगोल विभाग,
बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय कुशीनगर,
उत्तर प्रदेश

सारांश

किसी भी स्थान विशेष के भौगोलिक अध्ययन में जनसंख्या संघटक या संरचना का अध्ययन, एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जनसंख्या संघटक के अर्न्तगत किसी क्षेत्र की जनसंख्या को उसके विविध विशेषताओं के आधार पर वर्गीकृत करके उन तत्वों को सम्मिलित किया जाता है जिनकी गणना की जा सके। इसके अन्तर्गत किसी भी जनसंख्या के गुण जैसे-आयु संरचना, लिंग संरचना, व्यवसायिक संरचना, धर्म व भाषा के अनुसार जनसंख्या की संरचना, जनसंख्या परिवर्तन, शैक्षिक उपलब्धियां, रोजगार की दशा, आय आदि से संबंधित आंकड़े एकत्रित किए जाते है। इन्हें जनसंख्या के मात्रात्मक पक्ष के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि इन आकड़ों की मात्रात्मक माप की जा सकती हैं। कुशीनगर जनपद मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्र है। कुशीनगर जनपद में कुल गावों की संख्या 1447 है जिसमे ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत 95.13 है जबकि नगरीय जनसंख्या 4.87 प्रतिशत है। जनपद की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्र में निवास करती है, जिसका मुख्य व्यवसाय कृषि है।

सूचक शब्दः- जनसंख्या संरचना, आयु संरचना, लिंगानुपात, भाषा संरचना, साक्षरता, व्यवसायिक सरंचना।

अध्ययन क्षेत्रः- कुशीनगर जनपद, उत्तर प्रदेश के पूर्वोत्तर भाग में स्थित है। इसकी भौगोलिक अवस्थिति 26°33' उत्तरी अक्षाशं से 27°18' उत्तरी अक्षाशं तक तथा 83°29' पूर्वी देशान्तर से 84°26' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। कुशीनगर जनपद 14 विकासखण्डो तथा 06 तहसील में विभक्त है। इसकी सीमा पश्चिम में महाराजगज एवं गोरखपुर जिले के साथ लगती है, तथा दक्षिण-पूर्व में बिहार राज्य एवं दक्षिण में देवरिया जिले से घिरा हुआ है। जनपद में बूढी गण्डक एंव छोटी गण्डक प्रमुख नदियां है, जो उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर प्रवाहित होती है। जिले का कुल क्षेत्रफल 2906.0 वर्ग किलोमीटर है। यहां की कुल जनसंख्या जनगणना 2011 के अनुसार 3564544 है। जनपद में ग्रामीण जनसंख्या 95.3 प्रतिशत तथा नगरीय जनसंख्या 4.7 प्रतिशत है। जनपद की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है, जिसकी आजीविका का प्रमुख साधन कृषि है।

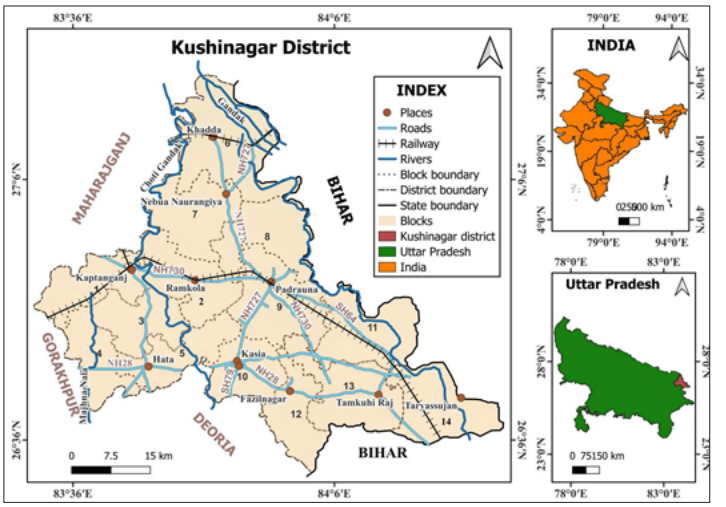

चित्र सं0–1 अध्ययन क्षेत्र की अवस्थिति

आंकड़ा स्रोत तथा शोध विधितंत्र :- प्रस्तुत अध्ययन हेतु आवश्यक आकंड़ों के संग्रह का मुख्य स्रोत द्वितीयक आँकड़ा है। द्वितीयक आँकड़ो को मुख्य रूप से जिला सांख्यिकी पत्रिका, जिला जनगणना हस्तपुस्तिका–2011 के साथ–साथ Kushinagar.nic.in एवं आनलाइन स्रोतों आदि से प्राप्त किया गया है। यह शोधपत्र व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध पद्धति पर आधारित है। आंकड़ो का विश्लेषण तालिकाओं एवं चित्रों आदि के माध्यम से किया गया है।

स्त्री–पुरूष अनुपात:– स्त्री–पुरूष अनुपात या लिंगानुपात से तात्पर्य किसी क्षेत्र विशेष में पुरूषों एवं स्त्रियों की संख्या के अनुपात से है। किसी भी क्षेत्र के भौगोलिक विश्लेषण एवं जनांकिकीय तत्वों के प्रभाव को समझने में लिंगानुपात की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। भारत में वर्ष–2011 की जनगणना के अनुसार स्त्री–पुरूष अनुपात 943 है, जो विश्व के अधिकाशं देशों ब्राजील–1025, जापान–1041, इण्डोनेशिया–1004, रूस–1140, नाइजीरिया–1016, संयुक्त राज्य अमेरिका–1029 से कम है जो चिंताजनक है।

तालिका क्र.–1 जनपद कुशीनगर में स्त्री–पुरूष अनुपात

वर्ष	जनपद कुशीनगर	उत्तर प्रदेश	भारत
1901	1011	938	972
1911	995	916	964
1921	966	908	955
1931	944	903	950
1941	968	907	945

1951	975	908	946
1961	969	907	941
1971	931	876	930
1981	955	882	934
1991	940	876	927
2001	963	898	933
2011	961	912	943

स्रोत:- जिला सांख्यिकी हस्तपुस्तिका-2020

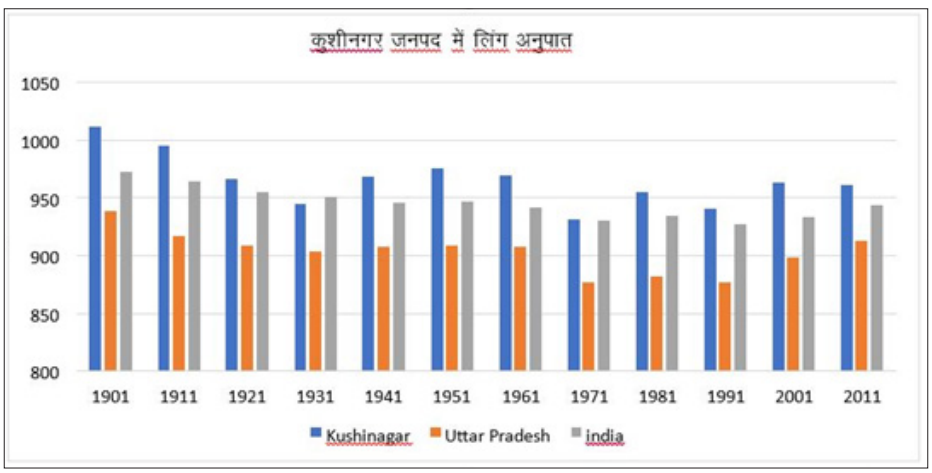

अध्ययन क्षेत्र कुशीनगर जनपद का लिंगानुपात का विवरण तालिका संख्या-1 में प्रदर्शित है। इस तालिका का निरीक्षण करने से स्पष्ट होता है कि जनपद में विगत एक शताब्दी में वर्ष 1901 को छोड़कर लिंग-अनुपात कभी भी सकारात्मक नही रहा है। वर्ष 1901 से 2011 तक उतार चढ़ाव होता रहा, वर्ष 1971 में लिंगानुपात सबसे कम 931 दर्ज किया गया है। प्रारंभ से ही जननपद का लिंगानुपात उत्तर प्रदेश एवं भारत (वर्ष-1931 को छोड़कर) अधिक ही रहा है। जनपद में लिंगानुपात की दरों का नकारात्मक होने का प्रमुख कारण यहॉ के निवासियों का निम्न जीवन-स्तर, लड़कियों को कम महत्व प्रदान करना, स्वास्थ्य सेवाओं की कमी, अशिक्षा है।

आयु-सरंचना

आयु संरचना प्रत्येक आयु-वर्ग में जनसंख्या के अनुपात का प्रतिनिधित्व करती है। आयु संरचना को आयु संघटक भी कहा जाता है। देश के वर्तमान एवं भविष्य के विकास में जनसंख्या की आयु संरचना उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं को प्रभावित करती है। जनसंख्या की संरचना को समझने

का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष आयु ही है। जिसकी सहायता से हम भविष्य की जनसंख्या का आंकलन एवं विद्यमान सामाजिक, आर्थिक समस्याओं का पता लगा सकते है। आयु संरचना से हमें कार्यशील जनसंख्या एवं आश्रित जनसंख्या के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। कुशीनगर जनपद की कुल जनसंख्या (वर्ष-2011) में सर्वाधिक प्रतिशत (23.94:) 9 वर्ष से कम आयु वर्ग के बच्चों की है। इसमें बालिकाओं का प्रतिशत कम (23.54:) है, जबकि बालकों का प्रतिशत (24.32) अधिक है जो नकारात्मक शिशु लिंगानुपात का द्योतक है। 10–19 वर्ष की आयु के अन्तर्गत जनपद की कुल जनसंख्या का 23.91 प्रतिशत जनसंख्या आती है। इस आयु-वर्ग में भी पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों का प्रतिशत कम है। 20–59 आयु वर्ग जो कार्यशील जनसंख्या के अन्तर्गत आती है का कुल जनसंख्या का प्रतिशत 42.42 है, जिसमें स्त्रियों का प्रतिशत पुरूषों की अपेक्षा अधिक है। 60 वर्ष से अधिक आयुं-वर्ग समूह में 6.02 प्रतिशत जनसंख्या है, जो आश्रित जनसंख्या के अन्तर्गत आती हैं ।

तालिका संख्या-2 जनपद कुशीनगर में जनसंख्या की आयु संरचना

आयु वर्ग	कुल जनसंख्या		
	पुरूष	स्त्री	योग
0–9	24.32	23.54	23.94
10–19	24.20	23.62	23.91
20–29	14.60	15.22	14.91
30–39	12.15	13.35	12.75
40–49	8.90	8.98	8.94
50–59	5.97	6.07	6.02
60 से अधिक	9.86	9.22	9.54

स्रोत :- जिला सांख्यिकी हस्तपुस्तिका-2020

ग्रामीण एवं नगरीय आयु संरचना

कुशीनगर जनपद में ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में आयु संरचना में विभिन्न आयु वर्गो में स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होता है। एक ओर जहा आश्रित जनसंख्या (0–19 एवं 60 से अधिक वाले आयु वर्ग) ग्रामीण क्षेत्रों मे अधिक है, वही दूसरी ओर कार्यशील जनसंख्या (20–59 वाले आयु वर्ग) का प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरीय क्षेत्रों में अधिक है। नगरीय क्षेत्रो मे कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत अधिक होने का प्रमुख कारण रोजगार के लिये पलायन होना हैं। नगरीय क्षेत्रों में कार्यशील जनसंख्या में वृद्धि होने के अन्य कारणो में शिक्षा, चिकित्सा, एवं अन्य प्रशासनिक कार्य एवं कल्याणकारी योजनाएं शामिल है।

तालिका क्र.सं.-3 ग्रामीण एवं नगरीय आयु संरचना (प्रतिशत में)

आयु-वर्ग	ग्रामीण	नगरीय
0-9	24.12	20.19
10-19	23.94	23.25
20-29	14.79	17.03
30-39	12.72	13.3
40-49	8.89	10.35
50-59	6.0	6.39
60 से अधिक	9.53	9.47

स्रोतः- जिला सांख्यिकी हस्तपुस्तिका-2020

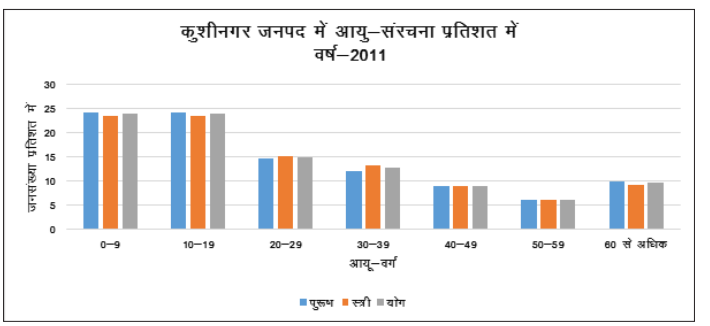

साक्षरता

किसी देश के आर्थिक कार्यक्रमों की सफलता एवं सामाजिक-सांस्कृतिक विकास में वहां की निरक्षर व अशिक्षित जनसंख्या सबसे प्रमुख बाधक होती है। इस समय वही देश सामाजिक व आर्थिक विकास कर सकता है जहां की अधिकांश जनसंख्या साक्षर व शिक्षित हो। साक्षरता व शिक्षा में मूलभूत अन्तर है। साक्षरता से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो किसी भी भाषा मे पढ़ एवं लिख सकते है। आर्थिक विकास के लिये देश के अधिकतम लोगो को कम से कम उस स्तर का शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है ताकि वे लिखे हुए निर्देश तथा अन्य महत्वपूर्ण बातों को भली-भाँति समझकर उस सन्दर्भ में स्वयं निर्णय ले सके।

तालिका क्र.स.-4 कुशीनगर जनपद में विकासखण्डवार साक्षरता दर (ग्रामीण) वर्ष-2011 प्रतिशत में

क्र.सं.	विकासखण्ड का नाम	साक्षरता दर			साक्षरता दर में अन्तर
		कुल	पुरूष	महिला	
1	खड्डा	58	70.63	44.39	26.24
2	नेबुआ-नौरंगिया	63.98	77.63	49.63	28
3	विशुनपुरा	61.71	74.52	48.32	26.2
4	पड़रौना	66.07	77.85	53.57	24.1
5	कप्तानगंज	68.5	81.04	55.57	25.47
6	रामकोला	64.79	78.02	50.8	27.28
7	मोतीचक	67.5	80.74	54.38	26.36
8	सुकरौली	68.56	82.25	54.96	27.29
9	हाटा	69.88	83.15	56.75	26.4
10	कसया	68.9	80.98	56.38	24.6
11	फाजिलनगर	69.88	82.54	57.28	25.26
12	तमकुहीराज	67.85	80.86	54.93	25.93
13	दुदही	57.28	70.07	43.81	26.26
14	सेवरही	58.98	71.67	45.63	26.04
	कुल	64.75	77.51	51.59	25.92

स्रोत:- जिला सांख्यिकी हस्तपुस्तिका-2020

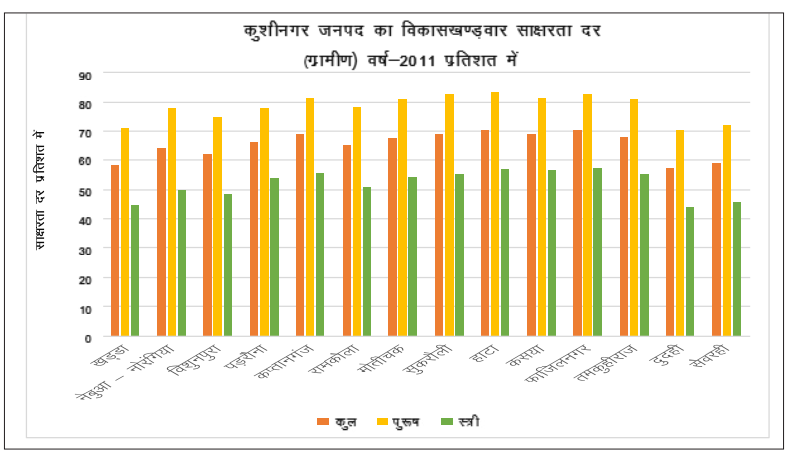

उपरोक्त तालिका क्रमांक–4 को देखने से यह स्पष्ट हो रहा है कि सबसे अधिक साक्षरता का प्रतिशत फाजिलनगर एवं हाटा विकासखण्ड में (69.88%) पायी जाती है। हाटा और फाजिलनगर विकासखण्ड में पुरुषों और स्त्रियों दोनों वर्गों में साक्षरता दर अन्य विकासखण्डों की तुलना में अधिक है। हाटा विकासखण्ड में पुरुषों में साक्षरता दर 83.15% और स्त्रियों में 56.75% पायी जाती है। जबकि फाजिलनगर विकासखण्ड में पुरूषों में साक्षरता का दर 82.54% एवं स्त्रियों में 57.28% है। साक्षरता दर में तीसरा स्थान कसया विकास खण्ड का है जहाँ की 68.9% जनसंख्या साक्षर है। यहाँ पुरूषों में साक्षरता का प्रतिशत 80.98 और स्त्रियों में यह प्रतिशत 56.38 है। चौथा स्थान सुकरौली विकासखण्ड का है जहाँ की कुल 68.56% जनसंख्या साक्षर है, जिसमें 82. 25% पुरुष और 54.96% स्त्रियाँ हैं। जनपद में सबसे कम साक्षरता दर वाले तीन विकासखण्ड क्रमशः दुदही, खड्डा और सेवरही है। जहाँ की साक्षरता दर क्रमशः 57.28%, 58.00%, और 58.98% है।

तालिका क्र.स.–5 जनपद कुशीनगर – धर्म के अनुसार जनसंख्या (प्रतिशत में) वर्ष–2011

प्रमुख धर्म	वर्ष –2001			वर्ष – 2011		
	कुल	ग्रामीण	नगरीय	कुल	ग्रामीण	नगरीय
हिन्दू	82.77	83.11	75.37	82.15	82.52	74.72
मुस्लिम	16.86	16.50	24.29	17.40	17.04	24.63
इसाई	0.05	0.04	0.08	0.14	0.13	0.25
सिक्ख	0.03	0.03	0.05	0.02	0.02	0.05
बौद्ध	0.24	0.24	0.10	0.14	0.13	0.06
जैन	0.00	0.00	0.03	0.01	0.01	0.03
अन्य	0.00	0.00	0.00	0.00	0.00	0.00
धर्म नहीं बताया गया	0.05	0.05	0.30	0.14	0.13	0.26

स्रोतः– जिला सांख्यिकी हस्तपुस्तिका–2020

उपरोक्त तालिका संख्या– 5 के गहन अवलोकन से स्पष्ट होता है कि अध्ययन क्षेत्र कुशीनगर जनपद में वर्ष 2001 में कुल जनसंख्या में हिन्दुओं की संख्या 82.77 प्रतिशत है जो सर्वाधिक है। मुस्लिम आबादी 16.86, इसाई 0.08, सिक्ख 0.03 और बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या 024 प्रतिशत है। जनपद में ग्रामीण एवं नगरीय स्तर पर भी धर्मानुसार जनसंख्या के वितरण में असमानता मिलती है। ग्रामीण क्षेत्रों में हिन्दुओं का अनुपात नगरीय क्षेत्र की अपेक्षा अधिक है। जबकि मुस्लिम, सिक्ख, इसाई और बौद्धों धर्मावलम्बियों का प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक है। जनपद में वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या में हिन्दुओं की संख्या में वृद्धि हुई परन्तु जनसंख्या की वृद्धि दर मुस्लिम धर्मावलम्बियों में अधिक है। वर्ष 2011 में जनपद की कुल जनसंख्या में हिन्दुओं का प्रतिशत 82.15, मुस्लिम 17.40, इसाई 0.14, सिक्ख

0.02, बौद्ध 0.14, जैन 0.01 प्रतिशत है। जबकि धर्म नहीं बताने वालों की संख्या 0.14 प्रतिशत है जो वर्ष 2001 की तुलना मे अधिक है।

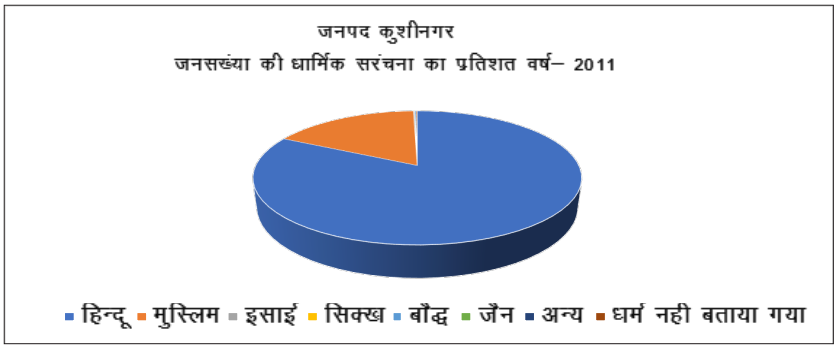

व्यवसायिक सरंचना:– किसी भी क्षेत्र में विभिन्न आर्थिक–क्रियाकलापो मे सलंग्न जनसंख्या के स्वरूप को व्यवसायिक संरचना कहा जाता है। जनसंख्या की कार्यात्मक सरंचना किसी भी क्षेत्र की संरचनात्मक संगठन को प्रदर्शित करती है। कार्यात्मक संरचना किसी क्षेत्र की कार्यात्मक शक्ति को प्रदर्शित करती है और यही कार्यात्मक शक्ति जनसंख्या की संसाधनता के निर्धारक तत्वों मे से एक है। जनसंख्या एक उत्पादक तत्व है और इसकी उत्पादकता इसके कार्यक्षमता पर निर्भर करती है। व्यवसायिक संरचना के अध्ययन से क्षेत्र विशेष के निवासियों के रहन–सहन एवं जीवन–यापन के स्तर का सटीक अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार व्यवसायिक संरचना से क्षेत्र के विकास स्तर का बोध होता है तथा यह विकास स्तर क्षेत्र में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों के साथ–साथ जनसंख्या की संसाधनता से प्रभावित होता है। कुशीनगर जनपद मिट्टी एवं जनसंसाधन से सम्पन्न क्षेत्र है। फलस्वरूप कार्यरत जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि कार्यो में संलग्न है। कार्यरत जनसंख्या का तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों से है जो शारीरिक या मानसिक रूप से किसी न किसी आर्थिक कार्य में संलग्न है, जिससे उनका एवं उनके परिवार के आश्रित सदस्यों का भरण–पोषण होता है ।

तालिका क्र.सं.–6 श्रम शक्ति अनुपात– जनपद की व्यावसायिक संरचना प्रतिशत में वर्ष – 2011

क्र.सं.	श्रेणी	कुशीनगर	उत्तर प्रदेश
1	कृषक	24.46	46.97
2	कृषि श्रमिक	48.53	15.15
3	घरेलू उद्योग	04.94	05.32
4	अन्य व्यवसाय	22.07	32.56
5	योग	100.00	100.00

स्रोत– जिला सांख्यिकी हस्तपुस्तिका–2020

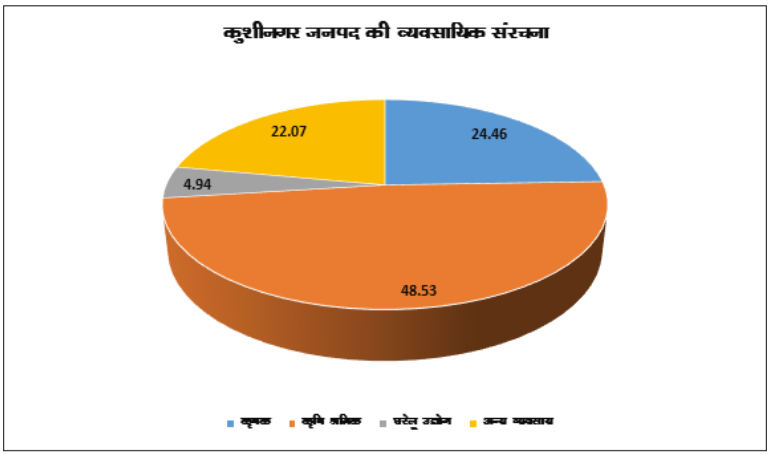

कुशीनगर जनपद मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्र है। कुशीनगर जनपद में कुल गावों की संख्या 1447 है जिसमें ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत 95.13 है जबकि नगरीय जनसंख्या 4.87 प्रतिशत है। जनपद की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्र में निवास करने के कारण उनका व्यवसाय कृषि कार्य ही है। तालिका सं0 -6 से स्पष्ट है कि जनपद की 24.46 प्रतिशत जनसंख्या कृषक है जबकि जनपद की लगभग आधी आबादी (48.53 प्रतिशत) कृषि श्रमिक है। जनपद मे बड़े एव मध्यम उद्योगो का अभाव है। वहीं छोटे, घरेलू एव कुटीर उद्योग का विकास भी बहुत कम हुआ हैं। घरेलू उद्याोगों में काम करने वाली आबादी का प्रतिशत 4.94 है जो क्षत्रे के अल्पविकास का द्योतक है।

भाषायी सरंचना

भाषा संस्कृति का एक महत्वपूर्ण घटक है और भारत वेः विभिन्न हिस्सों में विभिन्न भाषाएँ और उनकी बोलियाँ बोली जाती हैं। यह भारतीय संस्कृति को समृद्ध और विविधतापूर्ण बनाता है। साथ ही, देश में भाषाई क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें अधिकाशं लोग एक सामान्य भाषा बोलते हैं। भारत में भाषाई क्षेत्र बनाने वाली भाषाएँ हैं जैसे - कश्मीरी, पंजाबी, हिंदी, उर्दू, बंगाली, असमिया, उड़िया, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मयाललम आदि। किसी भाषा के बोलने के तरीके में भिन्नता के कारण भाषा की बोलियों का उदय होता है। इस प्रकार, एक कुछ भाषा के एक भाग के समान होती है और उन्हे क्षेत्रीय भाषा के रूप में भी माना जा सकता है। हिन्दी बोलियों के कुछ उदाहरण जैसे- राजस्थानी, हरियाणवी, भोजपुरी आदि। तालिका क्र.-6 के अवलोकन से स्पष्ट है कि अध्ययन क्षेत्र कुशीनगर में प्रमुख रूप से हिन्दी भाषा (भोजपुरी बोली) बोलने वाले लोग निवास करते है। क्षेत्र में कुल जनसंख्या का 99.49 : जनसंख्या हिन्दी भाषी है। शेष 0.46 : जनसख्या उर्दू भाषा बोलती है। अन्य भाषा जैसे- पंजाबी, बंगाली, एवं अन्य भाषा बोलने वालों की संख्या अत्यल्प है।

तालिका क्र.सं.-7 कुशीनगर जनपद में जनसंख्या की भाषायी संरचना

क्र.सं.	भाषा	संख्या	कुल जनसंख्या में प्रतिशत
1	हिन्दी	3546538	99.49
2	उर्दू	16488	0.46
3	पंजाबी	30	0.00
4	बंगाली	668	0.02
5	अन्य	820	0.02
6	कुल योग	3564544	100.0

स्रोतः- जिला सांख्यिकी हस्तपुस्तिका-2020

निष्कर्ष

जनपद कुशीनगर की लगभग 95.3 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है तथा 4.7 प्रतिशत जनसंख्या नगरीय क्षेत्रों में निवास करती है। अध्ययन क्षेत्र मुख्यतया ग्रामीण आबादी वाला हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषकों का प्रतिशत 24.46 है जिसमे अधिकाशं कृषकों के जोतो का आकार बहतु छोटा है। ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यशील जनसंख्या नगरीय क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक है। अध्ययन क्षेत्र की ग्रामीण कार्यशील जनसंख्या में कृषकों की अपेक्षा कृषक श्रमिकों की संख्या अधिक है। कृषक श्रमिक को वर्ष भर में तीन से चार माह ही प्रत्यक्ष रूप से रोजगार उपलब्ध रहता है। जनपद में कृषक श्रमिकों की आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय है। जनपद में आर्थिक विकास हेतु कृषि आधारित उद्योगों, कुटीर उद्योगों, पशुपालन उद्योगों आदि को बढ़ावा दिया जाना चाहिये, जिससे अधिक से अधिक कार्यशील जनसंख्या कां रोजगार के अवसर उपलब्ध कराया जा सके जिससे लोगों का जीवन-स्तर उपर उठ सके।

संदर्भ

1. चान्दना, आर.सी., जनसंख्या भूगोल, कल्याणी पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
2. मौर्य, एस.डी., जनसंख्या भूगोल शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. "कुरूक्षेत्र" एव "योजना" मासिक पत्रिका, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली।
4. जनगणना रिपोर्ट, 2011, भारत सरकार।
5. जिला साख्यिकी पत्रिका, जनपद कुशीनगर।
6. Website - www.rural.nic.in
7. Website - www.kushinagar.nic.in

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में जनजातीय आन्दोलन की भूमिका

सत्य बहादुर सिंह
शोध छात्र, इतिहास विभाग
कलिंगा विश्वविद्यालय, जयपुर

संकेत शब्द : रीति-रिवाज, साम्राज्यवादी, विपन्नता, भूमिहीन, रैय्यत

भारतीय भूखंड पर अनेकों प्रकार की जनजातियां पाई जाती है। भारत में अंग्रेजी शासन प्रस्थापित होने के बाद इन जातियों पर भी अत्याचार प्रारंभ हो चुके थे। उनकी भूमि तथा उनके रीति-रिवाजों पर प्रहार हो रहा था। साम्राज्यवादी ताकतें शक्ति और अत्याचार के बल पर विभिन्न इलाकों पर कब्जा करने का प्रयास कर रही थी। उनके द्वारा लोगों की स्वतंत्रता पर प्रहार करते हुए उनकी संप्रभुता को कुचलने का प्रयास हो रहा था। अंग्रेज अधिकारियों का अत्याचार पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं तथा बच्चों पर भी निर्बाध रूप से बढ़ता जा रहा था। ब्रिटिश शासन की विस्तारवादी सोच ने जनजातियों के सम्मुख भी अस्तित्व का संकट उत्पन्न कर दिया था। विकास कार्यों का बहाना लेकर अंग्रेज सरकार जनजातीय क्षेत्र को उजाड़ने पर लगी थी। अंग्रेजों के इन कार्यों से जनजातीय लोगों में अंग्रेजों के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना भड़क उठी और उन्होंने ब्रिटिश प्राधिकारियों तथा अन्य शोषकों का पूरी ताकत से विरोध किया। जनजातियों में भी अनेकों वर्ग विद्यमान थे जिन्हें बहुत समय तक इधर-उधर बिखेर दिया गया था, किंतु उन्होंने अपनी सामाजिक तथा सांस्कृतिक विविधता को अक्षुण्य बनाये रखा। जनजातियों के प्रत्येक वर्ग ने अपने अपने क्षेत्रों में अपने अपने हिसाब से ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिरोध किया और अंग्रेजों के उपनिवेशवाद के खिलाफ प्रखरता से आंदोलन चलाए।। यद्यपि कुछ इतिहासकार इसे स्वतंत्रता आंदोलन में जनजातियों के प्रतिभाग के तौर पर नहीं देखते और यह मानते हैं उन्होंने केवल अपने जर, जमीन तथा जंगल बचाने के उद्देश्य से संघर्ष किया था, तथापि उनका मानना है कि जनजातीय आंदोलन ने अंग्रेजों के विरुद्ध एक माहौल बनाने में मदद अवश्य की थी। यह संघर्ष बाहरी लोगों तथा उनके उपनिवेशवाद के प्रति जनजातियों का सशक्त प्रतिरोध कहा जा सकता है। उनकी बगावत उनकी भूमि पर अतिक्रमण, उनके जमीन की बेदखली तथा उनके रीति-रिवाजों पर किए जाने वाले आक्रमण के विरुद्ध थी। उनके सामाजिक अधिकारों का हनन किये जाने के कारण उनमें आक्रोश था। कुल मिलाकर इन आंदोलन को सामाजिक तथा धार्मिक परिवर्तनों के रूप में माना जा सकता है जो उनके अस्तित्व से संबंध रखने वाले मुद्दों के विरुद्ध थे। इसीलिए इन्हें भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का अभिन्न अंग माना जाता है। इन आंदोलनों में अनेकों आदिवासी नेताओं ने उल्लेखनीय योगदान दिया जिनमे बिरसामुंडा, रानी गैदिन्ल्यू, लक्ष्मणनायक और वीर सुरेंद्र साई जैसे प्रतिष्ठित आदिवासी नेताओं का उल्लेख किया जा सकता है। जनजातीय आंदोलन को विदेशी शासकों के विरुद्ध

अनिवार्य रूप से एक विद्रोह माना जा सकता है, जिसके कारण इसे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के अंग के रूप में स्वीकार करने में कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। इन आंदोलनों की सबसे बड़ी खासियत यह थी कि बिना किसी औपचारिक शिक्षा अथवा अस्त्र-शस्त्र के प्रशिक्षण के जनजातीय लोगों ने ऐसी शक्ति के विरुद्ध संघर्ष किया था जो अस्त्र-शस्त्र से परिपूर्ण होने के साथ साथ उच्च कोटि का प्रशिक्षण प्राप्त सेना से युक्त थे। उनके पास सशक्त नेतृत्व न होने के कारण प्रेरक मार्गदर्शन का भी पूर्णतया अभाव था, किंतु उन्होंने ब्रिटिश हुकूमत के समक्ष लाचारी न प्रदर्शित करते हुए अपने निवास स्थान, रीति-रिवाजों तथा सांस्कृतिक व सामाजिक सिद्धांतो में किसी भी हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं किया और संघर्ष के लिए उद्यत हो उठे। उनके सारे कार्य तथा व्यवहार विदेशी शासन को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए तत्पर हो गए।

यदि हम स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासियों की भूमिका समझने का प्रयास करें तो हमें उसकी पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है। जनसंख्या के लिहाज से भारत में संपूर्ण एशिया के किसी भी देश से ज्यादा जनजातीय आबादी पाई जाती है। इन जातियों का विस्तार तकरीबन 19 राज्यों और 6 केंद्र शासित प्रदेशों तक फैला हुआ है। गुजरात से लेकर बंगाल तक इन जनजातियों का प्रभाव है। देश की लगभग 70 प्रतिशत जनजातीय आबादी गुजरात के डांग जिले से लेकर बंगाल के चौबीस परगना तक ही निवास करती है। पूर्वोत्तर के सात राज्यों जैसे मेघालय, मणिपुर, मिजोरम, असम, अरूणाचल प्रदेश, नागालैण्ड और त्रिपुरा में भी आदिवासियों एवं जनजातियों की बहुलता है। इसी कारण पूर्वोत्तर के सीमावतह्न प्रदेश बिहार और झारखण्ड जनजातीय आन्दोलनों के प्रमुख केन्द्र के रूप में सक्रिय रहे हैं। इन राज्यों के अतिरिक्त झारखण्ड, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश एवं राजस्थान में आदिवासियों की एक बड़ी आबादी निवास करती है। आदिवासियों के बारे में एक तथ्य यह भी सही है कि उन्होंने कभी भी भारत की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध नहीं किया भले ही उनके अंग्रेजों के साथ किए गए युद्ध ने भारतीय पक्ष को मजबूत किया हो। उनके द्वारा चलाए गए आंदोलन ज्यादातर स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप संचालित हुए। इसका एकमात्र कारण जनजातियों का विभिन्न उपसमूहों में विभाजित होना है, जिसके कारण उनका संगठन उस मजबूती के साथ खड़ा नहीं हो पाता था जितनी उनमें सामर्थ्य थी। विभिन्न उपजातियां में बैठे होने के कारण उन्होंने अपने स्वायत्तता की लड़ाई भी अपने-अपने ढंग से ही लड़ी जिसके कारण अधिक सार्थक परिणाम की प्राप्ति नहीं हो सकी कुछ भी हो किंतु इस बात से नकारा नहीं जा सकता की भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को इन जनजातीय आंदोलनों द्वारा सार्थक भूमि प्राप्त हो सकी थी।

महात्मा गांधी द्वारा किया गया आंदोलन महज अंग्रेजों से मुक्ति का आंदोलन था और वे चाहते थे कि अंग्रेज भारतीयों को सत्ता सौंपकर अपने देश वापस चले जाएं। इस प्रकार उनका उद्देश्य महज राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति थी। उन्होंने सामाजिक आजादी के लिए किसी भी प्रकार का प्रयास नहीं किया। सामाजिक आजादी से तात्पर्य दलितों, अछूतों तथा आदिवासियों को सामाजिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतंत्रता भी प्रदान करना था। सामाजिक लड़ाई के क्षेत्र में डक्टर अंबेडकर ने सार्थक प्रयास किये। उन्होंने घोषित किया कि सामाजिक स्वतंत्रता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं। इसलिए उन्होंने समाज के इन दबे कुचले वर्गों के लिए अछूतोद्धार आंदोलन चलाया। यह सारी स्वतंत्रताएं आदिवासियों के लिए भी उतनी ही महत्वपूर्ण

थी। उन्हें भी सामाजिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतंत्रता की महती आवश्यकता थी। वे साहूकारों द्व ारा किए जा रहे शोषण से परेशान थे। साहूकारों से लिए गए कर्ज को न चुका पाने के कारण साहूकार उनकी जमीन पर कब्जा कर लेते थे। तत्कालीन देसी राजाओं, महाराजाओं ,जमींदारों एवं सामंतों ने अंग्रेजी शासन के सहयोग से खुलकर आदिवासियों के साथ अत्याचार किया, किंतु महात्मा गांधी सरीखे राष्ट्रीय नेताओं ने भी इस अन्याय तथा अत्याचार के खिलाफ कभी आवाज नहीं उठाई। अंग्रेजों ने भी अपने कठोर नियमों तथा कानूनों को भारतीय जनता पर लादने के लिए इन्हीं राजे रजवाड़ों का सहारा लिया और इनके द्वारा ही लगान वसूल कराएं। यही कारण है कि अपने ऊपर अत्याचार की पराकाष्ठा के कारण था जनजातियों को अंग्रेजों के अतिरिक्त अपने ही देश के राजों, महाराजों, साहूकारों एवं सामंतों से भी लोहा लेना पड़ा। यद्यपि प्रत्येक आंदोलन में आदिवासियों को भारी कीमत चुकानी पड़ी क्योंकि भारी संख्या में आधुनिक हथियारों, बंदूकों तथा तोपों से सुसज्जित अंग्रेजी सेना का सामना करने के लिए उनके पास उच्च स्तरीय हथियार नहीं थे। वे युद्ध के परंपरागत साधनों जैसे तीर कमान, भाले, फरसे और गड़ासे आदि का ही प्रयोग करते थे। इसी कारण उन्हें प्रत्येक आंदोलन में बहुत अधिक जान माल की हानि उठानी पड़ती थी। उदाहरण के लिए सन 1855 के संथाल विद्रोह में दस हजार से भी अधिक आदिवासी मौत के घाट उतार दिए गए और उसी प्रकार 1913 के मानगढ़ आंदोलन में डेढ़ हजार से भी अधिक आदिवासी शहीद हो गए। विमर्श के इस बिंदु पर अब हम कुछ प्रमुख जनजातीय आंदोलनों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

जनजातीय आंदोलनों को मुख्य रूप से तीन भागों में बांटा जा सकता है-

1. 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में किए गए मुख्य विद्रोह
2. 20वीं सदी के कुछ महत्वपूर्ण विद्रोह
3. उत्तर-पूर्व के जनजातीय आंदोलन

18वीं तथा 19वीं शताब्दी में मुख्य रूप से निम्नलिखित जनजातीय विद्रोह दर्ज किए गए जिनमें जनजातियों ने अंग्रेज सेना, जमींदारों एवं साहूकारों के विरुद्ध अद्भुत पराक्रम का प्रदर्शन किया।

आदिवासी लोगों ने अपना प्रथम आंदोलन 1780 में संथाल परगना में प्रारंभ किया था जिसका नेतृत्व तिलका मांझी ने किया था। इसे 'पहाड़ियां तथा दामिन विद्रोह' भी कहा जाता है। यह आंदोलन सन 1780 से प्रारंभ होकर 1790 तक गतिमान रहा। तिलका तथा माझी दो आदिवासी वीरों ने संपूर्ण आंदोलन को गति पकड़ाई थी। यह संघर्ष उनके स्वयं की भूमि के सुरक्षा के लिए किया गया आंदोलन था जिसे अंग्रेज किसी भी प्रकार से हथियाना चाहते थे। तिलका और मांझी नाम के दो आदिवासी वीरों ने अंग्रेजों तथा जमींदारों के इस प्रयास का विरोध किया और प्रतिरोध की गतिविधियाँ प्रारंभ कर दी। उनकी गतिविधियों से अंग्रेजी सेना परेशान हो गयी और उन्हें पकड़ने के लिए सेना की टुकड़ी भेज दी गई। तिलका को जब अंग्रेजी सेना के उसके निकट तक पहुंचने की सूचना प्राप्त हुई तो वह उस सेना का निरीक्षण करने के लिए ताड़ के पेड़ पर चढ़ गया। यह ताड उस जगह पर था जहां से अंग्रेजी सेना को साफ-साफ देखा जा सकता था। अंग्रेजी सेना पास की झाड़ियों में छुपी हुई थी और समस्त गतिविधियों पर नजर बनाए हुये थी। अंग्रेजी सेना का नेतृत्व

मिस्टर क्लीवलैंड कर रहे थे। उन्होंने तिलका को ताड़ के पेड़ पर चढ़ते हुए देख लिया था। धीरे-धीरे चुपके से अंग्रेजी सेना पेड़ के पास पहुँच गई और उसने तिलका को ललकारते हुए आत्मसमर्पण करने की चेतावनी दी। किंतु तिलका ने आत्मसमर्पण न करते हुए क्लीवलैंड की छाती में एक तीर घुसा दिया। क्लीवलैंड के घायल हो जाने पर अंग्रेजी सेना उसे बचाने के कार्य में व्यस्त हो गई और अवसर का लाभ लेते हुए तिलका पेड़ से नीचे उतरकर फिर से जंगल में कहीं लापता हो गया। अंग्रेजी सेना छापामार युद्ध पर उतर आई थी और तिलका उनकी इस युद्ध नीति का शिकार हो गया। अंततोगत्वा तिलका गिरफ्तार कर लिया गया और अंग्रेजों ने अपनी हानि का बदला लेने के लिए उसे पेड़ की डाली से लटका कर मार डाला। इस प्रकार यह जनजातीय वीर अपनी भूमि की रक्षा के लिए शहीद हो गया। यद्यपि तिलका अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन में शहीद होने वाला पहला वीर था किंतु फिर भी उसे भारतीय इतिहास में प्रथम शहीद का दर्जा प्राप्त नहीं हो सका, क्योंकि उसने महज एक सीमित भूखंड की रक्षा में अपना बलिदान दिया था। उसकी क्रांति व्यापक नहीं थी और न ही व्यापक उद्देश्यों को लेकर निर्धारित की गई थी। अत: इतिहासकारों को उसे प्रथम शहीद घोषित करने में संकोच होता है। क्रांति की व्यापकता के आधार पर ही 1857 की क्रांति के नायक मंगल पांडे को प्रथम शदीद का दर्जा दिया जाता है।

इस विद्रोह का प्रारंभ 1818 से माना जाता है तथा यह विद्रोह 1831 तक गतिमान रहा। इस आंदोलन का प्रभाव क्षेत्र महाराष्ट्र का खानदेश रहा जहाँ मूल रूप से भील आबादी निवास करती थी। 1818 में अंग्रेजों द्व ारा इस क्षेत्र पर भी अतिक्रमण प्रारंभ कर दिया गया और उनकी भूमि पर कब्जा करने का प्रयास किया जाने लगा। विभिन्न नियमों कानों द्वारा जनजातियों की जमीन पर परिवर्तन करने के प्रयास किए जाने लगे। भील जनजाति अपनी भूमि पर किसी भी प्रकार के ब्रिटिश परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए तैयार न हुए और उन्होंने अंग्रेज सरकार के खिलाफ विद्रोह कर दिया। भील विद्रोह के तात्कालिक कारणों में बाजीराव द्वितीय के पेशवा बनने के पश्चात जसवंत राव होलकर द्वारा विद्रोह किए जाने पर मराठी सेना ने भीलो पर अत्याचार करना प्रारंभ कर दिया और उनकी बस्तियों को उजाड़ दिया। इस घटना से उनकी आमदनी का एकमात्र सहारा उनके खेत जोतने से वंचित रह गए। फसल न हो पाने के कारण भील परिवार भुखमरी का शिकार होने लगे और उनकी आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय हो गयी। इसके बावजूद भी पेशवा के सरदारों ने उन पर अत्याचार बंद नहीं किया और उनका शोषण निरंतर जारी रहा। इस संबंध में अयोध्या सिंह लिखते हैं- "1816 में पिण्डारियों ने पूर्वी पहाड़ियों के मुसलमान भीलो की मदद से इन पर ऐसे जुल्म ढाये कि उनके सामने मराठों और अरबों के जुल्म फीके पड़ गये। अत्याचारों से बचने के लिये भीलों ने भाग कर पहाड़ियों में शरण ली। सामन्त सरदारों के अत्याचारों ने उनमें विद्रोह की भावना भर दी। इस हालत में खान देश का प्रान्त अंग्रेजों के हाथ आया। इन नये शासकों के खिलाफ भीलों का विद्रोह करना इसलिये स्वाभाविक था।"[1]

भील जनजाति ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भीलों के साथ किए जाने वाले क्रूर व्यवहार से उत्तेजित हो चली थी। दूसरी तरफ ब्रिटिश सरकार भीलों को उनके पारंपरिक वन अधिकारों से वंचित करने का प्रयास कर रही थी। इसके साथ ही भील जनजाति का अंग्रेज अधिकारियों द्वारा व्यापक पैमाने पर शोषण भी हो रहा था। प्रतिरोध स्वरुप उन्होंने आंदोलन का मार्ग अख्तियार किया। किंतु जल्द ही अंग्रेज सरकार द्वारा एक बड़ी सेना

भेजकर विद्रोह को कुचल दिया गया। विद्रोह के कुचले जाने पर भी यह पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ और अंतत: अंग्रेजों को विवश होकर विद्रोहियों के साथ शांति का प्रस्ताव रखना पड़ा, जिसके तहत उन्हें विभिन्न करों में रियायतें दी गई और उनके वन अधिकारों को वापस कर दिया गया। सन् 1831 में यह विद्रोह शांत हो गया; किन्तु 1852 में भीलों का विद्रोह पुन: धार राज्य तथा खानदेश में भी भड़क उठा। यद्यपि इस विद्रोह को अंग्रेजों ने बड़ी ही चतुराई के साथ कुचल दिया और भील अंग्रेजों की शक्ति के सम्मुख नतमस्तक हो गए।

रामोसिस मुख्य रूप से पश्चिमी घाट की पहाड़ी जनजातियाँ थीं जिन्होंने बहुत समय तक मराठा सरकार के लिए काम किया था। अंग्रेजों के साथ मराठों के युद्ध में मराठों की पराजय के कारण अंग्रेजों ने मराठा भूमि पर कब्जा कर लिया जिससे रामोसिस लोगों ने अपनी आय के एकमात्र स्रोत को खो दिया था। वास्तव में इस जनजाति के लोग पूर्व की मराठा सरकार में पुलिस तथा सैनिकों के रूप में काम किया करते थे। मराठा सरकार की पराजय के कारण इन्हें भी बेरोजगार हो जाना पड़ा। मराठों की पराजय के बाद अंग्रेज सरकार द्वारा इन लोगों पर चुन-चुन कर अत्याचार किया जाने लगा। उसी समयावधि में उस क्षेत्र में भीषण अकाल भी पड़ गया। अकाल के बावजूद अंग्रेज सरकार ने उन पर कर लगा दिया। अत: इस जनजाति के लोगों को ब्रिटिश शासन पद्धति उनके हित में दिखाई नहीं पड़ी। रामोशी जनजाति के लोग अंग्रेजों की कब्जे की नीति तथा उन पर किए जा रहे अत्याचार से नाराज थे। इसलिए उन्होंने संघर्ष का मार्ग चुना और चित्तूर सिंह के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष का ऐलान कर दिया। आदिवासी लोगों ने नई ब्रिटिश शासन प्रणाली को बेहद अनुचित मानते हुए उसके विरुद्ध उठ खड़े होने का संकल्प लिया था। उनके पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प शेष भी नहीं बचा था। इस प्रकार ब्रिटिश शासन प्रणाली को ही इस विद्रोह का तात्कालिक कारण स्वीकार किया जा सकता है। विद्रोह के दौरान रामोशी समुदाय द्वारा सतारा के आसपास के क्षेत्रों में भारी लूटपाट की गई। यह विद्रोह किसी-न-किसी रूप में 1829 ई० तक जारी रहा। इसके बाद अंग्रेजी प्रशासन ने रामोशी समुदाय की प्रति नरमी का रुख दिखाते हुए इस क्षेत्र में व्यवस्था बहाल कर दी और शांतिवादी नीति के तहत रामोशी लोगों को पहाड़ी पुलिस में भर्ती कर लिया गया। इस प्रकार अंग्रेजों की कूटनीति से इस विद्रोह को समाप्त किया जा सका।

स्वाधीनता आंदोलन के क्रांतियों की तरह कोल विद्रोह भी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सबसे बड़ी व प्रसिद्ध क्रांतियों में से एक कही जा सकती है। कोल जनजाति मुख्य रूप से छोटा नागपुर तथा इसके आसपास के क्षेत्र में रहने वाली जनजातियों में से एक सशक्त जनजाति थी। इससे संबंध रखने वाले लोग अत्यंत साहसी, जुझारू तथा संघर्ष से पीछे न हटने वाले लोग थे। इस जनजाति के लोग केवल अपने पारंपरिक मुखियाओं के अधीन ही रहते थे और उन्हीं के संरक्षण में पूर्ण स्वतंत्र थे। ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद उनकी इस स्थिति में परिवर्तन हुआ और उनकी स्वायत्तता को खतरा उत्पन्न होने लगा। अंग्रेजों के साथ-साथ अंग्रेजों द्वारा नियुक्त किये गए कुछ अन्य बाहरी लोगों ने भी इन जनजातियों पर अत्याचार करना प्रारंभ किया। ब्रिटिश सरकार की गैर आदिवासी साहूकारों जमींदारों तथा व्यापारियों पर विशेष कृपा थी, जिससे ऐसे लोगो ने भी जनजातीय लोगों पर खुलकर अत्याचार किया और उनका शोषण किया। बाहर से बुलाए गए लोगों के दम पर उनकी जमीनों पर कब्जा किया जाने लगा और उन्हें भारी मात्रा में कर भी लाद दिया गया। इतना अधिक कर न चुका पाने

के कारण जनजातियों के कई सदस्य बंधुआ मजदूरी करने पर विवश हो गए। वहाँ भी उनके साथ अन्याय पूर्ण व्यवहार जारी रहा। गाँव के कुछ पदाधिकारियों ने मुंडा और मानकी के साथ अत्यंत दुर्व्यवहार किया। यहाँ तक कि उनकी महिलाओं के साथ भी अभद्रता तथा उनका बलात्कार करना आम बात बन चुकी थी। इन सारी बातों ने कोल जनजाति को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। इसलिए यदि यह कहा जाए कि कोल विद्रोह की पृष्ठभूमि में भी भूमि संबंधी असंतोष के साथ-साथ जनजातीय लोगों तथा उनकी महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार की घटनाएं ही शामिल थी, तो गलत नहीं होगा। कोल जनजाति के लोग जमींदारों के अत्याचार से पहले से ही पीड़ित थे, ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद उन्हें यह उम्मीद जगी थी कि जमींदारों के अत्याचारों से उन्हें मुक्ति मिलेगी। किंतु जल्द ही उनके विश्वास ने दम तोड़ दिया। सिंहभूमि की कोल जातियाँ भी अंग्रेजों से अनेकों अपेक्षाएँ पाल रखी थी, किंतु जल्दी ही उनकी आशाओं पर भी पानी फिर गया। अंग्रेज शासन द्वारा सिंहभूमि के निवासियों पर नाना प्रकार के कर लगा दिए जाने के कारण उनकी स्थिति दिनोंदिन अत्यंत खराब होती चली गई। ब्रिटिश सरकार का अत्याचार भी दिनों दिन बढ़ता जा रहा था। कर वसूलने के लिए उन्होंने बदमाश किस्म के ठेकेदारों की नियुक्ति कर दी, जो कठोरता के साथ भय उत्पन्न करके कर वसूलने का काम करने लगे। उनके अमानवीय कृत्यों से संपूर्ण कोल समाज में विद्रोह की आग भड़क उठी। इस विद्रोह में हो जनजाति के लोगों ने भी सहयोग किया। इस विद्रोह के कारण की विवेचना करते हुए ओ मैली ने लिखा है- "1831 ई० में हो छोटा नागपुर के मुण्डा विद्रोह में जिसे, साधारणत: कोल विद्रोह कहा जाता है, शामिल हुए। मुण्डों के अन्दर बहुत दिनों से असन्तोष की आग सुलग रही थी जिसका कारण उनके मुखियों को दबाकर उनके गाँवों को विदेशी ागरमरों को सौंप देने का था। इस विस्फोट का कारण वस्तुत: सिंहभूमि के और उसके उत्तर के निवासी मुण्डों के साथ किया गया व्यवहार था।"[2]

1831-32 ई० में हुए इस विद्रोह में कोल लोगों ने खुद को बुद्धो भगत के नेतृत्व में संगठित कर अंग्रेजों और साहूकारों के खिलाफ खुला विद्रोह किया। उनके द्वारा कई बाहरी लोगों के घरों को जला दिया गया और कई को मौत के घाट उतार दिया गया। यह विद्रोह लगातार 2 वर्षों तक अनवरत जारी रहा। अंग्रेज सरकार द्व ारा विद्रोह को दबाने का पूरा प्रयास किया गया जिसके लिए कोलकाता और बनारस से सेना बुलानी पड़ी। जनजातियों के पास आधुनिक हथियारों की कमी होने के नाते वह अंग्रेज सेना का सामना न कर सके और इस विद्रोह को बेरहमी से कुचल दिया गया।

संथाल विद्रोह को संथाल हूल के नाम से भी जाना जाता है। बिहार प्रांत में यह जनजाति काफी अधिक मात्रा में निवास करती है। देश के अन्य भागों जैसे कटक, मानभूम, धलभूम, छोटानागपुर, पलामू, हजारीबाग, भागलपुर, बाकूड़ा, मुर्शिदाबाद तथा पूर्णिया जैसे क्षेत्रों में भी संथाल जनजाति बहुतायत मात्रा में पाई जाती है। पश्चिम बंगाल में भी इनकी खासी आबादी है यह स्वभाव से अत्यधिक मेहनती होते हैं। इन्होंने जंगलों को काटकर खेती योग्य बना डाला था और उसी से उनका जीवन निर्वाह हो रहा था। अंग्रेजों की दृष्टि उनकी भूमि पर पड़ी तो वह उन्हें हथियाने का कुचक्र रचने लगे। जमींदारों की मदद से ब्रिटिश सरकार जनजातियों को उनकी जमीन से बेदखल कर रही थी। बंगाल प्रेसीडेंसी में जमींदारी प्रथा शुरू होने के बाद ब्रिटिश सरकार तथा जमींदारों ने मिलकर संथालों की पारंपरिक भूमि पर अपना दावा करना प्रारंभ कर दिया और उनका बेरहमी

से शोषण किया जाने लगा। उनको दिए गए कर्ज पर अत्यधिक ब्याज दरें वसूली जाने लगी। कर्ज को न चुका पाने के कारण आदिवासियों को जमींदारों के यहां बंधुआ मजदूरी करने के लिए विवश होना पड़ा। इन शोषकों के आगमन से पहले संथाल जनजाति पूरी तरह से खुशहाल तथा आत्मनिर्भर थी, किंतु स्थानीय जमींदारों तथा बाहरी व्यापारियों, जिन्हें साहूकार के नाम से जाना जाता है, के आगमन से उनका जीना हराम हो गया। प्रो0 वी०एस० उपाध्याय तथा डॉ० जी० पांडे संथालों के आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करते हुए लिखते हैं- "सन 1851 ई. तक संथाल परगना में संथालों के 1473 ई० गाँव बस चुके थे। धीरे-धीरे उनके क्षेत्र में शोंषकों का आगमन हुआ। यह शोषक बंगाली जमींदार तथा बादरी व्यापारी एवं व्यवसायी, थे जिन्हें महाजन या साहूकार के नाम से जाना जाता है, टिकुओं के आगमन से पहले संथाल गांवों की अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर थी।"[3]

संथाल जनजातियों से जबरन वसूली होने लगी और उन्हें उनकी संपत्ति से वंचित किया जाने लगा। उनके साथ दुर्व्यवहार और हिंसा करना तो आम बात हो गई थी। व्यापारिक सौदों में धोखाधड़ी करके उनसे अधिक धन वसूलने का प्रयास किया जाता और उसे चुकता न कर पाने पर उनकी फसलों को रौंद दिया जाता। इन अत्याचारों से परेशान होकर सन् 1855 में वर्तमान झारखंड, ओडिशा और पश्चिम बंगाल के क्षेत्रों में संथाल जनजाति ने अंग्रेजों के साथ-साथ जमींदारी प्रथा के खिलाफ विद्रोह कर दिया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक भारत का मुख्य संग्राम संस्थानों के आंदोलन का चित्रण करते हुए अयोध्या सिंह लिखते हैं- "संथाल विद्रोह के पीछे थी जमीन पर एक छत्र अधिकार की स्थापना की आकांक्षा और उसके साथ आ मिली थी संथालियों की स्वाधीनता की स्पृहा जिसके कारण उन्होंने नारा बुलंद किया था : स्वयं अपने दलपति के अधीन स्वाधीन संथाल राज्य स्थापित करें।"[4]

ब्रिटिश सरकार पूरी तरह जमींदारों का पक्ष लेती थी। इसी कारण जनजातियों की कोई सुनने वाला नहीं था विवश होकर जून 1855 ई० में दो भाइयों सिदो और कान्हा मुर्मू के नेतृत्व में तकरीबन 10000 संथालों ने सशस्त्र विद्रोह प्रारंभ कर दिया जिसका मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश शासन को समाप्त कर संथाल राज्य की स्थापना था। इस प्रकार प्रमुख रूप से राजमहल तथा भागलपुर के बीच अवस्थित दमन इकोह नामक क्षेत्र में रहने वाले संथालों ने बाहरी लोगों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। उन्होंने कई जमींदारों के साथ साथ साहूकारों की भी हत्या कर दी और विद्रोह अत्यंत विभत्स स्थिति में पहुँच गया। यह विद्रोह 1871 तक जारी रहा। यद्यपि इस विद्रोह को भी अंग्रेजी प्रशासन ने शक्ति के साथ कुचल दिया। 3000 से अधिक संथालों को बंदी बनाकर जेल भेज दिया गया और उन पर अनेकों अत्याचार किए गए। इस विद्रोह में तकरीबन 20000 संथालों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

'खोंड विद्रोह' अंग्रेजों के विरुद्ध किया जाने वाला एक प्रमुख जनजातीय विद्रोह था। खोंड जनजाति प्रमुख रूप से बंगाल से तमिलनाडु के साथ-साथ मध्य प्रांतों के पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करती थी। वैसे तो इस जनजाति की सर्वाधिक आबादी उड़ीसा राज्य में पाई जाती है। झारखंड राज्य के संथाल परगना में भी इस जनजाति की खासी आबादी निवास करती है। इन्हें द्रविड़ प्रजाति समूह के अंतर्गत शामिल किया जाता है। इनकी मूल भाषा कुई है जिसे कोंधी भी कहा जाता है। इसीलिए इस जनजाति का एक नाम कौंध भी है। कुई

भाषा का लेखन ओड़िया लिपि में की जाती है। इस जनजाति की गणना लघु जनजाति के रूप में की जाती है। इनका निवास पहाड़ी क्षेत्र में होने के कारण यह क्षेत्र अत्यंत दुर्गम था, जिसके कारण कोई भी उसका भेदन आसानी से नहीं कर सकता था। अंग्रेजों से आने से पहले यह जनजातियां पूरी तरह से स्वतंत्र तथा निर्वाध जीवन यापन कर रही थी। इन जनजातियों में एक महत्वपूर्ण प्रथा का प्रचलन था जिसमें नरबलि दिए जाने का विधान था। यद्यपि यह प्रथा पूरी तरह से अमानवीय थी किंतु फिर भी इनकी आस्था का केंद्र थी। लॉर्ड हार्डिंग के नेतृत्व वाली ब्रिटिश सरकार ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया जिसके कारण खोंड जनजातियों में विद्रोह की परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। चक्र बिसोई के नेतृत्व में संगठित होकर सन् 1837 तथा 1856 ई० के दौरान इन जनजातियों ने खुला विद्रोह कर दिया। ब्रिटिश सरकार द्वारा नए-नए कर लगाए जाने के कारण भी यह विद्रोह अधिक व्यापक होता चला गया। सरकार द्वारा मारिया एजेंसी का गठन किए जाने पर इस जनजाति के लोगों ने उसके विरुद्ध सशस्त्र अभियान प्रारंभ कर दिया। संघर्ष के दौरान चक्र बिश्नोई अचानक लापता हो गया जिसके कारण राधाकृष्ण दंडसेना नाम के व्यक्ति ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया। सन् 1857 ई० में राधाकृष्ण दंडसेना को भी गिरफ्तार कर लिया गया और विद्रोह के आरोप में ग्रांसी पर लटका दिया गया। नेतृत्व के अभाव के कारण यह आंदोलन स्थगित हो गया, किंतु 1914 ई० में इसका पुनः प्रारंभ हो गया। राधाकृष्ण दंडसेना के नेतृत्व वाले संघर्ष को 'सवार आंदोलन' भी कहा जाता है।

मुंडा विद्रोह से हमारा तात्पर्य बिरसा मुण्डा के द्वारा किये गए विद्रोह से है। बिरसा मुंडा को झारखंड की जनजातियों में गक्कड़ादर के रूप में माना जाता है। यह विद्रोह ब्रिटिश शासन के खिलाफ देश जनजातियों का सर्वाधिक सशक्त विद्रोह माना जाता है। मुंडा जनजाति छोटानागपुर क्षेत्र एवं इसके आसपास निवास करती थी। सन् 1789 से लेकर 1832 के मध्य मुंडा जनजाति के क्रांतिवीरों ने ब्रिटिश सरकार द्वारा किए जा रहे उत्पीड़न के खिलाफ तथा जमींदारों एवं साहूकारों के विरुद्ध सात बार विद्रोह किया। इस विद्रोह को 'उलगुलान विद्रोह' भी कहा जाता है, जिसका तात्पर्य 'महान हंगामा' है। बिरसा मुंडा को जनजातियों में 'मसीहा' का दर्जा प्राप्त था। उसने इस विद्रोह का नेतृत्व किया। मुंडा जनजातियों में भूमि की संयुक्त जोत के रूप में खूंटकट्टी प्रणाली लागू थी जिसे अंग्रेजी सरकार ने बदलकर जमीन दारी प्रणाली लागू कर दी। इस प्रणाली ने एक तरफ जहाँ जमींदारों को शोषण का अवसर प्रदान किया वही आदिवासियों को इसका जबरदस्त नुकसान उठाना पड़ा। इस नीति से आदिवासियों में बेरोजगारी उत्पन्न हो गई और वह सेठ साहूकारों के कर्ज के दबाव में उलझ गए। आंदोलन का मुख्य लक्ष्य बाहरी लोगों अर्थात 'दिकुओं' को जनजातीय धरती से बेदखल करना था। इस आंदोलन को सरदारिलादाई, या 'नेताओं का युद्ध' के नाम से भी जाना जाता था। तत्कालीन भारत में ईसाइयों का भारतीयों को ईसाई बनाने का मिशन चल रहा था। इस मिशन में जनजातीय लोगों पर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा था तथा उन्हें प्रलोभन देकर ईसाई बनाया जा रहा था। इस मिशन को 'इवेंजेलिकल लूथरन मिशन' के नाम से जाना जाता है। उज्जवल भविष्य की आशा में कुछ मुंडा लोग भी 1857 ई० के बाद इस मिशन में शामिल हो गए। लेकिन कुछ ही समय पश्चात उन्हें यह आभास होने लगा कि इस मिशन में शामिल होने से उन्हें कोई स्थाई लाभ प्राप्त नहीं होने वाला है। इसलिए इन लोगों ने इस मिशन के खिलाफ विद्रोह कर दिया, जिसके कारण ईसाई मिशनरी के साथ इनके संबंध बहुत अधिक शत्रुतापूर्ण हो गए। सन 1867 ई. में अंग्रेज सरकार द्वारा झूम कृषि पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा नए वन कानून बना दिए गये। इन सब

कारणों ने ही मुंडा विद्रोह को जन्म दिया। सशक्त नेतृत्व के अभाव में उनके आंदोलन में धार उत्पन्न न हो सकी। आदिवासी आंदोलन को धार 1893–94 ई० के दौरान तब प्राप्त हुआ जब बिरसा नामक व्यक्ति ने इनका नेतृत्व किया। बिरसा मुंडा का व्यक्तित्व अत्यंत करिश्माई था जिसके कारण सफलता प्राप्त की उम्मीद बढ़ गई। बिरसा मुंडा ने अपने हजारों जनजातीय साथियों को संगठित कर 1894 ई० में विद्रोह की घोषणा कर दी। लोगों को साहूकारों के कर्ज चुकाने से मना कर दिया गया। वन विभाग द्वारा गाँव की ऊसर जमीन को अधिग्रहित किए जाने पर उसके विरुद्ध चलाये जाने वाले अभियान में भी भाग लिया। कहा जाता है कि ईसाई धर्म का परित्याग करने के बाद बिरसा मुंडा की मुलाकात आनंद पांडे नाम के एक वैष्णव साधु से हुई जिसकी प्रेरणा से उसने अपने सारे दुर्गुणों को छोड़कर यज्ञोपवीत धारण कर लिया और गौ हत्या के विरुद्ध प्रचार में जुट गया। अब वह एक धार्मिक व्यक्ति बन गया था। उसका जीवन धार्मिक क्रिया कलाप में व्यस्त रहने लगा था। इसके साथ वह एक प्रसिद्ध धार्मिक उपदेशक बन गया था। उसके आचरण के कारण जनजातियों में उसे 'ईश्वर के दूत' के रूप में स्वीकार किया जाने लगा था। कहते है कि बिरसा को भगवान विष्णु के भी दर्शन प्राप्त हुए थे। उसके अनुयायियों में यह बात फैल गई कि 1895 ई० में साक्षात ईश्वर ने उसके हृदय में प्रवेश कर लिया। इस प्रकार सन 1895 ई. में बिरसा को परमेश्वर के दर्शन होने तथा दिव्य शक्ति प्राप्त होने का दावा किया गया। उसकी ख्याति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी और लोग बिरसा का उपदेश सुनने के लिए एकत्रित होने लगे। सन् 1895 ई० में अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध विद्रोह करने के आरोप में बिरसा को गिरफ्तार कर लिया गया और दो साल के लिए जेल में डाल दिया गया। 2 वर्ष पश्चात ब्रिटेन की महारानी की हीरक जयंती समारोह के अवसर पर उसे जेल से रिहा कर दिया गया। जेल से निकलने के पश्चात बिरसा ने आंदोलन को पुनः नए सिरे से खड़ा किया और सन् 1899 ई० में जमींदारों तथा सरकार के खिलाफ और भी सशक्त विद्रोह प्रारंभ कर दिया। मुंडाओं द्वारा पुलिस स्टेशनों, जमींदारों के घरों, चर्चों और ब्रिटिश संपत्ति को आग के हवाले कर दिया गया। इस बात से परेशान होकर ब्रिटिश सेना ने भी बिरसा मुंडा की सेना पर आक्रमण कर दिया। 9 जनवरी, सन् 1900 को झारखण्ड के डोंबारी पर्वत पर अंग्रेजी सेना तथा बिरसा मुंडा की सेना के मध्य भीषण मुठभेड़ हुई जिसमें बिरसा मुंडा को पकड़ लिया गया तथा उसे जेल में डाल दिया गया। इसी बीच जेल में हैजा नामक बीमारी फैल गई। बिरसा मुंडा हैजा बीमारी का शिकार हो गया और मात्र 25 वर्ष की अवस्था में ही सन 1902 में उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार अंग्रेज सरकार द्वारा मुंडा विद्रोह को भले ही दबा दिया गया किंतु मुंडा विद्रोह के प्रभाव के कारण ही सन् 1908 ईस्वी में छोटा नागपुर टेंसी एक्ट (CNT) पारित करना पड़ा। इस कानून के द्वारा खूण्टकट्टी प्रणाली को पुनः स्थापित कर दिया गया तथा जनजातियों के अधिकारों को मान्यता दे दी गयी। जबरन बेगारी पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया, साथ ही जनजातीय जमीनों का गैर-जनजातीय लोगों को स्थानंतरण करने पर भी रोक लगा दी गयी।

कोया विद्रोह आंध्र प्रदेश के पूर्वी गोदावरी क्षेत्र में निवास करने वाली कोया और कोंडा सोरा जनजातियों द्वारा किया गया। इस विद्रोह का प्रमुख केंद्र चोडवरम् का रंपा प्रदेश था। इस विद्रोह का प्रभाव उड़ीसा के मलकागिरी क्षेत्र पर भी व्यापक रूप से पड़ा। यद्यपि विद्रोह की शुरुआत तो 1803 में ही हो गई थी, जिसमें पूर्वी गोदावरी ट्रैक जो अब आंध्र प्रदेश में अवस्थित है, के कोयाओं ने खोंडा सारा कमांडरों की सहायता से, 1803, 1840, 1845, 1858, 1861 और 1862 ई० में विद्रोह किया था। नेतृत्व के अभाव के कारण कुछ

दिनों तक यह विद्रोह शांत रहा किंतु 1879–1880 में अचानक से फिर उठ खड़ा हुआ। अचानक उठ खड़े हुए इस विद्रोह का नेतृत्व टक्कमा सोरा ने किया। इस विद्रोह का तात्कालिक कारण पुलिस तथा साहूकारों द्व ारा जनजातियों पर किया जाने वाला अत्याचार तथा नई सीमाओं और वन प्रदेशों पर जनजातियों को उनके ऐतिहासिक अधिकारों से वंचित किया जाना था। इसके साथ ताड़ी उत्पादन पर अंग्रेज सरकार द्वारा कर लगा दिया गया, जिसके विरुद्ध जनजातियों ने विद्रोह कर दिया। 1879–80 ई० में कोया विद्रोह का नेतृत्व टोम्मा सोरा द्वारा किया गया था किंतु सन् 1886 में टोम्मा सोरा के निधन के बाद कोया विद्रोहियों ने राजा अनंतय्यार के नेतृत्व में संघर्ष को आगे बढ़ाया। ब्रिटिश सरकार के तख्ता पलट के लिए उनके द्वारा रामसंडु (राम की सेना) नाम के संगठन का निर्माण किया गया। आदिवासियों ने जयपुर के तत्कालीन शासक से भी अंग्रेजी राज्य को पलटने के लिए सहायता मांगी। इस विद्रोह के दमन के लिए अंग्रेज सरकार ने व्यापक योजना बनायी और मद्रास इन्फैन्ट्री के छः रेजिमेंट के सहयोग से इस जन विद्रोह को कुचल दिया गया।

संदर्भ

1. बीएन सिंह, जन्मेजय सिंह, भारत में सामाजिक आंदोलन, पृष्ठ–170, संस्करण–2016, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर
2. वही, पृष्ठ–149
3. वही, पृष्ठ–143
4. वही, पृष्ठ–144

परिवार कल्याण का क्षेत्रीय स्वरूप एवं ग्रामीण विकास लालगंज तहसील, जनपद-आजमगढ़

डॉ० दिग्विजय सिंह
(असिस्टेन्ट प्रोफेसर), भूगोल विभाग,
कूबा पी०जी० कालेज दरियापुर नेवादा आजमगढ़

परिवार कल्याण कार्यक्रम हमारी प्रगतिशील कल्याण कारी योजनाओं का अनिवार्य अंग है और यह पूर्णत: स्वैक्षिक कार्यक्रम है। इसे समग्र विकास निति जिसमें स्वास्थ, माँ और बच्चे का देखभाल, परिवार कल्याण, महिलाओं के अधिकार और पोषाहार आते है के अनिवार्य अंग के रूप में कार्यान्वित किया जा रहा है। इस नीति के विशेष पहलू है। विविध प्रचार माध्यमों और व्यक्तिगत संरचना के रचनात्मक उपयोग से लोगों में जागरूकता पैदा करने के प्रयास तेज करना, महिला साक्षरता में तेजी से बढ़ोत्तरी के लिए सुविधाओं का विकास करना, स्कूलों और कालेजों में साथ ही स्कूलों में न जाने वाले युवाओं को जनसंख्या के बारे में शिक्षा और जानकारी देना लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों की सहायता और समर्थन प्राप्त करना, अन्य सम्बद्ध मंत्रालय और विभागों से उचित सम्पर्क बनाना,परिवार नियोजन अपनाने वाले व्यक्तियों और राज्य सरकारों को प्रोत्साहन देना तथा सभी स्तरों पर इस परिवार कल्याण कार्यक्रम की प्रगति की देख-रेख करना है।

लालगंज तहसील में परिवार कल्याण का क्षेत्रीय स्वरूप:-

किसी भी क्षेत्र की प्रगति के लिए वहां की जनता का शारीरिक व मानसिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट होना आवश्यक है क्योंकि मानव समाज का आधार स्वयं मानव है तथा अन्य सभी आधार उसी पर निर्भर करते हैं यदि देश की मावन शक्ति दुर्बल होगी तो देश कमजोर होगा तथा उसका भविष्य भी अन्धकार मय रहेगा। अत: हर दृष्टि से जनता का स्वास्थ होना देश एवं समाज के लिए आवश्यक है। यद्यपि कि लालगंज तहसील में स्वत्रतंत्रता प्राप्ति के बाद से परिवार कल्याण की सुविधाएं बढ़ी है फिर भी यहाँ के निवासियों का स्वास्थ स्तर देश के विकसित क्षेत्रो के नागरिको की तुलना में बहुत गिरा हुआ है। यही कारण कि क्षेत्र में लोगों की औसत आयु कम है और जन्म और मृत्यु दर दोनों ही अधिक है। शिशु एवं मातृ मृत्यु दर तो बहुत ऊँची है। महामारियों एवं बिमारियों का प्रकोप बराकर बना रहता है। बीमारियों का सीधा प्रभाव तहसील के जनसंख्या के स्वास्थ एवं आर्थिक विकास पर पड़ता है जैसा कि जाथर एवं बेरी बताया है कि बिमारियां देश के हृष्ट-पुष्ट एवं शक्तिमान लोगों को मारकर आर्थिक शक्ति को नष्ट करती है जिससे काम करने वालों की संख्या घट जाती है। देश के ग्रामीण क्षेत्रों में 1 अप्रैल 1986 तक लगभग 8.496 प्राथमिक स्वास्थ केन्द्र और 88.950 उपकेन्द्र कार्यरत थे जिनके द्वारा देश वासियों को स्वास्थ की सुविधाएँ प्रदान की जा रही हैं किन्तु लालगंज

तहसील में 2009 ई.में 4 प्राथमिक स्वास्थ केन्द्र, 4 उपकेन्द्र एवं 103 मिडवाइफ प्रशिक्षित दाई केन्द्रों द्वारा स्वास्थ सुविधाएँ प्रदान की जाती है।

लालगंज तहसील में परिवार नियोजन के प्रति दृष्टिकोण :-

अध्ययन क्षेत्र मे वर्तमान समय में परिवार नियोजन के प्रति जागरूक है। जिसकी सम्पुष्टि ग्राम सर्वेक्षण से प्राप्त आकड़ों से होती है। सरकारी प्रचार-प्रसार के बाद ही लालगंज तहसील के 55 प्रतिशत अहर्य दम्पत्ति परिवार नियोजन नहीं अपनाते है। इसका कारण भविष्य के प्रति लोगों की चिंता एवं सामाजिक, धार्मिक रूढ़िवादिता है। देश में लगाया गया आपातकाल भी परिवार नियोजन के प्रचार प्रसार के लिए कलंक साबित हो गया था। इसका मुख्य कारण इस अवधि में लोगों का प्रताड़ित कर जबरदस्ती परिवार नियोजन के लिए बाध्या किया जाना था।

लालगंज तहसील के विभिन्न विकास खण्डों में परिवार नियोजन अपनाने वालों की संख्या में भिन्नता पायी जाती है। ठेकमा एवं लालगंज विकास खण्डों में क्रमशः 65.00,62.00 प्रतिशत दम्पत्ति परिवार नियोजन अपनाते है जो तहसील के औसत से अधिक है। पल्हना एवं तरवां विकास खण्डों में क्रमशः 60.00,60.30 प्रतिशत दाम्पत्ति ही परिवार नियोजन के पक्ष में है जो तहसील के औसत से कम है।

लालगंज तहसील में परिवार नियोजन की ग्राह्यता एवं प्रयुक्त विधियां :-

अध्ययन क्षेत्र में 45.00 प्रतिशत दम्पत्ति परिवार नियोजन अपनाते है लेकिन परिवार नियोजन विधियों के प्रयोग में समानता नहीं मिलती है जो तालिका संख्या 4.3 में अंकित है। अध्ययन क्षेत्र के जो 45.00 प्रतिशत दम्पत्ति परिवार नियोजन अपनाते है उनमें से 28.05 प्रतिशत आत्मसंयम द्वारा परिवार नियोजन करते है जो किसी भी दशा में परिवार नियोजन का विश्वसनीय साधन नहीं है। तहसील के विभिन्न विकास खण्डों में भी 30.47 प्रतिशत ठेकमा में 30.37 प्रतिशत लालगंज में 37.31 प्रतिशत पल्हना में एवं 13.08 प्रतिशत तरवां में आत्मसंयम द्वारा परिवार नियोजित किये हुए हैं। परिवार नियोजन का विश्वसनीय साधन पुरूष एवं स्त्री नसबन्दी है

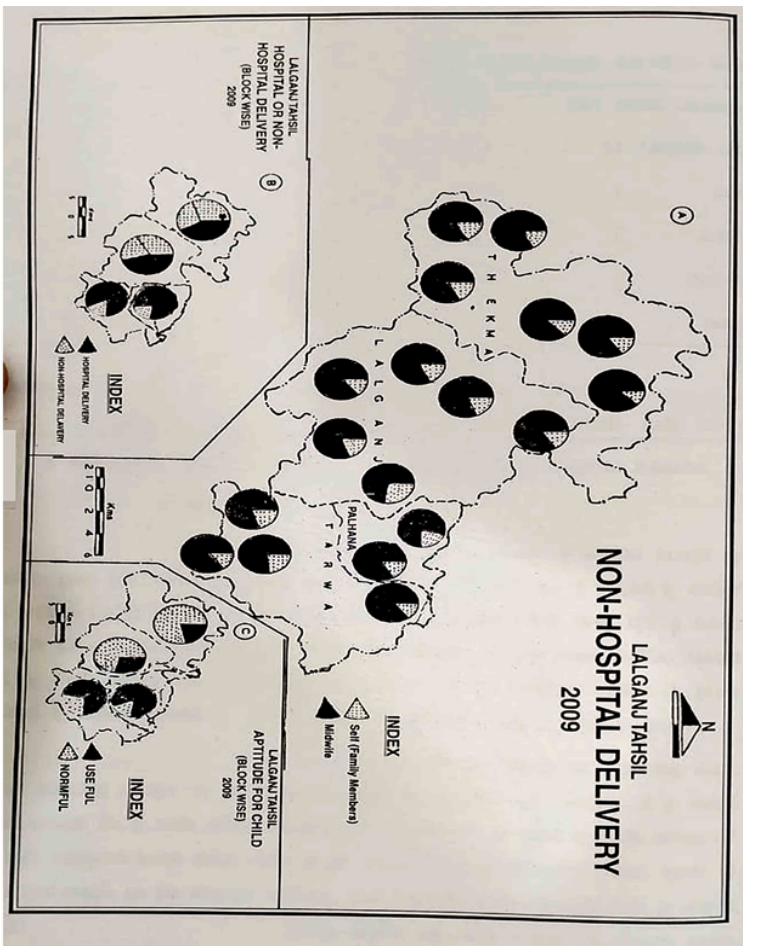

वर्तमान वैज्ञानिक युग में दूरबीन विधि द्वारा स्त्री नसबन्दी सरल हो जाने के कारण इस विधि का प्रयोग तहसील के सभी विकास खण्डों में अधिक हुआ है ठेकमा में 38.00 प्रतिशत, लालगंज में 35.92 प्रतिशत, पल्हना में 36.83 प्रतिशत एवं तरवां में 49.11 प्रतिशत, स्त्रियाँ विधि से परिवार नियोजन करायी हुई हैं पुरूष प्रधान समाज मे ठेकमा में 2.27 प्रतिशत, लालगंज में 2.11 प्रतिशत, पल्हना में 2.98 प्रतिशत एवं तरवां में 5.33 प्रतिशत, पुरूषों ने ही अपनी नसबन्दी करायी है। परिवार नियोजन के अन्य विधियां मंहगी एवं सर्वसुलभ न होने के कारण प्रयोग में नहीं के बराबर हैं। निरोध के सार्वजनिक वितरण के कारण इसका प्रयोग बढ़ा है। स्त्री और पुरूष समाज रूपी का गाड़ी के दो पहिए है इनमें एक बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज की निरन्तरता के लिए प्रजजन कार्य भी आवश्यक है। स्त्री के गर्भकाल का समय होता है उसे मातृत्व के नाम से जाना जाता है। इसी मातृत्व काल में माँ की देखभाल का विशेष प्रबन्ध होना चाहिए पर अपने देश में मातृत्व काल को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। इससे शिशु के जन्म के समय ही माताएँ रोगग्रस्ता हो

जाती है तथा आने वाली सन्तान विभन्न रोगों तथा डिप्थीरिया, कालीखांसी, टिटिनेस, पोलियो आादि भयानक रोगों से पीड़ित हो जाती है। अधर कुछ गत वर्षों में सरकार मात्र शिशु कल्याण के विकास के लिए अधिक ध्यान दे रही है। बालकों क स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर पुष्टाहार, बालाहार एवं आंगनबाड़ी जैसे योजनाएँ चला रही है। परिणाम स्वरूप आज लालगंज तहसील में अधिकांश व्यक्ति में परिवार में बच्चों की अधिक संख्या को हानिकारक मानने लगे है तथा दो सन्तान पुत्र होने पर परिवार नियोजन के पक्ष में आ गये है।

ग्रामीण विकासः-

जनसंख्या विस्फोट से आज विश्व में अक्रांत हैं। प्रायः सभी विकासशील राष्ट्रों में तीव्र जनसंख्या वृद्धि आज की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या है आधुनिक वैज्ञानिक एवं भूगोलवेत्ता संतुलित आहार के खोज में निकलने में व्यस्त है यह तथ्य आज मौखिक न रहकर व्यवहारिक बन गया है। विश्व की अधिकांश जनसंख्या क्षुधा पीड़ित, वस्त्र एवं आवास विहिन रहकर निम्न कोटि का जीवन यापन कर रही है। लालगंज तहसील में आज भी उद्योगों में कार्यरत जनसंख्या का प्रतिशत बहुत कम है इसके विभिन्न विकास खण्डों की स्थिति तो और भी सोचनीय है। वर्ष 1961 में ठेकमा विकास खण्ड में 8.64 प्रतिशत, लालगंज में 18.28 प्रतिशत, पल्हना में 4.63 प्रतिशत एवं तरवां में 8.75 प्रतिशत लोग ही पारिवारिक उद्योगों एवं अन्य कार्यों में कार्यरत लगे थे। इसी प्रकार 2001 ई0 में ठेकमा में 25.30 प्रतिशत लालगंज में 20.30 प्रतिशत पल्हना में 24.6 प्रतिशत एवं तरवाँ में .30 प्रतिशत लोग पारिवारिक उद्योगों में कार्यों में कार्यरत रहे। अतहसील में जैसे -जैसे आर्थिक विकास होता जा रहा है वैसे-वैसे कृषि कार्य की तरफ से लोगों की उदासीनता भी बढ़ती जा रही है अब बढ़ी हुई जनसंख्या को कृष्योत्तर कार्यों में ही आर्थिक लाभ मिल पा रहा है। ग्रामीण विकास के लिए औद्योगिक विकास लोगों की आर्थिक स्वत्रंता के लिए परम आवश्यक है। तहसील में ग्रामीण विकास के लिए शिक्षित बेरोजगार युवक - युवतियों को उद्योग, सेवा एवं व्यापार द्वारा स्वरोजगार के उपाय उच्च प्राथमिकता पर सुलभ कराना आवश्यक समझा गया है। इस योजना के अर्न्तगत जिला उद्योग केन्द्रों की सहायता से बैंकों द्वारा प्रति उद्यमी को 50 हजार रू० तक अधिकतम् मिश्र-ऋण मिलने की योजना बनायी गयी है इसमे 25 प्रतिशत सरकारी अनुदान की भी व्यवस्था है। वर्तमान केन्द्रीय सरकार ने अब ऋण की सीमा 75 हजार रूपये तक करने का प्रस्ताव किया है।

सन्दर्भ

1. Maciver and page, society Hopkins Press, Baltimor, 1950, p.572.
2. H.N kaul, 'Popution Control', Atma ram & Sons, Delhi 6, 1971.
3. Glass , D.V., (Ed) 'Introduction to malthus', Watts & Co., London ,1993, p. 39.
4. Roy , T.K . and Rama Rao , G. 'Introdution to Enaluation of Demographic Impact of family Planning programme', Himalaya Publishing House Bombay,1985. P.7
5. बधेल किरण, 'जनांकिकी एवं भारत में जनस्वास्थ' पुष्पराज प्रकाशन, रींवा (म.प्र.) 1987, पृ. 484।

6. खरे वी.सी., सिन्हा, वी.सी. 'सामाजिक जनांकिकी एवं भारत में जनस्वास्थ', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1985,, पृ. 199–200।
7. भारत, सन्दर्भ ग्रन्थ, 1984, पृ. 168।
8. संख्यिकीय पत्रिका, जनपद आजमगढ़, 2009, पृ. 80–81।
9. प्राथमिक जनगणना, सारसंग्रह पुस्तिका, जनपद आजमगढ़ 2001 भाग 10ब, पृ. 209।

अवध क्षेत्र के भौगोलिक पृष्ठभूमि पर अवधी भाषा का प्रभाव

डॉ० कौशल किशोर मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर – भूगोल विभाग
लाल विजयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय
टिकरी अमेठी

सारांश :-

प्रस्तुत पत्र में भारत के अवध क्षेत्र पर अवधी भाषा के प्रभाव को दर्शाया गया है जिसके कारण सामाजिक समरसता का अटूट सम्बन्ध व्याप्त है। अवधी भाषा का भौगोलिक विस्तार के साथ इसका अन्य भाषाओं से सम्बन्ध का भी मूल्यांकन किया गया है। अवधी की उत्पत्ति का पता भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे प्राचीन भाषा अर्थात बृजभाषा से लगाया जा सकता है। पूर्वी प्रांतों की प्रसिद्ध भाषा मगही भी अवधी को ढ़ालती है अर्थात अवधी को आधुनिक हिंदी के पिता के रूप में पहचान मिली है। इंडो-आर्यन भाषाओं के परिवार में अवधी भारतीयों के बीच अत्यधिक लोकप्रिय है जो कि मुख्यत: उत्तर-प्रदेश में बोली जाती है जिसे भौगोलिक रूप से अवध प्रांत का नाम दिया गया है। अवध प्रांत के अतिरिक्त पूर्वी भारत के कुछ हिन्दी भाषी लोग इसे "कोसली" कहते है। अन्य राज्यों में जहाँ यह बोली जाती है उनमें अवध के दक्षिणी भाग में स्थित निचला दो आब क्षेत्र शामिल है। हिन्दी का भारत में मानक भाषा का दर्जा प्राप्त होने के पश्चात अवधी ही सर्वाधिक लोकप्रिय बोली सुविचारित है। इस बोली भाषा का प्रभाव जनमानस के मस्तिष्क एवं कार्यशैली पर स्पष्ट देखा जा सकता है। अवधी भाषा की व्यापकता एवं प्रभाव का यथार्थ चित्रण किया गया है। जिसके पक्ष में अनेक विद्वानों का मत इसे प्रभावी बनाता है।

मुख्य शब्द :-अवधी, भाषा, भारतीय, उपमहाद्वीप, विद्वान, मूल्यांकन, लोकप्रिय, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, प्रादुर्भाव, सृष्टि, रामचरितमानस, अयोध्या, साहित्य, उल्लेखनीय, जनमानस, उत्कृष्ठ।

प्रस्तावना :-

भाषा और मनुष्य का सम्बन्ध सृष्टि के निर्माण काल से लेकर अनन्त रहने वाला है। मानव जीवन में भाषा एक अभिन्न अंग है जिसके बिना मानव निष्क्रिय है। सम्पूर्ण विश्व में यदि मानव का प्रभाव एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक व्यापक है तो उसके पीछे भाषा का ही योगदान है। सभी राष्ट्र, प्रांत, एवं ग्राम

अपनी अलग–अलग भाषायी विभिन्नता रखते है जो उनकी पहचान भी दर्शाते है। भारतेंदु हरिश्चंद का भी कथन है कि "चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर वाणी बीस कोस पर पगड़ी बदले, तीस कोस पर धानी।" इससे स्पष्ट होता है कि भौगोलिक बदलाव के साथ भाषा परिवर्तन आज भी चरितार्थ हो रहा है। भाषा के समागत से ही आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि गतिविधियाँ सहज रूप से संचालित होती है। विदेशों से व्यापार करने के लिए संप्रेषण के लिए आवश्यकतानुसार भाषा अपनानी पड़ती है। उपभोक्ता वस्तुओं की बिक्री और उनके प्रचार के लिए अपनाये जाने वाले साधनों में स्थानीय भाषा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। धार्मिक प्रचार प्रसार के लिए स्थानीय भाषा की मधुरता की छाप अलग ही प्रतीत होती है। जो कि बर्बस ही सभी मानवों के लिए आकर्षण का केन्द्र बिन्दु होता है। भारत में अवधी एवं ब्रज भाषा का धर्मगुरूओं द्वारा सर्वाधिक प्रयोग किये जाने वाला भाषा है जिसके परिणामस्वरूप भाषा रस का प्रादुर्भाव होता है। अमीर खुसरो जैसे प्रख्यात विद्वान जो व्यापक रूप से 'आधुनिक हिन्दी' के संस्थापक के रूप में प्रसिद्ध है, ने दिल्ली और उसके उपनगरों से प्रवास के बाद इसे लोकप्रिय बनाया। तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस ने घर–घर तक इसे व्यापक और सहज बनाया है। यह भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में व्यापक रूप से विसरित है।

अयोध्या से अवधी भाषा का सम्बन्ध :-

अवधी हिंदी क्षेत्र की एक उपभाषा है। यह उत्तर प्रदेश में अवध के जिलों में तथा ऩतेहपुर, मिरजापुर, जौनपुर आदि कुछ अन्य जिलों में भी बोली जाती है। इसके अतिरिक्त इसकी एक शाखा बघेलखण्ड में बघेली नाम से प्रचलित है। 'अवध' शब्द की व्युत्पत्ति "अयोध्या" से है। इस नाम का एक सूबा मुगलों के राज्यकाल में था। तुलसीदास ने अपने "मानस" में अयोध्या को अवधपुरी कहा है। इसी क्षेत्र का पुराना नाम कोसल भी था जिसकी महत्ता प्राचीन काल से चली आ रही है।

गठन की दृष्टि से हिंदी क्षेत्र की उपभाषाओं को दो वर्गो–पश्चिमी और पूर्वी में विभाजित किया जाता है। अवधी पूर्वी के अंतर्गत है। पूर्वी की दूसरी उपभाषा छत्तीसगढ़ी है। अवधी को कभी–कभी बैसवाड़ी भी कहते हैं। परंतु बैसवाड़ी अवधी की एक बोली मात्र है जो उन्नाव, लखनऊ रायबरेली और फतेहपुर जिले के कुछ भागों में बोली जाती है।

तुलसीदास कृत रामचरितमानस एवं मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत सहित कई प्रमुख ग्रंथ इसी बोली की देन है। इसका केन्द्र अयोध्या (फैजाबाद उ०प्र०) है। अयोध्या लखनऊ से 120 किमी की दूरी पर पूर्व में है। सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला', पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राममनोहर लोहिया, कुंवर नारायण की यह जन्मभूमि है। उमराव जान, आचार्य नरेंद्र देव की कर्मभूमि भी यही है। रमई काका की लोकवाणी भी इसी भाषा में गुंजरित हुई। हिंदी के रीतिकालीन कवि द्विजदेव के वंशज अयोध्या का राजपरिवार है। इसी परिवार की एक कन्या का विवाह दक्षिण कोरिया के राजघराने में अरसा पहले हुआ था। हिंदी के वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने अवधी भाषा और व्याकरण पर महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। फाह्यान ने भी अपने विवरण में अयोध्या का जिक्र किया है। आज की अवधी प्रवास और सांस्कृतिकरण के चलते खड़ी बोली और अंग्रेजी के अभाव में आ रही है।

अवधी के पश्चिम में पश्चिमी वर्ग की बुंदेली और ब्रज का, दक्षिण में छत्तीसगढ़ी का और पूर्व में भोजपुरी बोली का क्षेत्र है। इसके उत्तर में नेपाल की तराई है जिसमें था डिग्री आदि आदिवासियों की बस्तियाँ हैं जिनकी भाषा अवधी से बिलकुल अलग है।

सांस्कृतिक भू-दृश्य पर अवधी साहित्य का प्रभाव :-

प्राचीन अवधी साहित्य की दो शाखाएँ हैं : एक भक्तिकाव्य और दूसरी प्रेमाख्यान काव्य। भक्तिकाव्य में गोस्वामी तुलसीदास का "रामचरितमानस" (सं० 1631) अवधी साहित्य की प्रमुख कृति है। इसकी भाषा संस्कृत शब्दावली से भरी है। "रामचरितमानस" के अतिरिक्त तुलसीदास ने अन्य कई ग्रंथ अवधी में लिखे हैं। इसी भक्ति साहित्य के अंतर्गत लालदास का "अवधबिलास" आता है। इसकी रचना संवत् 1700 में हुई। इनके अतिरिक्त कई और भक्त कवियों ने रामभक्ति विषयक ग्रंथ लिखे। संत कवियों में बाबा मलूकदास भी अवधी क्षेत्र के थे। इनकी बानी का अधिकांश अवधी में है। इनके शिष्य बाबा मथुरादास की बानी भी अधिकतर अवधी में है। बाबा धरनीदास यद्यपि छपरा जिले के थे तथापि उनकी बानी अवधी में प्रकाशित हुई। कई अन्य संत कवियों ने भी अपने उपदेश के लिए अवधी को अपनाया है।

प्रेमाख्यान काव्य में सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ मलिक मुहम्मद जायसी रचित "पद्मावत" है जिसकी रचना "रामचरितमानस" से 34 वर्ष पूर्व हुई। दोहे चौपाई का जो क्रम "पद्मावत" में प्रायः वही "मानस" में मिलता है। प्रेमाख्यान काव्य में मुसलमान लेखकों ने सूफी मत का रहस्य प्रकट किया है। इस काव्य की परंपरा कई सौ वर्षों तक चलती रही। मंझन की "मधुमालती", उसमान की "चित्रावली", आलम की "माधवानल कामकंदला", नूरमुहम्मद की "इंद्रावती" और शेख निसार की "यूसुफ जुलेखा" इसी परंपरा की रचनाएँ हैं। शब्दावली की दृष्टि से ये रचनाएँ हिंदू कवियों के ग्रंथों से इस बात में भिन्न हैं कि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की उतनी प्रचुरता नहीं हैं। प्राचीन अवधी साहित्य में अधिकतर रचनाएँ देशप्रेम, समाजसुधार आदि विषयों पर और मुख्य रूप से व्यंग्यात्मक हैं। कवियों में प्रतापनारायण मिश्र, बलभद्र रीक्षित, "पढ़ीस", वंशीधर शुक्ल, चंद्रभूषण द्विवेदी "रमई काका" और शारदाप्रसाद "भुशुंडि" विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रबंध की परंपरा में "रामचरितमानस" के ढंग का एक महत्वपूर्ण आधुनिक ग्रंथ द्वारिका प्रसाद मिश्र का "कृष्णायन" है। इसकी भाषा और शैली "मानस" के ही समान है और ग्रंथकार ने कृष्णचरित प्रायः उसी तन्मयता और विस्तार से लिखा है जिस तन्मयता और विस्तार से तुलसीदास ने रामचरित अंकित किया है। मिश्र जी ने इस ग्रंथ की रचना द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि प्रबंध के लिए अवधी की प्रकृति आज भी वैसी ही उपादेय है जैसी तुलसीदास के समय में थी।

अवधी भाषी क्षेत्र का भौगोलिक विस्तार :-

अवधी प्रमुख रूप से भारत, नेपाल और फिजी में बोली जाती है। भारत में अवधी मुख्यतः उत्तर प्रदेश राज्य में बोली जाती है इसके अलावा मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और बिहार के कुछ जिलों में बोली जाती है। उत्तर प्रदेश के अवधी भाषी जिलों में मुख्यतः अमेठी, प्रतापगढ़, सुलतानपुर, रायबरेली, प्रयागराज, कौशाम्बी,

अम्बेडकर नगर, सिद्धार्थनगर, गोंडा, बलरामपुर, बाराबंकी, अयोध्या, लखनऊ, हरदोई, सीतापुर, लखीमपुर खीरी, बहराइच, बस्ती एवं फतेहपुर है। नेपाल के अवधी भाषी जिले कपिलवस्तु, बर्दिया, डॉग, रूपनदेही, नवलपरासी, कंचनपुर, बांके आदि तराई नेपाल के जिले हैं।

इसी प्रकार दुनिया के अन्य देशो- मॉरिशस, त्रिनिदाद एवं टुबैगो, फिजी, गयाना, सूरीनाम सहित आष्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड व हालैंड (नीदरलैंड) में भी लाखों की संख्या में अवधी बोलने वाले लोग रहते हैं। जिनके मध्य भाषा का सहज प्रवाह के फलस्वरूप जो प्रभाव परिलक्षित होता है उसका परिणाम निश्चित ही सुखद एवं प्रभावी होता है। जिसके कारण आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक समरसता का प्रादुर्भाव होता हे। भाषा सिर्फ भावनाओं का ही आदान-प्रदान नही करती बल्कि राष्ट्र एवं धर्म के प्रति सम्बद्धता की भी नींव रखती है।

इन अवधी साहित्य से यह स्पष्ट है कि अवध के जिलो और विस्तारित क्षेत्रों पर एक जैसी जीवन शैली, तीज त्यौहार, सांस्कृतिक महत्व एक समान परिलक्षित होता है। रामचरित मानस ने सभी को आदर्श जीवन जीने की कला तथा राष्ट्र निर्माण से त्याग की शक्ति को एक साथ पिरोने का उत्कृष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया है।

स्रोत :-

1. Jagran Publish Fri 06 Oct 2017.
2. Punjabkesari 08 November 2019.
3. Awadhibanee. word press.com
4. अवध विलाश - लालदास, पृ0 169
5. मुगल कालीन भारत - आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव पृ0 346
6. Crescent in India के हिन्दी रूपान्तर से

धार्मिक सहिष्णुता : समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ० सतीश चन्द्र तिवारी
असि० प्रोफेसर
समाजशास्त्र विभाग
भवन्स मेहता महाविद्यालय
भरवारी कौशाम्बी–212201

सभ्यता के विकास के प्रारंभिक काल से ही विभिन्न मानव–समुदाय भिन्न–भिन्न धर्मो में विश्वास करते रहे हैं। इन विभिन्न धार्मिक तथा सांप्रदायिक विश्वासों के फलस्वरूप सभ्यता के आदिकाल से ही विभिन्न मानव–समुदायों में दु:खद एवं रक्तरंजित संघर्ष चलता रहा है जिसके कारण संपूर्ण मानव–जाति को व्यापक रूप से हानि पहुँची है। दु:खद स्थिति यह है कि उक्त धार्मिक एवं साम्प्रदायिक संघर्ष आधुनिक युग में भी पूर्ववत विद्यमान है। जब मनुष्य अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक उन्नत, सुसभ्य तथा सुसंस्कृत होने का दावा करता है। वस्तुत: मानव–जाति के लिए यह दु:ख स्थिति उस कट्टरता और उन्माद का अनिवार्य दुष्परिणाम है जिसका जन्म धार्मिक असहिष्णुता से होता है। इस धार्मिक असहिष्णुता का स्वरूप क्या है? मानव समाज में यह क्यों और केसे उत्पन्न होती है? क्या इसे कम या समाप्त किया जा सकता है? इसको कम या समाप्त करने के उपाय कौन–कौन से है?

असहिष्णुता के साथ कट्टरता, दुराग्रह, अभिमान आदि दुर्गुण अनिवार्यत: संबद्ध रखते है। असहिष्णु या असहनशील व्यक्ति में उपर्युक्त दुर्गुणों के अतिरिक्त हिंसा, प्रतिशोध, ईर्ष्या आदि नकारात्मक भावनाएं भी विद्यमान रहती है, अत: उसका स्वभाव और आचरण दोनों ही बहुत निम्न कोटि के होते है। असहिष्णुता का क्षेत्र मानव जीवन के किसी एक पक्ष तक ही सीमित नहीं है। जैसे–धर्म, परिवार, समाज, राजनीति, दर्शन आदि अन्य क्षेत्रों में भी असहिष्णुता को देखा जा सकता है। वर्तमान समय में पारिवारिक जीवन में विघटन उसका महत्वपूर्ण कारण परिवार के सदस्यों की असहिष्णुता है जो उनके वैयक्तिक अहम, से उत्पन्न होती है। प्रत्येक सदस्य अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते हुए केवल अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करता है, अत: परिवार में सौहार्द्र एवं स्नेह के स्थान पर कटुता का जन्म होता है। पारिवारिक जीवन की भॉति हमारे सामायिक जीवन में भी असहिष्णुता बढ़ती जा रही है, जो विभिन्न व्यक्तियों और समुदायों में समय–समय पर होने वाले संघर्ष में देखा जाता है। इसी प्रकार राजनीतिक जीवन में तमाम दल एक दूसरे के विरुद्ध हिंसात्मक उपायों का प्रयोग करते हैं। विश्व की राजनीति में बढ़ती हुई यह हिंसा राजनीतिज्ञों में सहिष्णुता के अभाव को ही व्यक्त करती है। इस प्रकार मानव जीवन के विविध पक्षों में असहिष्णुता देखी जा सकती है।

सहिष्णुता और असहिष्णुता का नैतिक मूल्यांकन उनके विषयों के आधार पर ही किया जा सकता है। सहिष्णुता तभी प्रशंसनीय होता है जब उसका विषय नैतिक दृष्टि से उचित और वांछनीय हो। इसी संबंध में प्रीस्टन किंग ने "हम किसी व्यक्ति, समुदाय अथवा सरकार की केवल इसलिए प्रशंसा नहीं कर सकते कि वह सहिष्णु या सहनशील है। ये सब निर्दयता और जनसंहार के प्रति सहनशील हो सकते है। इसी प्रकार हम व्यक्तियों की केवल इसलिए निंदा भी नहीं कर सकते कि वे असहिष्णु या असहनशील है। वे क्रूरता तथा जन-संहार के प्रति असहनशील हो सकते है। इस अर्थ में सब कुछ सहिष्णुता और असहिष्णुता पर निर्भर न होकर उनके लिए उपयुक्त विषयों पर ही निर्भर होता है।" इस प्रकार सहिष्णुता और असहिष्णुता के नैतिक मूल्यांकन का प्रमुख आधार वे वस्तुएं या विषय हैं जिसके प्रति मनुष्य इन भावनाओं का अनुभव करता है। सहिष्णुता और अहिष्णुता के लिए मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य और उसकी शक्ति और सामर्थ्य को स्वीकार करना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों एवं समुदायों में विचारों या विश्वासों की भिन्नता भी असहिष्णुता और असहिष्णुता दोनों की सार्थकता के लिए मनुष्यों में विचारों तथा विश्वासों की भिन्नता का होना भी आवश्यक है। यदि मानव-समाज में विचारों तथा विश्वासों की यह भिन्नता न होती है तो वास्तव में सहिष्णुता और असहिष्णुता ये दोनों शब्द निरर्थक होते।

धार्मिक संघर्ष मनुष्य की उस संकुचित मनोवृति का परिणाम हो जिसे धार्मिक असहिष्णुता कहा जाता है जिसने भिन्न-भिन्न धर्मों को स्वीकार करने वाले मनुष्यों में परस्पर द्वेष तथा शत्रुता की भावना जन्म दिया है। धार्मिक असहिष्णुता से उत्पन्न इस दु:खद स्थिति को समाप्त करने के लिए ही धार्मिक सहिष्णुता के विचार का जन्म हुआ जिसकी आवश्यकता बहुत प्राचीन काल से ही अनुभव की जाती रही है। इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता और असहिष्णुता दोनों का संबंध भिन्न-भिन्न धर्मों में विश्वास करने वाले मानव-समुदायों से है।

जब विभिन्न धर्मों के अनुयायी एक साथ मिलकर शांतिपूर्वक रहते है और एक दूसरे के सिद्धांतों, विचारो, विश्वासों तथा अनुष्ठानों के महत्व को स्वीकार करते हुए उदारतापूर्वक इस मनोवृति को धार्मिक सहिष्णुता की संज्ञा दी जाती है। इन लोगों के धार्मिक विचारों, विश्वासों और अनुष्ठानों का भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। इस वैचारिक और कर्मकाण्ड संबंधी भिन्नता के कारण इन लोगों में धार्मिक संघर्ष की संभावना बनी रहती है जिसे धार्मिक सहिष्णुता द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

धार्मिक सहिष्णुता गांधी जी के सर्वधर्म-समभाव से भिन्न है। गांधी के अनुसार सभी को एक दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए और परस्पर स्नेह तथा सौहार्द्र की भावना रखनी चाहिए। इस प्रकार गांधी का सर्वधर्म-समभाव सकारात्मक सिद्धांत पर आधारित है।

सर्वधर्म-समभाव धार्मिक सहिष्णुता से भिन्न है, क्योंकि धार्मिक सहिष्णुता रखने वाले व्यक्ति अपने धर्म से भिन्न अन्य सभी धर्मों के अस्तित्व को केवल सहन करता है, वह उनका समान रुप से अनुमोदन तथा आदर नहीं करता। वह अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म को सत्य या श्रेष्ठ नहीं मानता किंतु वह दूसरे धर्मों के अनुनायियों के साथ मिलकर शांतिपूर्वक रहता है। और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचाता है। अन्य धर्मों के प्रति उसका यह सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण निश्चय ही उन के प्रति समानता का दृष्टिकोण नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना संभवत: अनचित न होगा कि सर्वधर्म-समभाव को स्वीकार करने वाले व्यक्ति

का दृष्टिकोण केवल धार्मिक सहिष्णुता रखने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से अधिक वांछनीय और प्रशंसनीय है–वस्तुत: धार्मिक सहिष्णुता सर्वधर्म–समभाव का वह प्रथम सोपान है जिसके बिना सर्वधर्म–समभाव को स्वीकार करना और उसके अनुरूप आचरण करना संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में यही भी कहा जा सकता है कि जो मुनष्य सर्वधर्म–समभाव को स्वीकार करता है उसके लिए धार्मिक सहिष्णुता अनिवार्य है, किन्तु जो मनुष्य केवल धार्मिक सहिष्णुता रखता है। वह सर्वधर्म–समभाव को स्वीकार करने की स्थिति तक नहीं पहुँच सकता है। इस प्रकार ये दोनों सिद्धांत अलग–अलग है, इन्हें एक नहीं माना जा सकता है।

संसार के धर्मो के इतिहास से यह पता चलता है कि बहुदेववादी धर्मो के अनुयायियों में एकेश्वरवादी धर्मो के समर्थको की अपेक्षा प्राय: अधिक धार्मिक सहिष्णुता रही है। इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए मौरिस क्रैंस्टन, डब्लू. एफ. ऐडेने आदि कुछ विद्वानों ने यह कहा है कि बहुदेववाद को स्वीकार करने वाले प्राचीन यूनानी लागों में एकेश्वरवा के समर्थक ईसाइयों, यहूदियों तथा मुसलमानों की अपेक्षा अधिक धार्मिक सहिष्णुता पायी जाती थी। यह मत उचित प्रतीत होता है कि एकेश्वरवाद धर्मो में उपाय देवताओं की विविधता के लिए कोई स्थान नहीं हैं इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से बहुदेववाद एकेश्वरवाद की अपेक्षा अधिक उपादेय तथा वांछनीय प्रतीत होता है।

दु:ख की बात है कि वर्तमान युग में भी जब मनुष्य अपने आदिकालीन पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत होने का दावा करता है यह धार्मिक असहिष्णुता और इससे उत्पन्न कट्टरता निरन्तर बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि आधुनिक युग उस युग से मूलत: भिन्न है।

प्राचीन काल में भारतीय धर्म–गुरुओं और ब्राह्मणो ने भी महान विचारक, वृहस्पति के अनुयायी उन भौतिकवादी दार्शनियों की समस्त कृतिकों को नष्ट कर दिया था जिन्हें 'लोकायत' या 'यार्वाक' की संज्ञा दी जाती है। भारतीय दर्शन में इन धर्मग्रन्थों में इन भौतिकवादी सिद्धांत की आलोचना की गई।

वतर्मान समय में भी इन धर्म–गुरुओं की इस धार्मिक असहिष्णुता में अब भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। आज भी संसार के सभी देशों में ये धर्मगुरु ऐसे किसी विचार या सिद्धांत को सहन करने के लिए तैयार नहीं है जो उनके धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध है। ईरान और बांग्लादेश में कुछ कटर धर्मान्ध मुल्लाओं द्वारा सलमान रुशदी तथा तस्लीमा नसरीन को मृत्यु दंण्ड दिये जाने का आन्दोलन किया है। वह इस तथ्य को निश्चित रूप से प्रमाणित करता है। धार्मिक कट्टरता और उन्माद यह सत्य के अनुसंधान तथा वैज्ञानिक प्रगति के लिए बहुत घातक है। आधुनिक विश्व में बढ़ती हुई यह धार्मिक असहिष्णुता सभी विचारशील व्यक्तियों के लिए गंभीर चिंता का विषय है, क्योंकि यह एक ऐसी बुराई है जिसका निराकरण किए बिना सत्य की खोज, वैज्ञानिक प्रगति और सामाजिक शांति संभव नहीं है।

प्रश्न है कि धार्मिक असहिष्णुता के मुख्य कारण क्या है। इसका प्रमुख कारण स्वयं मानव में ही निहित है। मानव–स्वभाव से संबंधित यह मनोवैज्ञानिक नियम धर्म पर लागू होता है क्योंकि वह मनुष्य के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाता है। यही कारण है कि अपने धर्म को सत्य एवं श्रेष्ठ मानना मनुष्य के लिए सामाजिक

है। यही कारण है कि वह अपने धर्म का अपमान सहन नहीं कर पाता है। यही धर्म के प्रति मनुष्य की यह स्वाभाविक संवेदनशीलता जब एक सीमा से बहुत अधिक बढ़ जाती है तो वह धार्मिक असहिष्णुता, कट्टरता, उन्माद का रूप ग्रहण कर लेता है।

धार्मिक असहिष्णुता का दूसरा कारण है अधिकतर धर्मपरायण परिवारों द्वारा बच्चों का गलत पालन–पोषण और उनकी गलत धार्मिक शिक्षा।

धार्मिक असहिष्णुता का तीसरा मुख्य कारण यह है कि सभी धर्मपरायण परिवारों में बच्चों को अपने धर्म की शिक्षा तक ही सीमित रखा जाता है। अन्य धर्मों को जानने और समझने का उन्हें कभी अवसर ही नहीं दिया जाता कि अन्य धर्मो के विषय में मनुष्यों की अनभिज्ञता भी अंतत: उनके मन में धार्मिक असहिष्ण ुता को जन्म देती है।

धार्मिक असहिष्णुता का अन्तिम कारण समाज में विभिन्न धर्मावलंबियों का एक–दूसरे से प्राय: अलग–अलग रहना। जनसाधारण तथा सुशिक्षित व्यक्तियों में एक–दूसरे के धर्म से संबंधित पर्याप्त एवं समुचित जानकारी का अभाव भी उनके मन में प्राय: धार्मिक असहिष्णुता उत्पन्न करता है।

धार्मिक सहिष्णुता मनुष्य को सर्वधर्म–समभाव की ओर अग्रसर करती है जिससे अंतत: सम्पूर्ण मानव–जाति को एक ही परिवार मानने के आदर्श की संभावना का मार्ग प्रशस्त होता है। धार्मिक सहिष्णुता को उत्पन्न करने और बनाये रखने के लिए कौन–2 से उपाय किये जा सकते हैं। मनुष्य की संकुचित मनोवृत्ति को दूर करने के लिए परिवार में प्रारम्भ से ही दूसरों के प्रति मैत्री का और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे बड़े होकर उदार नागरिक बने। दूसरा धर्मपरायण परिवार अपने धर्म के प्रति पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण का परित्याग करें और अपने धर्म के साथ अन्य धर्मो का भी सम्मान करने की शिक्षा दें तथा अन्य धर्मो के प्रति अनभिज्ञता को भी दूर करें।

भारतीय दर्शन के कुछ सिद्धांतो के आधार पर धार्मिक सहिष्णुता सहित सभी प्रकार की सहिष्णुता को उचित और आवश्यक सिद्ध किया जा सकता है। जैसा ऋग्वेद में 'सत्ता वास्तव में एकक ही है, किन्तु विद्वान लोग उसे अनेक नामों से पुकारते है। 'एकसंत् विप्रा: बहुधा वदंति'।' इसी प्रकार जैन–दर्शन में अनेकान्तवाद भी मूलत: वैदिक सिद्धांत का समर्थन किया है। ये दोनों सिद्धांत प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय के लिए सभी प्रकार की सहिष्णुता को वांछनीय तथा आवश्यक मानते है।

भारतीय दार्शनिको की तरह पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी धार्मिक सहिष्णुता के समर्थन में अपनी तर्क प्रस्तुत किये है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक लॉक ने अपनी पुस्तक 'ऐपिस्टोला डी टॉलरशिया' में यह तर्क दिया कि धार्मिक सहिष्णुता केवल उचित ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है। इस संबंध में लॉक का प्रथम तर्क यह है कि अपने विरोधियों का दमन करना अंत: लाभदायक सिद्ध नहीं होता, अत: धार्मिक असहिष्णुता प्रभावहीन और व्यर्थ है। दूसरा तर्क समाज की सुरक्षा के नाम पर बल–प्रयोग के लिए धर्म की राज्य के साथ तुलना करना अनुचित है। लौक का असहिष्णुता के विरूद्ध तीसरा तर्क जो भारतीय दार्शनिकों के समान है।

उनके अनुसार राज्य तथा व्यक्ति केवल अपने ही धर्म को पूर्णत: सत्य मानता है जोकि तार्किक दृष्टि से सही नहीं है। इस प्रकार लॉक धार्मिक असहिष्णुता को अनुचित और अवांछनीय सिद्ध करते हुए धार्मिक सहिष्णुता का स्पष्टत: समर्थन किया है। लॉक के विचारों का समर्थन जॉन स्टुअर्ट मिल भी करते है। इस प्रकार दोनों दार्शनिक धार्मिक सहिष्णुता को सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक मानते है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जब तक विश्व में धर्म का अस्तित्व बना रेहेगा और भिन्न–2 धर्मो को मानने वाले समुदाय विद्यमान रहेगें तब तक धार्मिक सहिष्णुता तथा सर्वधर्म समभाव का मार्ग ही मानव–जाति के लिए श्रेयस्कर मार्ग कहा जा सकता है।

संदर्भ

1. मॉटिस क्रैस्टन का लेख–टॉलरेशन ऐन्साइक्लोपिया ऑफ फिलासफी।
2. धर्म दर्शन का परिचय–डॉ० एच० एन० मिश्र
3. डी०एन० एडवर्ड–दि फिलासफी ऑफ रिलीजन
4. डॉ० राधाकृष्णन–जीवन की आधात्मिक दृष्टि
5. जान केयर्ड–दी फिलासफी ऑफ रेलिजन
6. डॉ० याक मसीह–धर्मदर्शन–प्राच्य एवं पाश्चात्य
7. डॉ० भगवान दास–दी इसेन्सिमल यूनिटी ऑफ रेलिजन्स
8. जॉन हिक– फिलासफी ऑफ रेलियन
9. इ० ओ० जेम्स–कम्परेटिव रेलिजन
10. ए०ई० बर्ट–टाइप्स ऑफ रेलिजस फिलासफी
11. गांधी–माई रेलिजन

औपनिवेशिक भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रो० प्रतिभा शर्मा,
इतिहास विभाग, श्री वार्ष्णेय कॉलेज, अलीगढ़
****दिनेश सिंह,***
शोधार्थी, इतिहास विभाग, श्री वार्ष्णेय कॉलेज, अलीगढ़

पन्द्रहवीं सदी के अंतिम चरण से जिस वैज्ञानिक, चिकित्सीय तथा प्रौद्योगिक आदान-प्रदान का क्रम प्रारंभ हुआ। वाणिज्य और युद्ध के अभिकरण एवं उत्प्रेरणा के अतिरिक्त विद्वानों, व्यापारियों, चिकित्सकों और शिल्पकारों के प्रवास के द्वारा लगातार चलता रहा। बाह्य विश्व से भारत का संपर्क दो दिशाओं में हुआ; एक ओर इस्लाम के अधिक विस्तृत जगत से (इसमें भारत ईरान, मध्य एशिया तथा मध्य-पूर्व से जुड़ा) दूसरी ओर यूरोप की लगातार बढ़ती व्यापारिक और प्रौद्योगिक शक्ति के साथ। मुगलों के शासन काल में जिस प्राकार की भारतीय-मुस्लिम राज्य व्यवस्था एवं संस्कृति पल्लवित हुई। खगोल-विज्ञान, आयुर्विज्ञान, वस्त्र उद्योग और आयुध-निर्माण के क्षेत्रों में विशेष प्रगति हुई। 1498 के बाद पहले पुर्तगालियों तथा उसके बाद डचों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के साथ जुड़े संपर्कों के फलस्वरूप जोत-निर्माण और बागवानी जैसे क्षेत्रों को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। यदि अशिक्षित शिल्पकारों की कारीगरी और विद्वत् समुदाय के बीच कोई खाई थी, यदि 1750 ई० के पूर्व संभवत: ही ऐसे लोग थे जिन्हें 'वैज्ञानिक' कहा जा सकता था तो यही तथ्य यूरोप, चीन और अन्य देशों के आधुनिक विज्ञान के प्रारम्भिक काल पर भी लागू होती थी। धर्म और संस्कृति से संबंद्ध विशिष्ट वर्ग के बौद्धिक क्रिया-कलाप तथा शिल्पकारों के कौशल ने संयुक्त रूप से विज्ञान और प्रौद्योगिकी में भारत को विशिष्टता प्रदान की।

प्रस्तावना :-

औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बहुत पहले से भारत में दीर्घकालीन एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक परम्परा रही है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान के लंबे इतिहास पर विज्ञान के सामाजिक चरित्र एवं सांस्कृतिक विविधता की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती हैं। दो सौ वर्षो के औपनिवेशिक समाज के दौरान भारत में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान को निम्नांकित तीन तत्वों में रूपान्तरित किया है।

1. भारत की अपनी विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान की दीर्घ परम्परायें व्यापक आंतरिक भिन्नताओं से भरी, अनेक ऐतिहासिक प्रभावों से निर्मित और विविध सांस्कृतिक क्रिया-कलापों से संयुक्त थीं और इन्होंने

पश्चवर्ती ब्रिटिश शासन के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

2. भारत में पाश्चात्य (अथवा 'औपनिवेशिक') विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान के प्रचलन का स्वरूप, उनके सामाजिक और बौद्धिक प्रभाव, उनके सांगठनिक रूप और भारत में औपनिवेशिक शासन तथा यूरोप में महानगरीय विज्ञान के साथ उनके दोहरे संबंध।

3. भारत की आधुनिकता के प्रमुख लक्षण के रूप में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान के प्रभाव। इसमें देशी और पाश्चात्य दोनों स्रोतों के तत्व निहित थे और उनकी अभिव्यक्ति साम्राज्यिक विचारधारा तथा राष्ट्रवादी गतिविधियों के बीच विरोध के रूप में होती थी।

यह मान लेना सही नहीं है कि भारत में कोई एकल वैज्ञानिक परम्परा रही है। एक पुरातन सभ्यता वाले इस देश के सहस्राब्दियों लम्बे इतिहास में बहुमुखी मौखिक और लिखित परम्पराएं विकसित होती रही हैं और इनमें देशी तथा विदेशी दोनों तत्वों का मिलन होता रहा है। इस विविधता के फलस्वरूप न केवल भारतीय विज्ञान का उसकी संपूर्णता में स्वरूप निर्धारित करना कठिन हो गया है, अपितु अठारहवीं सदी के अंतिम चरण से लेकर आरम्भिक उन्नीसवीं सदी पर्वत पश्चिम में विकसित विज्ञान और प्रौद्योगिकी के साथ उसके अंत:सम्बन्धों का स्वरूप निर्धारण भी उतना ही दुष्कर है। भारत की 'हिन्दू' परम्परा अनुभव-जन्य, निरीक्षण-आधारित विज्ञान (जो नक्षत्र विज्ञान और आयुर्विज्ञान में विशेष रूप में परिलक्षित होता है) समेत वैज्ञानिक चिंतन और आचरण के अनेक सूत्र थे जो ब्राह्मण्ड विज्ञान और फलित ज्योतिष संबंधी विश्वासों के बाएं-दाएं तथ प्राय: उनके साथ संगति बैठाते हुए क्रियाशील रहे। वैदिक कालीन भारत में जहाँ खगोल-विज्ञान अधिकांश विषयों में धार्मिक अनुष्ठानों से संयुक्त था (क्योंकि यज्ञ और अन्य अनुष्ठानों के लिए विषुव एवं संक्रातियों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक था), वहीं, उत्तर-वैदिक काल और आरम्भिक मध्ययुग में खगोल-विज्ञान, त्रिकोणमिति और बीजगणित धर्म और कर्मकांड से असंपृक्त होने लगे। 'सूर्यसिद्धान्त' बाद के समय की अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। इसके कई अध्याय उपग्रहों की गति और स्थिति, ग्रहणों के स्वरूप और समय-निर्धारण, सूरज और चांद के उदय तथा अस्त और छल्लेदार गोला जैसे खगोलशास्त्रीय उपकरणों की चर्चा करते हैं, परन्तु इसमें विश्वोत्पत्ति तथा 'सरूज और चाँद के अशुभ पक्षों' का भी उल्लेख मिलता है।

गत कुछ वर्षों में भारत की वैज्ञानिक परम्परा में इस्लाम की देन अथवा विज्ञान की सहायता से एक गतिशील एवं समन्वयात्मक भारतीय-इस्लामी संस्कृति के उद्भव को उजागर करने का प्रयास किया गया है। इतिहास लेखन की इस नवीन प्रवृत्ति में आयुर्विज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। इसके अनुसार हिन्दू आयुर्वेद और ग्रीक-अरबी मूल से उत्पन्न यूनानी तिब्ब ने 'सर्जनात्मक संश्लेषण' के द्वारा एक-दूसरे को समृद्ध किया और दोनों पद्धतियों के चिकित्सकों, वैद्यों तथा हकीमों के बीच कभी भी प्रतिद्वन्द्विता अथवा विद्वेष का भाव ही न रहा। चिंतन की इस नई दिशा से अठारहवीं सदी में भी भारत में वैज्ञानिक परम्पराओं की सतत् विद्यमान जीवंतता एवं उनके अंतर्मिलन को समझने में मदद मिली है।

प्राचीन भारत ने सांस्कृतिक और प्रौद्योगिक लगाव रखने तथा सभी प्रकार के अभिनव परिवर्तनों से विमुख रहने के बदले शताब्दियों से पड़ोसी देशों, मध्य-पूर्व तथा मध्य एशिया से लेकर चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया

के साथ कृषि, स्थापत्य, खगोल-विज्ञान, रसायन शास्त्र, आयुर्विज्ञान, धातु-विज्ञान, वस्त्र उत्पादन, पोत-निर्माण, युद्ध-सामग्रियों के निर्माण जैसे विविध क्षेत्रों में खुला आदान-प्रदान बनाए रखा। यह विलक्षण सांस्कृतिक ग्रहणशीलता तथा सीमा पार के प्रदेशों के साथ आदान-प्रदान की प्रक्रिया भारतीय विज्ञान को चीन, इस्लामी मध्य-पूर्व तथा गैर-यूरोपीय संस्कृतियों की सर्जनशीलता, प्रसार और पारस्परिक आदान-प्रदान के प्रतिमानों के साथ गहरे रूप से जोडती है।

पंद्रहवीं सदी के अंतिम चरण से जिस वैज्ञानिक, चिकित्सीय और प्रौद्योगिकी आदान-प्रदान का क्रम प्रारम्भ हुआ वह वाणिज्य और युद्ध के अभिकरण एवं उत्प्रेरणा के अतिरिक्त विद्वानों, व्यापारियों चिकित्सकों और शिल्पकारों के प्रवास के द्वारा लगातार चलता रहा। बाह्य विश्व से भारत का संपर्क दो दिशाओं में हुआ; एक आरे तो इस्लाम के अधिक विस्तृत जगत से (इसमें भारत ईरान, मध्य एशिया तथा मध्य पूर्व से जुड़ा) तो दूस री ओर यूरोप की लगातार बढ़ती व्यापारिक और प्रौद्योगिक शक्ति के साथ। मुगलों के शासन-काल में जिस प्रकार की भारतीय-मुस्लिम राज्य व्यवस्था एवं संस्कृति पनपी उससे खगोल-विज्ञान, आयुर्विज्ञान, वस्त्र उद्योग और आयुध-निर्माण के क्षेत्रों में विशेष प्रगति हुई। 1498 के बाद पहले पुर्तगालियों तथा उसके बाद डचों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के साथ जुड़े संपर्कों के फलस्वरूप पोत-निर्माण और बागवानी जैसे क्षेत्रों को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

सोलहवीं सदी के प्रथम चरण से ही मुगल दरबार विज्ञान और प्रौद्योगिकी का प्रमुख संरक्षण स्थल बना रहा। परन्तु ऐसा नहीं था कि अठारहवीं सदी में मुगल राजवंश के पतन के साथ भारत अंधकार के युग में चला गया। भले ही संस्कृत फारसी और अरबी में लिपिबद्ध की जाने वाली विज्ञान और प्रविधि की पाडुंलिपियों की संख्या में कमी आ गई। भारत के प्रादेशिक दरबारों में राजकीय संरक्षण के अधीन विज्ञान में अभिरुचि बढ़ती रही।

उदाहरणस्वरूप, राजा जयसिंह ने 1722 से 1739 के बीच जयपुर, दिल्ली, मथुरा, उज्जैन और बनारस में खगोलीय वेधशालाएं बनवाई। तंजौर के अंतिम मराठा शासक सरफोजी ने विभिन्न औषध-विज्ञानों में अभिरूचि ली और भारतीय तथा पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के मूलग्रन्थों को संग्रहीत करवाया। ज्ञान के नए-नए केन्द्र खोले गए जिनमें एक ओर निजामों के अधीन हैदराबाद और अवध के नवाबों के अधीन लखनऊ ऐसे केन्द्र थे जहाँ इस्लामी विज्ञान तथा यूनानी चिकित्साशास्त्र में शिक्षार्थी विशिष्टता प्राप्त करते थे। दूसरी आरे अन्य प्राचीन हिन्दू ज्ञान-केन्द्रों, जैसे बनारस और पश्चिम बंगाल में नाडिया, फलते-फूलते रहे। मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद भी दिल्ली विज्ञान, कला और साहित्य का प्रमुख केन्द्र बनी रही। 1857 की क्रान्ति तक एक धुँधले 'पुनर्जागरण' की आभा बिखेरती रही। लेकिन कुछ ऐसे क्षेत्र भी थे जहाँ नई प्रौद्योगिकी के प्रति भारत उदासीन बना रहा। सोलहवीं सदी के मध्य में जेसुइट संप्रदाय के द्वारा गोआ में मुद्रणयंत्र के प्रतिष्ठान के बावजूद अठारहवीं सदी के अंतिम चरण तक भारत में कोई हलचल नहीं पैदा हुई। परन्तु उन्नीसवीं सदी में इसके विस्मयकारी द्रुतगामिता के साथ प्रसार ने ऐसे किसी भी संकेत को झुठला दिया कि मुद्रणयंत्र किसी 'यांत्रिक पिछड़पेन' का परिणाम था। मुद्रणयंत्र को अपनाने में दीर्घसूत्रता प्रौद्योगिक परिवर्तन के प्रति किसी दीर्घकालिक प्रतिरोध की भावना का प्रतिफल नहीं थी। यह मात्र इस बात की द्योतक थी कि भारत पाश्चात्य विज्ञान, प्रौद्योगिकी और

चिकित्सा-प्रणाली को अपनाने में चयनशीलता रख रहा था। अपने प्रतिष्ठित सांस्कृतिक मूल्यों तथा शिल्पकारों और लिपिकों के कला-कौशल को पांडुलिपियों की परम्परा में अक्षुण्ण रखने के प्रति आग्रहशील था। इस विपरीत सामरिक निपुणता से संबंधित विषय तत्कालीन परिस्थिति में अधिक महत्त्व के थे। अत: उन पर विशेष ध्यान दिया गया। यह केवल मुगलों के संबंध में ही नहीं, अपितु मैसूर के टीपू सुल्तान और पंजाब में रणजीत सिंह, जिसकी संधानशालाएँ उन्नीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशकों के बीच लाहौर और अमृतसर में भारी बंदूकें और तोपें बनाती थीं, की सेनाओं के विषय में भी लागू होता था।

जिस प्रकार भारतीय विज्ञान के कालक्रम के संबंध में पुनर्विचार करना तथा प्राच्यविदों की एतद्विषयक पुरानी अवधारणा को खंडित करना आवश्यक है, वैसे ही यह भी आवश्यक है कि आंतरिक विविधताओं से भरे विशाल भारत के विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान की महत्ता का पुनर्मूल्यांकन किया जाए।

भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के विकेंद्रित स्वरूप ने अठारहवीं सदी में विज्ञान, प्रौद्योगिक आरै आयुर्विज्ञान की अनके पद्धतियों के विकास में मदद की। प्रत्येक को अपना विशिष्ट चरित्र विकसित करने की क्षमता प्रदान की। इस विविधता की कुछ अंतर्निहित अच्छाइयाँ भी थीं और कुछ त्रुटियाँ भी। एक केंद्र के पतन से दूसरे केंद्र के बने रहने में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। विभिन्न क्षेत्रों के तरह-तरह के बौद्धिक एवं भौतिक उत्पादों और उनके पारस्परिक प्रभाव एवं विनिमय से संपूर्ण भारत लाभान्वित होता था। आयुर्वेद और यूनानी दोनों चिकित्सा पद्धतियों की क्षेत्रीय शाखाएँ कार्यरत थीं।

संदर्भ

1. सतपाल, 1991, साइंस, टेक्नॉलॉजी एंड कूलोनाइजेशन : एन इंडियन एक्सपीरिएस, 1757-1857', दिल्ली।
2. तीर्थंकर राय, 1996, क्लॉथ एंड कॉमर्स : टेक्स्टाइल्स इन कूलॉनिअल इंडिया, दिल्ली।
3. भट्टाचार्य, सव्यसाची, 1966, कल्चरल एडं सोशल कून्स्ट्रेंट ऑन टेक्नालॉजिकल इन्नावेशन : समकेरा स्टडीज', (आई ई एस एच आर, 3, 1966)।
4. डैविड ल्यडूेन, 1979, पैट्रॉनेज एंड इरिगेशन इन तमिलनाडु : एक लांग-टर्म व्यू' (आई ई एस एच आर, 16, 1979)।
5. धर्मपाल, 1971 'इंडियन सांइस एंड टेक्नॉलॅजि इन द एटींथ सेंचुरी : सम कॉन्टेंपॅररि यूरोपियन अकाउंट्स, दिल्ली।

रघुवीर सहाय की रचनाओं में लोकतंत्र के विविध रूप

डॉ० भावना सिंह शाक्य
असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
राष्ट्रीय रक्षा अकादमी, खड़कवासला, पुणे

लोकतंत्र को परिभाषित करते हुए जार्ज अब्राहम लिंकन ने कहा है। "लोकतंत्र जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन प्रणाली है।"[1] इसका मतलब हुआ वह शासन व्यवस्था जो जनता के लिए हो, जनता ने खुद जिसका निर्माण किया हो और जो पूर्णत: जनता के हितों के लिए हो, लोकतंत्र कहलाती है। लोकतंत्र में प्रमुख है 'लोक' और 'लोक का अर्थ है। जनसामान्य।' लोकतंत्र को डेमोक्रेसी का पर्याय माना जाता है और डेमोक्रेसी में भी 'डेमो' का अर्थ जनता है। इसलिए लोकतंत्र का सामान्य और अनिवार्य अर्थ हुआ वह शासन तन्त्र जिसमें जनसामान्य की भागीदारी हो और जनता की ओर उन्मुख शासन प्रणाली हो। परन्तु लोकतंत्र का अर्थ केवल यहीं तक सीमित नहीं है, आगे चलकर बुद्धिजीवियों ने इसका अर्थ विस्तार किया। जेम्स बर्नहेम ने 'लोकतंत्र' को परिभाषित करते हुए कहा है–"एक तो इसका प्रयोग सरकार के एक विशिष्ट रूप के लिए, पूंजीवादी संसदीय शासन प्रणाली के रूप में होता है।...दूसरा लोकतंत्र शब्द का प्रयोग कुछ ठोस जनतांत्रिक अधिकारों के लिए होता है।"[2] 'वहीं आम आदमी लोकतंत्र का अर्थ एक ऐसी राजनैतिक व्यवस्था से समझता है, जिसमें हर व्यक्ति को एक निश्चित उम्र के बाद वोट डालने का समान अधिकार हो, जहाँ ईमानदारी से नियमित चुनाव हों।'[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'लोकतंत्र' किसी वर्ग विशेष की सरकार न होकर एक लोक सरकार है। शासन का वह रूप जिसमें अपने शासकों का चुनाव जनता करती है।

लोकतंत्र का जन्म एक आधुनिक घटना है, परन्तु इसके प्रकाश में आने से पहले भी किसी न किसी रूप में यह मौजूद रही है। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व इन तीन संकल्पनाओं को लेकर 'लोकतंत्र' भारत में आया। ऐसी शासन प्रणाली की इच्छा व्यक्त हुई जो अपनी कार्य-पद्धति से गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, बेरोजगारी, जाति, धर्म, लिंग और भाषा के आधार पर व्याप्त सामाजिक भेदभाव, समाज में व्यापक रूप से फैले भ्रष्टाचार, आर्थिक असमानताओं को दूर करने के साथ-साथ विधि के शासन से न्याय आधारित समाज की स्थापना करें। लेकिन ये बातें वर्तमान परिदृश्य में कहीं साकार होती नहीं दिखती। आज 'लोकतंत्र' एक मोहक शब्द लगता है। इसकी मोहकता के कारण ही इसे हर मर्ज की दवा मान लिया जाता है। लोकतंत्र के आते ही मानों सभी विषमताएं और दुख तुरंत ही दूर हो जाएगें। लेकिन प्राय: यह देखा गया है कि यह शब्द केवल नारा बनकर रह गया है। इस सन्दर्भ में किशन पटनायक कहते हैं। "लोकतंत्र एक पहेली है-विशेषकर 'भारत के लिए'।.... आजादी व लोकतंत्र को आधी से अधिक सदी गुजर जाने के बाद भी करोड़ों मनुष्य कंगाली और फटेहाली में जीते हैं।"[4] क्योंकि "लोकतंत्र भारतीय समाज के अन्दर से निकले किसी लोकप्रिय दबाव का परिणाम नहीं था।

ना ही इसे जनसाधारण ने राज्य से जीता था। लोकतंत्र तो खास तरह के बुद्धिजीवी प्रभुत्व वर्ग की राजनीतिक पसंद के कारण जनता को प्राप्त हुआ।"[5]

रघुवीर सहाय की काव्य-यात्रा स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र की विचार-यात्रा है। शासन-प्रणाली के रूप में लगभग पांच दशक के लोकतंत्र की विकास-यात्रा हमें रघुवीर सहाय के कवि-कर्म में देखने को मिल जाती है। इस यात्रा में प्रारम्भ से लेकर बीसवीं सदी के अंत तक लगभग आधी सदी का भारतीय जनमानस नजर आता है। 'दूसरा सप्तक' के वक्तव्य में रघुवीर सहाय कहते हैं-"शमशेर बहादुर का यह कहना मुझे बराबर याद रहेगा कि जिंदगी में तीन चीजों की बड़ी जरूरत है, ऑक्सीजन, मार्क्सवाद और अपनी वह शक्ल जो हम जनता में देखते हैं।"[6] उनकी कविताएँ भारतीय लोकतंत्र से जुड़े आम आदमी की आशाओं, आकांक्षाओं और सपनों से बुनी गई हैं। आजादी के बाद लगभग दो दशक मोह और आशावाद में डूबे दिखाई देते हैं। भारत का बुद्धिजीवी वर्ग इसी आशावादिता के कारण एक नए भारत, एक नए समाज और एक नई राजनीति का स्वप्न देख रहा था। इतिहासकार सुनील खिलनानी अपनी पुस्तक 'भारतनामा' में इस युग के विषय में कहते हैं-"उस युग में लोकतंत्र और समाज-सुधार की ऊँची-ऊँची बातें खूब की जाती थी और शासन-पद्धति के तौर पर उस समय का भारतीय लोकतंत्र एक मिसाल था। संसदीय और दलीय कार्य विधियों का अनुपालन करने में बड़े गर्व का एहसास किया जाता था।"[7] परन्तु यह आशावाद अधिक समय तक न रह सका। इसीलिए रघुवीर सहाय ने अपनी कविता 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' में कहा है-

"बीस बरस बीत गए
लालसा मनुष्य की तिलतिल कर मिट गयी।
X X X
टूटते टूटते
जिस जगह आकर विश्वास हो जायेगा कि
बीस साल धोखा दिया गया
वहीं मुझसे फिर कहा जाएगा
विश्वास करने को।"[8]

इस स्थिति का जिम्मेदार वह तंत्र और नेतृत्व था, जिसने आजादी के बाद सामाजिक आधारों को बदले बगैर 'लोकतंत्र' की कल्पना की थी। इस लोकतंत्र के हवाले से उसने जनता की मुक्ति और विकास का वायदा किया था। लेकिन समय बीतने के साथ ही इस तंत्र के लोकतान्त्रिक दावों की कलई खुलती गई और इन दावों का असत्य प्रकट होता गया-

"दूर...
राजधानी से कोई कस्बा दोपहर बाद छटपटाता है,
एक फटा कोट, एक हिलती चौकी, एक लालटेन
दोनों, बाप मिस्तरी और बीस बरस का नरेन

दोनों पहले से जानते हैं पेंच की मरी हुई चूड़ियाँ
नेहरु युग के औजारों को मुसद्दी लाल की सबसे बड़ी देन।"[9]

कविता की इन पंक्तियों में रघुवीर सहाय 'मिस्तरी' बाप और 'बीस बरस के नरेन' के माध्यम से स्वतंत्र भारत में जी रहीं दो पीढ़ियों का मूल्यांकन कर रहे हैं, जो पेंच के कसने की मजबूरी में किलता झेल रहें हैं। मरे हुए पेंच यानी अन्दर से घिसे हुए पेंच को आप कहीं भी कसे वह कसेगा नहीं। लोकतंत्र और आजादी का ढांचा तो खड़ा किया गया परन्तु उस ढांचे को कसने वाला पेंच घिसा हुआ साबित हुआ। तात्पर्य यह है कि आधुनिकता और प्रगति की घोषणाएं तो हुई परन्तु उन्हें संभव करने के लिए जो तरीके निकाले गए उन्हें मुसद्दीलाल की जमात ने नष्ट कर डाला। असफलता और निराशा की इस विडम्बना ने घुटन और यातना का नया आयाम पैदा किया। एक असुरक्षा का भाव पैदा किया। 'आत्महत्या के विरुद्ध' में कवि कहता है–

"अस्पताल में मरीज छोड़कर आ नहीं सकता तीमारदार
दूसरे दिन कौन बताएगा कि वह कहाँ गया।"[10]

आज स्थिति यह है कि कोई तीमारदार अस्पताल में अपने मरीज को छोड़ कर घर नहीं लौट सकता क्योंकि असुरक्षा के इस वातावरण में इसकी पूरी सम्भावना है कि दूसरे दिन अस्पताल में मरीज मिले ही नहीं। संभव है, वह निजी स्वार्थ के लिए गायब कर दिया जाए या फिर उसके अंग निकाल लिए जाएँ। लोकतंत्र की यह विडम्बना केवल आरंभिक दौर की ही नहीं थी, बल्कि आज भी यह स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई। लोकतंत्र का सर्जन करने वाला मतदाता निरंतर इस असुरक्षा को महसूस करता है। यह असुरक्षा साधनों के आभाव की असुरक्षा है। 'कोई एक और मतदाता' कविता में रघुवीर सहाय कहते हैं–

"जब शाम होती है तब खत्म होता है मेरा काम
जब काम खत्म होता है तब शाम खत्म होती है
रात तक दम तोड़ देता है परिवार
मेरा नहीं एक और मतदाता का संसार।"[11]

इस विडम्बना ने सत्ता और व्यक्ति के बीच एक तनाव पैदा किया जिसे रघुवीर सहाय ने महसूस किया। एक साक्षात्कार में रघुवीर सहाय कहते हैं– "हम (सत्ता को) अपनी आजादी का एक हिस्सा इसलिए देते हैं कि वह समाज का और राज्य का प्रबंध करे, उस हद तक सत्ता के और हमारे बीच एक रिश्ता बनता है। वह रिश्ता तनाव का रिश्ता होगा। रचना इस तनाव का प्रतिनिधित्व करती है।"[12]

रघुवीर सहाय सत्ता की राजनीति, नेताओं के छल–छद्म, भ्रष्टाचार को प्रकट करने वाले कवि रहें हैं। देश की सुव्यवस्था एवं विकास के लिए लोकतंत्रात्मक शासन–प्रणाली को अपनाया गया, लेकिन आज लोकतंत्र राजनीतिज्ञों के हाथ का खिलौना बनकर रह गया है। भ्रष्ट राजनीति ने 'लोकतंत्र' में से 'लोक' को कहीं अमूर्त और अदृश्य अवधारणा के रूप में बदल दिया है। 'लोक' जो कि लोकतंत्र का आधार होता है उससे उसकी शक्ल, उसका अस्तित्व तथा उसका स्वर छीन लिया जाता है। इससे जनता भूख, अशिक्षा, रोगग्रस्त, निर्धनता

के बीच अपने आप को पाती है। देश की वर्तमान स्थिति को देखकर रघुवीर सहाय कहते है– "लोकतंत्र मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इंसान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।"[13] इस बीच की स्थिति में रघुवीर सहाय एक तिलमिलाहट अनुभव करते हैं। यह तिलमिलाहट केवल सत्ता के प्रति नहीं बल्कि उन तमाम लोगों के प्रति भी है जो कुढ़ते हुए चुप रह जाती हैं परन्तु उचित कदम नहीं उठाते। 'सभी लुजलुजे हैं' कविता में वे कहते हैं–

"खौखियाते हैं, किंकिंयाते हैं, घुन्नाते हैं
चुल्लू में उल्लू हो जाते हैं
मिनमिनाते हैं, कुडकुड़ाते हैं.....
झांय झांय करते हैं रिरियाते हैं
X X X
ठीक वक्त पर चीं बोल जाते हैं।"[14]

लोकतंत्र में 'लोक' की स्थिति यह हो गई है कि वह सब कुछ समझ कर भी अपने ही तंत्र में अपनी आवाज नहीं उठा पाता। गली मुहल्लों में खड़े होकर बुराई तो कर सकता है, तू–तू, मैं–मैं तो कर सकता है पर एक सशक्त आवाज में नहीं, रुलाई और रिरियाहट में। लोकतंत्र में जहाँ जोर देकर नागरिकों में समानता की बात कही जाती है, वहीं लोकतंत्र की यह विडम्बना बन जाती है कि वह नागरिकों को इस समता का एहसास भी नहीं करवा पाती। इसीलिए "बूढ़े' कविता में कवि कहते हैं–

"लोकतंत्र का मजाक बनते
देख रहे हैं, बेहद बूढ़े
कुछ कम बूढ़े कहें कि क्या यह लोकतंत्र है?
X X X
इनसे भी कम बूढों को नफरत है लोकतंत्र से
बाकी सबको एक दूसरे से नफरत है।"[15]

आज एक प्रश्नचिह्न लग गया है कि क्या यह लोकतंत्र है? क्योंकि देश में लोकतान्त्रिक व्यवस्था और मूल्य नष्ट होते जा रहे हैं। लोकतंत्र का मखौल बनते देखते बूढ़ों से लेकर लोकतंत्र से घृणा और फिर आपस में ही घृणा करते लोगों के माध्यम से रघुवीर सहाय ने आजादी से लेकर हमारे वर्तमान हालात को इन पंक्तियों में समेटा है। जनता की समस्याओं को दूर किए बिना कोई भी लोकतंत्र वास्तविक लोकतंत्र नहीं बन सकता और यह विडम्बना ही है कि भूखी जनता की कराह सुनने वाले कानों की कमी होती जा रही है। आज इस लोकतंत्र में 'राशन की चीनी खाकर चार बच्चे मर जाते हैं।' गरीब परिवार आए दिन ऐसी घटनाओं का शिकार हो रहा है। यह कैसा लोकतंत्र है? लोकतंत्र का मतलब है। बहुमत का शासन। यहाँ गरीबों का बहुमत है, इसलिए लोकतंत्र का मतलब हुआ– गरीबों का शासन। परन्तु असलियत इसके विपरीत है। आज स्थिति ऐसी है कि समाज के सबसे निचले वर्ग के लोगों को जीवन बसर करने के लिए काफी कम साधन मिलते हैं। उन्हें रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जरूरतें पूरी करने में भी मुश्किलें आती हैं।

आए दिन अखबारों में खबरें पढ़ी जा सकती हैं। 'ठण्ड से 100 की मौत' या भूख से मरने वालों की संख्या बढ़ी। इन खबरों का आना आम बात बन गयी है। रघुवीर सहाय भी अपने पत्रकारिता के अनुभव से कविता में खबर देते दिखाई देते हैं। उन्होंने समाज के निम्न मध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय तबके को 'दिनमान' से जोड़ा। पत्रकार होने के कारण उन्हें राजनीति, समाज, खेल आदि सभी क्षेत्रों की जानकारी थी। अभावों में मरते 'जन' को उन्होंने नजदीक से देखा। इसलिए उन्होंने खबरों में कविता और लोकतंत्र में तिल-तिल मरते 'लोक' को उजागर किया। 'ठण्ड से मृत्यु' कविता में कवि इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

"फिर जाड़ा आया, फिर गर्मी आई
फिर आदमियों के पाले से लू से मरने की खबर आई ।
X X X
वे खड़े रहते हैं तब नहीं दिखते
मर जाते हैं तब लोग जाड़े और लू की मौत बताते हैं।"[16]

क्योंकि फिर वह मुद्दा बन जाता है। समय रहते तो जरूरतों को पूरा नहीं किया जाता मौत की खबरें आते ही राजनीति में हलचल मच जाती है। रघुवीर सहाय मानते हैं कि इस देश में वास्तविक लोकतंत्र तभी आएगा जब किसी को भूखे पेट सोने की जरूरत नहीं रहेगी।[17] क्योंकि भूख, चिंतन की हत्या कर, चिंतन रहित समाज बनाती है और इस चिंतन रहित समाज में प्रतिरोध नहीं हो सकता। जिससे सत्ता व्यवस्था का एक छद्म शांति से निर्मित हो जाता है।[18] जनता को मात्र भूख मिटाने के लिए रोटी ही नहीं चाहिए बल्कि रोटी पैदा करने का अधिकार भी चाहिए। क्योंकि "उत्पादन के साधनों पर मालिकों का कब्जा मजदूर वर्ग के लिए आर्थिक समानता और शोषण से मुक्ति की सबसे बड़ी रुकावट है।"[19] रघुवीर सहाय मानते हैं कि "रोटी और रोटी पैदा करने का अधिकार दो अलग-अलग चीजे नहीं हैं। रोटी पैदा करने के साधनों पर अधिकार जीवन में पूरा हिस्सा लेने का राजनीतिक अधिकार है और लोकतंत्र उस अधिकार पर अधिकार रखने की आजादी का नाम है।"[20] परन्तु यहाँ अधिकार तो मिलता है, रोटी भी दी जाती है लेकिन गुलामी के बदले। "गुलामी' कविता में कवि कहता है-

"अपनों की गुलामी विदेशियों की गुलामी से बेहतर है
और विदेशियों की गुलामी वे अपने करते हों
जिनकी गुलामी तुम करते हो तो वह भी क्या बुरी है
तुम्हें तो रोटी मिल रही है एक जून की।"[21]

यह विडम्बना ही है कि जनता को इतना भूखा रखा जा रहा है कि वह सोच भी नहीं पाए। ये जनप्रतिनिधि लोकतंत्र के प्रहरी हैं लेकिन ये कैसे प्रहरी हैं जो सुरक्षा के बजाय शोषण कर रहे हैं। यह विडम्बना ही है कि जनप्रतिनिधि नायक के रूप में नहीं खलनायक के रूप में सामने आते हैं। इस संदर्भ में रजनी कोठारी ने कहा है। "कहने के लिए लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा शासन माना जाता है, लेकिन असलियत में वह अभिजनों का शासन साबित होता है।"[22] यह स्थिति करनी और कथनी के अंतर के कारण घटित हुई है। बाहरी रूप और भीतरी वास्तविकता के इस अंतर को उभारते हुए रघुवीर सहाय ने इस वर्तमान

व्यवस्था के मनुष्य विरोधी दुहरे चरित्र को नंगा करने की लगातार कोशिश की है। लोकतंत्र के नाम पर लोकतान्त्रिक संस्थाओं और उपकरणों को भ्रष्ट करने वाले जनप्रतिनिधियों के अश्लील चरित्र का खोखलापन उघाड़ते हुए 'मेरा प्रतिनिधि' कविता में वे कहते हैं–

"सिंहासन ऊँचा है, सभाध्यक्ष छोटा है,
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुंह बाएं बैठे लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
X X X
हंसती है सभा
तोंद मटका ठठाकर
अकेले अपराजित सदस्य की व्यथा पर
फिर मेरी मृत्यु से डरकर चिंचियाकर कहती है
अशिव है, अशोभन है, मिथ्या है।"[23]

"जिन लोगों के हाथ में सत्ता है, जो जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं और मुल्क पर हुकूमत करते हैं, वे लोकतंत्र के अभिभावक नहीं रह गए हैं।"[24] संसद लोकतंत्र को कायम रखने की प्रतिनिधि संस्था है, परन्तु भारत ज्यादातर गैरजिम्मेदार और भ्रष्टाचारी प्रतिनिधियों से भरा है। स्वभावत: अधिकतम प्रतिनिधि शोषक, शासक दल के हैं, जिनके पूर्वग्रह और मूर्खताओं के बीच जनता के सही प्रतिनिधि की आवाज दबा दी जाती है। क्योंकि यहाँ–

"संसद एक मंदिर है, जहाँ किसी को द्रोही कहा नहीं जा सकता,
दूधपिए मुंह पोंछे आ बैठे जीवनदानी गोंद
दानी सदस्य तोंद सम्मुख धर
बोले कविता में देशप्रेम लाना आइसक्रीम लाना है।"[25]

ये हैं हमारे जनप्रतिनिधि, जनता ने ही इन्हें चुना है। चुनाव के अब वो मायने ही नहीं रह गए जो होने चाहिए। इस सन्दर्भ में कृष्ण कुमार ने कहा है– "सत्य से निरंतर भाग रहे समाज में चुनाव अब इन्हीं दो विकल्पों के बीच रह गया है कि सत्य को छिपा लिया जाए या बदल दिया जाए।"[26] भले ही इन्हें हमने चुना है, लेकिन नेता से पहले ये नागरिक हैं, फिर नागरिक नागरिक के बीच इतना फर्क क्यों? क्यों ये जनप्रतिनिधि जनता का ही खून चूसने पर तुले रहते हैं? इन्हीं जनप्रतिनिधियों के राज में 'रामदास' जैसे आदमी का दिन दहाड़े कत्ल कर दिया जाता है।

'रामदास' कविता में लोगों के झुण्ड की जो निस्संगता है, वह लोकतंत्र के चरित्र को सामने लाती है। ऐसी संस्कृति पैदा हो रही है जहाँ नाम पुकारकर हत्या कर दी जाती है। 'रामदास' जानता था, उसकी हत्या

होगी फिर भी वह अपने साथ किसी को नहीं लेता। निहत्थे और मौन लोगों ने एक स्तब्धता पैदा कर रखी है। इस कविता में सारी भीड़ मरे हुए लोगों की-सी भीड़ लगती है। न कोई संवेदना, न कोई प्रतिक्रिया सिर्फ कह देना-"कहा नहीं था उसने आखिर उसकी हत्या होगी।"[27] रघुवीर सहाय ने इस कविता के माध्यम से एक मरते हुए समाज के लक्षणों की ओर संकेत किया है। यहाँ एक विराट भीड़ भरा समाज दिखाई देता है, जिसकी जानकारी में और जिसकी शर्तों के बीच बिल्कुल आँखों के सामने रामदास की हत्या की जाती है।

इस हिंसक लोकतंत्र में औरतों की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। लोकतंत्र में जहाँ नारियों की समानता की बात कही जाती है वहीं वह अपने आपको सबसे ज्यादा असुरक्षित महसूस करती है। महिलाओं के साथ गरिमा और समानता का व्यवहार लोकतंत्र की जरूरी शर्त है पर इसका निर्वाह कितना हो पाता है, यह तत्कालीन सन्दर्भ में अच्छी तरह देखा जा सकता है-'16 दिसम्बर 2012 को हुआ निर्भय कांड' लोकतंत्र में स्त्रियों की स्थिति को अच्छी तरह स्पष्ट करता है। '31 दिसम्बर 2008 को नववर्ष का जश्न मनाकर लौटती मुंबई की दो युवतियों के साथ हुआ हादसा'[28] भी इसी कड़ी का अहम् हिस्सा है। आये दिन सामने आने वाली ये घटनाएँ स्त्रियों के सन्दर्भ में गरिमा और समानता जैसे मूल्यों को अंगूठा दिखाती नजर आती हैं। जहाँ महिलाओं की गरिमा की बात बड़े-बड़े मंचों पर की जाती है, वहीँ वह 40-45 लोगों की भीड़ का शिकार हो जाती है। विरोधों और उठापटक के बाद मामला ठंडा हो जाता है। रघुवीर सहाय ने 'नारी' कविता में लोकतंत्र में स्त्रियों की स्थिति को कुछ इस प्रकार प्रकट किया है-

"नारी बेचारी है
पुरुष की मारी है
तन से क्षुधित है
मन से मुदित है
लपक कर झपककर
अंत में चित्त है।"[29]

1954 में लिखी गई इस कविता की वास्तविकता आज भी दिखाई देती है। आज भी तमाम विरोधों के बाद अंत में चित्त हो जाती है। उसकी आवाज दबा दी जाती है। इसके साथ ही-

"कई कोठरियां थी कतार में
उनमें से किसी में एक औरत ले जाई गई
थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया
उसी रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा
उसके बचपन से जवानी तक।"[30]

यह वास्तविकता है लोकतंत्र में 'औरत की जिंदगी' की। ऐसे लोकतंत्र में भला बच्चे कैसे सुरक्षित रहें। रघुवीर सहाय को बच्चों के यातनामय वर्तमान के साथ ही उनके डरावने भविष्य की भी चिंता है। 'बड़ी हो रही लड़की' कविता में रघुवीर सहाय इस चिंता को व्यक्त करते हुए करते हुए कहते हैं-

"वह बड़ी होगी
डरी और दुबली रहेगी
और मैं न होऊंगा
X X X
एक और ही युग होगा
जिसमें ताकत ही ताकत होगी
और चीख न होगी।"[31]

भविष्य के प्रति उनकी यह चिंता अकारण नहीं थी। रघुवीर सहाय ये जानते थे कि जो लोकतंत्र रोटी, सुरक्षा, स्वतंत्रता जैसी बुनियादी चीजे मुहैय्या नहीं करा सकता वह देश के भविष्य का क्या सोचेगा?

स्वाधीन भारत निर्धनता, शोषण, भ्रष्टाचार, बेकारी और असुरक्षा से घिरा हुआ है। इन सब से घिरा हुआ आदमी तिल-तिल कर मरता है और इन सम्स्याओं को समझने सुलझाने के बदले सत्ता से आम आदमी को क्या मिलता है? केवल हंसी और उपहास। सत्ता पक्ष वास्तविक समस्याओं की ही हंसी नहीं उड़ाता अपितु उन्हें हंसी में उड़ाकर निरर्थक, अ.श्य और अमूर्त बना देता है। 'आपकी हंसी' कविता में रघुवीर सहाय कहते हैं–

"निर्धन जनता का शोषण है
कहकर आप हँसे
लोकतंत्र का अंतिम क्षण है
कहकर आप हँसे
चारों ओर बड़ी लाचारी कहकर आप हँसे।"[32]

आम आदमी के जीवन को बद से बदतर बनाया जा रहा है। 'लोकतंत्र की मृत्यु' केवल एक हास्यास्पद वाक्य बनकर रह गया है। लोकतंत्र और उसके मूल्यों की हत्या करने के बाद राजनेता की हंसी भयावह बन जाती है। दमन और उत्पीड़न की ताकत से लैस अधिनायक के सामने निहत्थे आम आदमी में राजनेता की यह क्रूर हंसी सिहरन पैदा कर देती है, क्योंकि अकेली सोच, अकेले विचार या अकेली आवाज को हमेशा ही दबा दिया जाता है। भाषा का एक ऐसा रूप निर्मित किया जाता है, जो शासन के हित में हो।

जिस तरह जनता के लिए रोटी आवश्यक है उसी तरह भाषा भी उसके लिए अनिवार्य है। हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा माना गया। हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचारित तो किया गया लेकिन उसे वास्तव में राष्ट्रभाषा नहीं बनने दिया। इससे हिंदी का वह रूप विकसित हुआ जो सिर्फ अंग्रेजी की स्थानापन्न भाषा बनकर रह गया। रघुवीर सहाय ने इस स्थिति पर कहा है–

"हमारी हिंदी एक दुहाजू की नई बीवी है
बहुत बोलने वाली, बहुत खाने वाली, बहुत सोने वाल
X X X
हमारी हिंदी सुहागिन है, सती है, खुश है

उसकी साध यही है कि खसम से पहले मरे
और तो सब ठीक है पर पहले खसम उससे बचे
तब तो वह अपनी साध पूरी करे।"[33]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि रघुवीर सहाय का लोकतंत्र कोई प्रसन्न संसार नहीं है। उनकी कविता में एक हिंस्र आहट सुनाई देती है। यह हिंस्र आहट गोली बारूद की अनुगूंज से भिन्न है। यह एक स्वाधीन मस्तिष्क और मनुष्य को पराधीन बनाने की निशब्द हिंसा है। कभी रामदास के साथ शारीरिक हिंसा घटती है। उसे अपनी हत्या की पूर्व सूचना है लेकिन वह अपनी रक्षा के लिए इस लोकतंत्र में कुछ भी नहीं कर पाता। तो कभी जनप्रतिनिधियों की हंसी भी एक हिंसा का रूप धारण कर लेती है। इस स्थिति से मुक्ति के लिए समाज को बदलना होगा। रघुवीर सहाय इस सन्दर्भ में कहते है। "विराट भीड़ों के समाज को बदलने का सिर्फ एक साधन है, वह है उस सत्ता का उपयोग जो समुदाय का एक–एक व्यक्ति अलग–अलग निर्णयों से कुछ हाथों में देता है–सरकार जो राज्य की प्रतिनिधि है, जो समाज की प्रतिनिधि है, अधूरी, टूटी, नकली, मिलावटी, मूर्ख जैसी भी वह हो सकती है, अकेला साधन भीड़ के हाथ में है।"[34] रघुवीर सहाय की कविताओं में लोकतंत्र की विडम्बना हर स्तर पर प्रकट हुई है। उन्होंने अपने समाज और राजनीति से पाया कि तत्कालीन परिस्थितियों में लोकतंत्र मात्र संज्ञा बनकर रह गया है जिसका कोई सर्वनाम नहीं है। जबकि लोकतंत्र की उचित उपयोगिता उसके विशेषण में है। व्याकरण के आभाव में लोकतंत्र का पूरा वाक्य ही बिखर गया है। परन्तु कवि भी इसका समाधान प्रकट करने के बजाय राजनीति करने लगे हैं। जब समाज का व्याख्याता कवि अपनी अभिव्यक्ति को समस्या प्रधान बना लेता है तो समाधान के लिए आम जनता कहाँ जाए। दूसरों को कोसना आसन है परन्तु कवि का आम आदमी बनकर समस्याओं का समाधान ढूंढना बड़ा मुश्किल है इसीलिए कवि केवल समस्याओं को सामने रखकर अपने कर्म की इति श्री मान लेता है। इस विडंबना से मुक्ति का एक समाधान अपने कर्तव्यों के पालन का एहसास है, जिसे न केवल कवि, नेता या जनता को निभाना है बल्कि हर उस व्यक्ति को निभाना है जो सत्ता की क्रूरता का शिकार है। तभी लोकतंत्र अपनी परिभाषा पर खरा उतर पायेगा और तभी उसकी विडम्बना दूर हो पायेगी।

सन्दर्भ

1. राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा–ओम प्रकाश गाबा–मयूर पेपर बैक्स– संस्करण–2001–पृ.सं.–221
2. The People's front 'The New Betrayal -James Burnhem&Pioneer Publisher's' New York (1937) Page. 34
3. आधुनिक राजनीति के सिद्धांत,भाग–2–एम.पी.जैन.–ओरिएंट लॉन्गमैन लिमिटेड–संस्करण–1978–पृ.सं.–150
4. भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि–गतिरोध, सम्भावना और चुनौतियाँ–किशन पटनायक–राजकमल प्रकाशन– प्र. सं.–2006–पृ. सं.–5
5. भारतनामा–सुनील खिलनानी–राजकमल प्रकाशन–पहला पेपर बैक्स संस्करण–2001–पृ.सं.–53
6. दूसरा सप्तक–वक्तव्य–भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन–द्वितीय संस्करण–1970– पृ.सं.–138
7. भारतनामा–सुनील खिलनानी–राजकमल प्रकाशन–पहला पेपर बैक्स संस्करण–2001–पृ.सं.–59

8. आत्महत्या के विरुद्ध-रघुवीर सहाय-राजकमल प्रकाशन-प्रथम संस्करण-1967-पृ.सं.-85-86
9. आत्महत्या के विरुद्ध-रघुवीर सहाय-राजकमल प्रकाशन-प्रथम संस्करण-1967-पृ.सं.-21-22
10. आत्महत्या के विरुद्ध-रघुवीर सहाय-राजकमल प्रकाशन-प्रथम संस्करण-1967-पृ.सं.-22
11. आत्महत्या के विरुद्ध-रघुवीर सहाय-राजकमल प्रकाशन-प्रथम संस्करण-1967-पृ.सं.-68
12. रघुवीर सहाय रचनावली-खंड-3-सम्पादक-सुरेश शर्मा-राजकमल प्रकाशन-प्रथम संस्करण-2000-पृ.सं.-56
13. आत्महत्या के विरुद्ध-वक्तव्य-रघुवीर सहाय-राजकमल प्रकाशन-प्रथम संस्करण-1967
14. सीढ़ियों पर धूप में-रघुवीर सहाय-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी-प्रथम संस्करण-1960-पृ.सं-140-141
15. कुछ पत्ते कुछ चिट्ठियां-रघुवीर सहाय रचनावली, खंड-1-सम्पादक-सुरेश शर्मा-राजकमल प्रकाशन-संस्करण-2000- पृ. सं.-286
16. IBN7-12 जनवरी, 2008
17. हिन्दुस्तान-3 जनवरी 2008-पृ.सं.-1
18. एक समय था- रघुवीर सहाय रचनावली, खंड-1-सम्पादक-सुरेश शर्मा-राजकमल प्रकाशन- संस्करण-2000-पृ. सं. 328
19. रघुवीर सहाय का कवि कर्म-सुरेश शर्मा-वाणी प्रकाशन-संस्करण-2002-पृ.सं.-78
20. रघुवीर सहाय रचनावली,खंड-4-सम्पादक-सुरेश शर्मा-राजकमल प्रकाशन-संस्करण-2000-पृ.सं. 475
21. एक समय था-रघुवीर सहाय रचनावली, खंड-1-सम्पादक-सुरेश शर्मा-राजकमल प्रकाशन- संस्करण-2000-पृ. सं.314
22. राजनीति कि किताब-संपादक-अभय कुमार दूबे-वाणी प्रकाशन-प्रथम संस्करण-2003-पृ.सं.-82
23. आत्महत्या के विरुद्ध-रघुवीर सहाय-राजकमल प्रकाशन-प्रथम संस्करण-1967-पृ.सं.-16-17
24. लोकतंत्र के तलबगार-जावीदआलम-अनुवाद अभय कुमार दूबे-वाणी प्रकाशन-प्रथम संस्करण-2007-पृ.सं.-9
25. फिल्म के बाद चींख-आत्महत्या के विरुद्ध-रघुवीर सहाय-राजकमल प्रकाशन-प्रथम संस्करण-1967-पृ.सं.-75-76
26. प्रतिपक्ष-अंक जनवरी 1991-पृ.सं.-17
27. हंसों हंसों जल्दी हंसों-रघुवीर सहाय-नेशनल पब्लिशिंग हॉउस-प्रथम संस्करण-1975-पृ.सं.-27
28. हिन्दुस्तान-2 जनवरी 2008-पृ.सं.-1
29. सीढ़ियों पर धूप में-रघुवीर सहाय-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी-प्रथम संस्करण-1960-पृ.सं-172
30. औरत की जिंदगी-हंसों हंसों जल्दी हंसों-रघुवीर सहाय-नेशनल पब्लिशिंग हॉउस-प्रथम संस्करण-1975-पृ.सं.-12
31. हँसों हँसों जल्दी हँसों-रघुवीर सहाय-नेशनल पब्लिशिंग हॉउस-प्रथम संस्करण-1975-पृ.सं.-23
32. आपकी हंसी-हंसों हंसों जल्दी हंसों-रघुवीर सहाय-नेशनल पब्लिशिंग हॉउस-प्रथम संस्करण-1975-पृ.सं.-16

33. आत्महत्या के विरुद्ध-रघुवीर सहाय-राजकमल प्रकाशन-प्रथम संस्करण-1967-पृ.सं.-78

34. रघुवीर सहाय रचनावली, खंड-3-सम्पादक-सुरेश शर्मा-राजकमल प्रकाशन-संस्करण-2000-पृ.सं.-102

योग - जीवन जीने की एक दिव्य कला

डॉ० रवेन्द्र राजपूत,
असि० प्रोफेसर,
बी०एड० विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

योग को मात्र शारीरिक क्रिया या व्यायाम मान लेना तर्क संगत व उचित नहीं है। योग तो जीने की एक कला है, एक सम्पूर्ण विधा है। यह मनुष्य को स्वयं से परिचित कराने की एक कला है। योग के माध्यम से व्यक्ति को स्वयं ज्ञात हो जाता है कि वह वास्तव में क्या है? वह किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव शरीर धारण किए हुए है। योग को पूर्णरूप से समझने के लिए मनुष्य को यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि योग व्यक्ति के लिए है। व्यक्ति साधक है, योग साधना। साधक, साधना द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। वह अपने तन मन की छिन्न-भिन्न शक्तियों को एकत्र करके अपने व्यक्तित्व के विकास की बाधाओं को दूर करता है। तन, मन, प्राण का अधिकतम परिवर्द्धन एवं उच्चतम संतुलित नियन्त्रण ही योग है।

योग का अर्थः- 'योग' शब्द संस्कृत के 'युज्' धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ हे- 'जोड़ना, संयोग अथवा मिलाना।' इस प्रकार शरीर, मन और आत्मा की समस्त शक्तियों को परमात्मा से संयोजित करना ही योग है। अर्थात् आत्मा को परमात्मा से मिलाने के लिए चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण करके उनको एकाग्र करके समाधि की स्थिति को प्राप्त कर लेना ही योग है। वस्तुतः परमात्मा के पक्ष की ओर अग्रसर करने का मार्ग योग से होकर गुजरता है।

योग की परिभाषाः

1. "योगः कर्मशु कौशलम्।" कर्म करने की निपुणता ही योग है। - भगवान श्रीकृष्ण
2. "योग का अर्थ समाधि है।" - महर्षि वेदव्यास
3. "सभी चिन्ताओं का परित्याग कर निश्चित हो जाना ही योग है।" - योग शास्त्र
4. "चित्त की वृत्तियों का पूर्णतया रोक देना ही योग है।" - पतंजलि
5. "योग एक ऐसी विधि है जिसे अपनाकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सकता है तथा जीव आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ सकता है।"- वेद
6. "जीवात्मा और परमात्मा के मिलन का नाम योग है।" - याज्ञवल्क्य

7. "अनुकूलता-प्रतिकूलता, सफलता-किलता, यश-अपयश, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि इन समस्त भावों में आत्मस्थ रहते हुए स्थिर रहना ही योग है।" - योगेश्वर श्रीकृष्ण

8. "योग हिन्दू जाति की दार्शनिक ध्यान - अवस्था व सन्यासवाद की वह प्रणाली है जिसमें भक्त को परमात्मा के साथ मिलन का मार्ग बताया जाता है।" - आक्स्फोर्ड शब्द कोष

9. "परमदेव के साथ एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना तथा इसे प्राप्त करना ही सब योगों का स्वरूप है।" - श्री अरविन्द

10. "आत्म संस्कार का एक भाव उपाय योग है।" - सम्पूर्णानन्द

11. "जिस साधनों से आत्मा की सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति होती है वह योग कहलाता है।" - जैन आचार्य

12. "योग वह पुरातन्त्र पथ है जो व्यक्ति को अंधेरे से प्रकाश में लाता है।" - सर्वपल्ली राधाकृष्णन

13. "हम सभी अनन्त शक्ति के स्वामी हैं और योग हमें इसी शक्ति के रहस्य से परिचित कराता है।" - योगी रामचरक

14. "योग उस साधना प्रणाली का नाम है जिसके द्वारा जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता का अनुभव होकर परमात्मा के साथ आत्मा का संयोग होता है।" - शिवानन्द सरस्वती

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि योग प्रत्येक व्यक्ति के दुखों का नाश करने वाला सुख प्रदान करने वाला है। साथ ही मनुष्य का शारीरिक, मानसिक बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास करने वाला है। इसके अतिरिक्त मृत्यु (दु:ख) से छूटने और अमृत (आनन्द) को प्राप्त करने का साधन योग है। योग मुक्ति प्रदान करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है तथा व्यक्ति को संसार में बार-बार जन्म लेने के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कराने का नाम ही योग है।

योग के प्रकार:- योग के विभिन्न प्रकार हैं जो कि व्यक्ति के हर पक्ष को प्रबल बनाने में सहायता करते हैं। योग के प्रत्येक भाग या किस्म का अपना-अपना उद्देश्य है। इन उद्देश्यों को अपना कर व्यक्ति स्वयं को आध्यात्मिक रोशनी की तरु ले जाता है तथा परमात्मा के साथ मिलने की कोशिश करता है।

योग के प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार सर्वाधिक प्रसिद्ध योग तो चतुर्योग है, किन्तु इसके अतिरिक्त योग ग्रन्थों में पतंजलि योग, गीतायोग, हठयोग, कुंडलिनी योग, नादयोग, लययोग और प्रेम योग हैं। इन योगों को संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं:-

1. **चतुर्योग:**- इसमें 4 योगों को सम्मिलित किया जाता है- कर्मयोग, भक्ति योग, राजयोग व ज्ञानयोग। इन का वर्णन निम्नलिखित है-

(i) **कर्मयोग:**- गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि व्यक्ति को वहीं कार्य करने चाहिए जिनसे अच्छे फल प्राप्त हों। इसलिए कर्मयोग में व्यक्ति को अच्छे कार्य करने के लिए उत्साहित किया जाता है। कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये नहीं रह सकता है। प्रश्न उठता है कर्म कैसे करें? कैसे न करें? इसके पीछे मुख्य बात यह याद

रखनी चाहिए कि कर्म कभी भी फल प्राप्ति की आशा लेकर तथा कामनाबद्ध होकर नहीं किया जाना चाहिए। निष्काम भाव से बिना कर्मफल में आसक्ति रखे कर्म करना ही कर्मयोग है। कर्मयोगी को चाहिए कि वह जो भी कर्म करे बिना फल की इच्छा के पूरे मनोयोग से करे तथा कर्म करके उसे ईश्वर को अर्पण करदे तथा मानसिक संतुलन बनाये रखे। गीता में कर्म योग की बहुत ही सुन्दर व्याख्या है अर्जुन जब विशाद से आक्रान्त होकर अपने कर्तव्य को भूल जाता है तो योगीराज श्रीकृष्ण उसे कर्मयोग को समझाते हुए कहते हैं "हे अर्जुन! यह संसार कर्म बन्धन में बँधा हुआ है इसलिए तू कर्म कर फिर यह आगे कहते हैं हे अर्जुन! अनासक्त होकर कर्म कर। जो अलिप्त होकर कार्य करता है उसे पाप नहीं लगता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगीजन भी आत्मशुद्धि के लिए कार्य करते हैं।"

विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में भी यह बताया गया है कि गलत कार्यों से इन्सान तरक्की करके खुश नहीं रह सकता तथा वह असल जिन्दगी में असफलता ही प्राप्त करता है।

(ii) **मक्ति योगः**- यह योग मन को जाग्रत (एकाग्र) करने के लिए उत्तम योग है। भक्ति संस्कृत के "भज्' शब्द से बना है जिसका अर्थ है- "प्यार व पूजा।" इस योग में अन्तर्ध्यान होकर परमात्मा का नाम जपा जाता हैं लम्बे समय तक भक्ति करने से व्यक्ति को आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति को कोई डर नहीं लगता। उसको यश, अपयश, हानि-लाभ, सफलता, असफलता, दुःख-सुख सब कुछ बराबर लगते हैं। वह प्रत्येक स्थिति में परमात्मा में लीन रहता है।

भक्ति योग करने से व्यक्ति मन, द्वेष, विरोध से रहित हो जाता है वह दुनिया के मोह-माया के जाल से भी मुक्ति पा लेता है। यह योग वही व्यक्ति अपना सकता है जिसका इन्द्रियों व मन पर पूरा नियन्त्रण हो। भक्ति सगुण या निर्गुण दोनों ही सकती है। इसमें ब्रह्मा या ईश्वर में एकाकार होने की भावना बलवती रहती है। नारद भक्ति सूत्र और शांडिल्य भक्ति सूत्र ग्रंथों के अनुसार भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। भगवान के प्रति प्रेम करता तथा उनको अपना सर्वस्व अर्पित कर देना ही भक्ति योग है। भगवाद् गीता में श्रीकृष्ण जी कहते हैं- "ये भजन्ति तु मां भक्तया मयि ते तेषु चाप्यहम्।" अर्थात् जो मुझे श्रद्धा भक्ति से स्मरण करते है, मेरा ध्यान करते हैं, वह मेरे हैं और मैं उनका हूँ। शूद्र या नीच जो भी लोग मेरी भक्ति करते हैं वे भक्त भी ऋषियों, राजर्षियों के समान मोक्ष को प्राप्त होते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं- कि जो कन्तुष्ट हैं, योग में निमग्न हैं, दृढ़ निश्चयी है जिन्होंने मन और बुद्धि को मुझे सौंप दिया है वे सब मुझे विव हैं। हर्ष, द्वेष और भाव आदि उद्वेग से युक्त है, वह भी मुझे प्रिय है।

(iii) **राजयोगः**- राजयोग का उद्देश्य मन की चंचलता को समाप्त करना है। इस योग को अपनाने से हमारे मन की इच्छाएं हमारे नियन्त्रण में आ जाती हैं तथा हमारा मन अनुशासित हो जाता है। जिस प्रकार शारीरिक क्रियाओं के द्वारा शरीर को मजबूत व बलवान बनाया जाता है उसी प्रकार राजयोग की साधना करके मन को बलवान बनाया जा सकता है। इस योग द्वारा मन पर विजय प्राप्त करने के लिए संतुलित, ध्यान व समाधि का सहारा लेना पड़ता है। मन में सदा के लिए यह बात बैठा लेनी चाहिए कि शरीर सदैव बनी रहने वाली वस्तु नहीं है। परमात्मा का डर सदैव मन में रखना चाहिये।

श्रीकृष्ण राज योग के सर्वोत्तम उदाहरण माने जाते हैं। राज योग के द्वारा ही राजाओं को दैवीय शक्ति प्राप्त होती हैं। राजयोग, योग की वह विद्या है जिससे योगी अपने मन को वश में करके प्राणों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। राजयोग में योग के 8 अंग होते हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

मनुष्य के लिए मन ही बन्धन स्वरूप है। इस बन्धन से मुक्ति में बुद्धि में सहयोग की आवश्यकता होती है। इस प्रकार विचारों के द्वारा चित्तवृत्ति निरोध की क्रिया ही राजयोग है।

(iv) **ज्ञानयोग:**- बिना ज्ञान के योग और क्रिया योग के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। विधि ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयोग की जाती है। इस योग द्वारा व्यक्ति धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करता है और स्वयं को ज्ञानवान बनाता है। इस योग के अनुसार व्यक्ति तभी ज्ञान प्राप्त कर सकता है जब वह सारे सांस्कारिक बन्धनों से मुक्त है। इस योग का मुख्य उद्देश्य परमात्मा के विषय में अधिक से अधिक जानना है। इस योग को अपनाने के लिए व्यक्ति में निम्नाकंत योग्यताएं होनी चाहिए:-

1. समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना।
2. स्वयं के अनुभवों से ज्ञान अर्जित करना।
3. मन की पवित्रता हेतु को परमात्मा में लीन रखना।
4. स्वयं को सदैव दूसरो की भलाई के लिए प्रस्तुत रखना।
5. जिज्ञासु प्रवृत्ति का होना।

ज्ञान योग को बुद्धिगम्य योग कहा गया है। ज्ञान को हम सूक्ष्म ज्ञान और स्थूल ज्ञान में विभाजित कर सकते है। स्थूल ज्ञान तो भौतिक ज्ञान होता है जिसे हम विज्ञान कहते है जबकि दूसरे प्रकार का सूक्ष्म ज्ञान अन्तर्गत आत्मज्ञान अथवा ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान आता हैं। ईश्वरीय चिन्तन ही पूर्ण ज्ञान है। ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा से साक्षात्कार ही ज्ञानयोग का अन्तिम लक्ष्य है। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं गीता को प्रस्थान त्रयी कहा गया है और जीवन का परम पुरूषार्थ इसमें ब्रह्म और जीव से ऐक्य को हो माना गया है।

2. **पतंजलि योग:**- पतंजलि योग में कहा गया है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए "यम और नियमों" का पालन करना पड़ता है। यह नियम योग द्वारा परमात्मा की प्राप्ति करने के लिए होता है। परमतत्व की प्राप्ति के लिए विभिन्न मार्ग हैं जैसे- प्रेम का मार्ग, जिस पर चलकर मीराबाई, चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस आदि सन्तों ने परमात्मा से प्रेम किया और उनको प्राप्त किया। इसके अलावा परमात्मा को पाने का दूसरा सरल मार्ग भक्ति का है। कुछ न करके सब कुछ भक्ति पर ही छोड़ देने से परमात्मा के घर का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। महात्मा बुद्ध और स्वामी महावीर ने इसी मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त किया। कुछ अच्छे कर्म करके एवं कुछ अपने ज्ञान के बल पर प्रभु की शरण में पहुंच जाते हैं।

3. **गीता योग:**- गीता योग के अन्तर्गत भक्ति योग, ध्यान योग, सांख्ययोग, आत्मसंयम योग, सन्यास योग, और कर्म योग आते हैं। गीता में 2 की प्रमुख परिभाषाएँ है:- 1. "समत्व योग है।" 2. "योग: कर्मसु कौशलम।"

जीवन में समता का आ जाना ही योग है तथा कार्य की कुशलता ही योग है यह गीता में वर्णित है।

4. **अष्टांग योगः**- अष्टांग शब्द संस्कृत भाषा के दो शब्दों अष्ट+अंग से मिलकर बना है। अष्ट का अर्थ हैं" "आठ व अंग का अर्थ है हिस्सा या भाग।" योग के इस प्रकार का पालन करना योग के अन्य प्रकारों से कठिन है। योग की इस श्रेणी को अपनाकर व्यक्ति अपना सामजिक जीवन व अपने मन पर नियन्त्रण रखकर अपने शरीर को शक्तिशाली बना सकता है। अष्टांग के इन आठ अंगों–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि को अपनाकर व्यक्ति अपनी सांसारिक यात्रा पूरी करता है।

5. **हठयोगः**- हठयोग, योग के अन्य प्रकारों में सबसे मुख्य व विशेष योग है। यहाँ तक कि कई ज्ञानी इसको ही पूर्ण योग समझते हैं। हठ योग से शारीरिक क्रियाओं में पूर्णता आती है। पश्चिम में इसे उत्साह और मन में उमंग पैदा होना माना जाता है। मनुष्य के स्वभाव में सकारात्मक व नकारात्मक 2 प्रकार के स्वभाव पाये जाते हैं। इन दोनों स्वभावों का मेल हठ योग से होता है। इन्हीं दो शाक्तियों के मिलने से रचनात्मक शक्ति का निर्माण होता है।

हठयोग शरीर को सबल, शक्तिशाली और सभी प्रकार के वाह्य प्रभावों को स्वयं में समर्थ बनाकर चित्त वृत्तियों का विरोध करना सीखता है। हठयोग के द्वारा शरीर को शक्तिशाली और रोगों से निष्प्रभाव बताया जा सकता है। हठयोग की समस्त क्रियाएँ, मुद्राएँ और षट्कर्म एवं सम्प्रदान ऐसे ही हैं जो शरीर को सबल, स्वस्थ, निरोग और असाधारण बनाकर कुण्डलिनी जागरण में मदद करते हैं और ध्यान के लिए तैयार करते हैं। हठयोग के कई योगाचार्यो ये 7 अंग बतलावे हैं:-

1. षठकर्म 2. आसन, 3. मुद्रा 4. प्रत्याहार, 5. प्राणायाम, 6. ध्यान, 7. समाधि ।

6. **मन्त्रयोगः**- वह योग जिसका बार–बार उच्चारण करने से इच्छित ऩल की प्राप्ति हो जाए या जिन बातों में जो भी विश्वास रखते हैं उनका मन में बोलकर उच्चारण करना मन्त्रयोग की विधि है। यह योग समाधि की स्थिति में बैठकर भी किया जाता है। ऊँ नमः शिवाय, सीताराम, हरे कृष्णा बाहे गुरू, जय जिनेन्द्र आदि का उच्चारण इसी के अन्तर्गत आता है। मन्त्र योग से व्यक्ति का मन पवित्र होता है, व्यक्ति में अहंकार की भावना नहीं रहती जिसके ऩलस्वरूप व्यक्ति पवित्र आत्माओं वाला बन जाता हैं इस योग से व्यक्ति स्वयं को आध्यात्मिक ऊंचाइयों की दिशा में ले जाकर योग की शक्ति से दीप प्रज्जवलित करना, वर्षा कराना आदि भी सम्भव है। प्रभु से समपिताय योग सबसे उपयुक्त साधन है। मन्त्रयोग की सहायता से व्यक्ति अपनी जीवन यात्रा स़ल करते हुए परम तत्व में विलीन हो जाता है।

7. **लय योगः**- लययोग को मध्यम श्रेणी के लोग कर सकते हैं अर्थात् ऐसे व्यक्ति जिनको योग की महारथ हासिल न हो वे भी ध्यान की स्थिति में मन को एकाग्र चित्त करके लय योग कर सकते हैं। लययोग में व्यक्ति स्वयं को ध्यान की स्थिति में रखकर अपने मन के अन्दर उठने वाली वृत्तियों पर नियन्त्रण रखना सीखता है। यदि वह इन वृत्तियों पर अंकुश लगाने में सफल हो जाता है तो वह परमात्मा को बड़ी जल्दी पा सकता है।

8. **कुंडलिनी योग**- कुंडलिनी योग एक ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति को अपने अन्दर छिपी शक्तियों से परिचय

कराती है तथा व्यक्ति की इन आन्तरिक शक्तियों को जाग्रत कर उसको इस संसार रूपी माया जाल से अवगत कराती है। कुंडलिनी योग को महान योगियों ने अद्‌भुत ऊर्जा का स्रोत बताया है। यह कुंडलिनी जागने पर शांत या निष्क्रिय नहीं रहती अपितु साधक को अपराजेय शक्तियों का स्वामी बना देती है।

यह कुंडलिनी मेरूदण्ड के सबसे निचले हिस्से में सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है जैसे किसी सांप ने कुंडली मारी हो। सांप के आकार का होने के कारण ही इसका नाम कुंडलिनी योग पड़ा है। कुंडलिनी को जाग्रत करने के लिए ईश्वर के प्रति अनुराग, सिद्ध महापुरूषों की कृपा व आशीर्वाद का सहारा लिया जा सकता है। कुंडलिनी योग अनन्त ज्ञान सुख और शक्ति की जननी है। कुंडलिनी योग से मनुष्य स्वयं को देवता सिद्ध या महापुरुष बना सकने में सक्षम हो सकता है।

आधुनिक जीवन में योग का महत्व:- प्राचीन काल से ही योग का महत्व सर्वविदित है। योग विश्व को भारत की ही देन है। प्राचीन भारत में ऋषि-मुनी व योगी, योग के माध्यम से अपने वाह्य व आन्तरिक शारीरिक अंगों को स्वस्थ व निरोग रखते थे। उस समय में योग एक ऐसी रोग-नाशक औषधि का कार्य करता था जो आज के युग में चिकित्साशास्त्र करता है।

वर्तमान युग में व्यक्ति विभिन्न समस्याओं व तनावों से घिरा रहता है। व्यक्ति का जीवन समस्याओं से भरा है। हरपल समस्याएं हमारे सामने खड़ी रहती है। कभी धन की समस्या, कभी बच्चों की समस्या, कभी राशन की समस्या, कभी काम भी समस्या, कभी रोगों की समस्या आदि। इन सब समस्याओं का हल शान्त मन व स्वस्थ शरीर से ही निकल सकता है। जब हमारा शरीर स्वस्थ होगा, मन शान्त होगा, तो हम अपनी समस्याओं का हल स्वयं निकाल लेंगे, हम में निडरता आयेगी, हमें भय नहीं सतायेगा। समस्या का हल होने पर व्यक्ति में प्रसन्नता आयेगी, वह स्वयं को तरोताजा व हल्का अनुभव करेगा। इसके विपरीत जब कोई काम बिगड़ जाता है या किसी काम का परिणाम ठीक नहीं निकलता है तो आप तब भी शान्त रहेंगे और आपको सन्तोष रहेगा कि "अपनी ओर से पूर्ण प्रयास किया था।" आपका आत्मविश्वास डिगेगा नहीं। जब आत्मविश्वास सन्तोष और प्रसन्नता बनी रहेगी तब वह आनन्द का रूप ले लेगी यही आनन्द परमात्मा है और यही योग है।

सत्य तो यह है कि योग हमें ऐसे लोक में ले जाता है जहाँ किसी प्रकार की कोई समस्या नहीं है वहां परम सुख है। योग तो ज्ञान की गंगा है जिस की प्रत्येक बूंद में रोग को नष्ट करने की अद्वितीय शक्ति है। दोनों ईश्वर से मिलने का मार्ग प्रशस्त करने का माध्यम है। वर्तमान में प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र दामोदर मोदी के प्रयासों से पूरे विश्व ने योग के महत्व को स्वीकार कर लिया है और संयुक्त राष्ट्र संघ ने 21 जून को "विश्व योग दिवस" के रूप में मान्यता दे दी है। आज विश्व में अनेक विकसित देशों में वैज्ञानिक व चिकित्सक भी योग के माध्यम से असाध्य रोगों का इलाज करने के पक्ष में अपने विचार देने लगे हैं। योग के महत्व को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं:-

1. ईश्वर से मिलाने का सर्वोच्च साधन।
2. शारीरिक शक्तियों का विकास करता है।

3. मानसिक शक्तियों का विकास कर व्यक्ति की मन: स्थिति ठीक रखता है।
4. शरीर की आन्तरिक स्फाई निरन्तर होती रहती है।
5. शारीरिक अंगों में सृदृढ़ता व लचक लाना।
6. शारीरिक तन्त्रों का ठीक से कार्य करने में सहायक।
7. शरीर को आदर्श काया प्रदान करते में सहायक।
8. व्यक्ति को चरित्रवान बनाता है।
9. विभिन्न प्रकार के रोगों के उपचार व रोकथाम में सहायक।
10. शारीरिक थकान से मुक्ति दिलाता है।
11. मानसिक स्थिरता होने से प्रसन्नता का अनुभव होना।
12. नैतिक अनुशासन के विकास में सहायक।
13. वृद्धि एवं विकास में सहायक।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज के युग की भागमभाग जिन्दगी में योग का जीवन में सम्मिलित करना नितान्त आवश्यक है। योग से ही हमें जीवन जीने की कला में परमसुख की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ

1. गीता (1.50)
2. योग दर्शन (1.2)
3. योग दर्शन (1.1)
4. योग समन्वय- श्री अरविन्द (1.50)
5. विद्यालय प्रशासन संगठन एवं स्वास्थ शिक्षा - मित्तल आर०ए० शर्मा बी०एल०
6. योग-साधना एवं योग-चिकित्सा रहस्य - रामदेव स्वामी
7. यम नियम - आचार्य श्रीराम
8. प्राणायाम रहस्य - रामदेव स्वामी
9. विद्यालय प्रशासन संगठन एवं स्वास्थ शिक्षा - सुखिया एस० सी० त्यागी गुरसरण
10. विद्यालय प्रशासन एवं स्वास्थ शिक्षा - शर्मा कुसुम

वर्तमान परिदृश्य में उरांव जनजाति के बदलते परंपरागत प्रतिमानः सामाजिक- सांस्कृतिक संदर्भ में

*__डॉ. विकास कुमार__
सहायक आचार्य,
ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज
**__अंकुर कुमार पाण्डेय__
शोध- छात्र
ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज

सारांश-

भारत भौगोलिक दृष्टिकोण से एक विशाल देश है। यहाँ का भौगोलिक क्षेत्र एक-दूसरे से भिन्न तथा पृथक विशेषताओं के कारण अपनी भिन्न पहचान रखते हैं। सामान्यतः इन क्षेत्रों में रहने वाले निवासियों के रहन-सहन, कर्म, कला, भाषा और साहित्य के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों में भी भिन्नता पाई जाती है। इन्हीं भिन्नताओं में एक वर्ग है आदिवासी समुदाय का, जो देश के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक ढांचे का अभिन्न हिस्सा है। भारत में आदिवासियों को प्रायः 'जनजातीय लोग' के रूप में जाना जाता है। भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए 'अनुसूचित जनजाति' पद का उपयोग किया गया है। भारतवर्ष में पायी जाने वाली जनजातियों में उरांव जनजाति एक मुख्य जनजाति है। उरांव जनजाति भाषा के आधार पर द्रविड़ वर्ग की मानी जाती है। अतः इनकी उत्पत्ति भी द्रविड़ से मानी जाती है। उरांव जनजाति की पहचान उनकी संस्कृति, उनके धर्म एवं उनकी जीवन पद्धतियों में आवेष्ठित है, और आज तक ऐसा कोई प्रयास नहीं हुआ है कि इन जनजातियों की बिखरी हुई सांस्कृतिक एवं धार्मिक पद्धतियों में एकरूपता लाई जा सके तथा इनके सामाजिक, सांस्कृतिक इतिहास की एक व्यक्तिगत एवं व्यवस्थित जानकारी उपलब्ध हो सके।

सूचक शब्द- जनजाति, संस्कृति, परंपरा, परिवर्तन, सामाजिक, प्रतिमान, आधुनिकता, वैचारिकी, सभ्यता।

परिचय– जनजातीय समाज से आशय एक ऐसे समूह से लिया जाता है, जिसके पास अपना एक विशिष्ट नाम, बोली एवं क्षेत्र हो, साथ ही विशिष्ट रीति– रिवाज, विश्वास एवं धार्मिक अनुष्ठान हो तथा जो सामान्य उद्देश्य के लिए साथ काम करता हो। आदिवासी, वनवासी, गिरिजन तथा आदिम समूह आदि अन्य नाम से जाने जाने वाले इस समूह को ऑक्सफोर्ड शब्दकोश एक ऐसे जनसमूह के रूप में परिभाषित करता है, जो विकास की आदिम बर्बर अवस्था में रह रहा हो, जिसका एक प्रमुख हो, तथा जो अपने को एक ही वंश का माने।[1]

आदिवासी समुदाय को जनसंख्या की दृष्टि से देखा जाय तो विश्व में अफ्रीका के बाद भारत का स्थान आता है। भारत की जनजातीय संख्या जो 1981 की जनगणना के अनुसार 5.38 करोड़ थी 1991 में बढ़कर 6.77 करोड़ हो गयी। 2011 की जनगणना के अनुसार जनजातियों की जनसंख्या 10,42,81,034 है जो कुल जनसंख्या का 8.06 प्रतिशत है। 2011 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियों के रूप में अधिसूचित व्यक्तिगत समूहों की संख्या 705 है। इनमें से 75 जनजातियाँ टनसदमतंइसम है, जिन्हें प्रिमिटिव ट्राइबल ग्रुप के नाम से भी जाना जाता है। जनसंख्या की अनुपात की दृष्टि से आदिवासी जनसंख्या का प्रतिशत प्रत्येक राज्य में भिन्न है।[2]

झारखंड जनजातियों की दृष्टि से भारत का एक प्रमुख राज्य है। यहाँ 32 प्रकार की अनुसूचित जनजातियाँ हैं। अनुसूचित जनजातियों को दो श्रेणियों में रखा गया है – प्रमुख जनजाति और आदिम जनजाति। झारखंड में 24 जनजातियाँ प्रमुख जनजाति की श्रेणी में तथा 8 आदिम जनजाति की श्रेणी में आती हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार राज्य में जनजातियों की कुल आबादी 86.45 लाख है। जिसमें प्रमुख जनजातियों कुल आबादी करीब 83.52 लाख है वहीं 8 आदिम जनजाति की कुल आबादी 2.93 लाख है। जनगणना 2011 के आंकड़ों के अनुसार–राज्य की तीन सबसे बड़ी जनजाति – संथाल (27.54 लाख), उराँव (17.16 लाख), मुंडा (12.29 लाख) है।[3]

उरांव जनजाति

भारतवर्ष में पायी जाने वाली जनजातियों में उरांव जनजाति एक मुख्य जनजाति है। उरांव जनजाति भाषा के आधार पर द्रविड़ वर्ग की मानी जाती है। अतः इनकी उत्पत्ति भी द्रविड़ से मानी जाती है। ई. ए. गैट के अनुसार कुड़ुख शब्द प्राचीन द्रविड़ भाषा का एक मूल शब्द है जिसका अर्थ 'मनुष्य' होता है और यह शब्द 'कड़ख' राजा से एकाकार कर उरांवों ने उसे अपना जनक लगभग उसी प्रकार माना है जिस प्रकार मनु से मानव का जन्म हुआ है। छोटा नागपुर पठार के पश्चिमी भाग में जिस जनजाति की सबसे घनी आबादी है वह अपने को कुड़ुख मानती है पर जनसाधारण एवं सरकारी कामकाज की भाषा में यह जनजाति उरांव नाम से जानी जाती है।[4]

उरांव जनजाति की अपनी जमीन होती है जिसमें उनका अपना स्वामित्व होता है। इनका आर्थिक–जीवन कृषि पर निर्भर है। इसलिए इनके सामाजिक नियम एवं धार्मिक क्रियाओं में प्रकृति से गहरा संबंध है। इनका गाँव

जंगल, पहाड़ एवं पर्वतों के निकट बसा होता है। इस पर इनका सामूहिक रूप से स्वामित्व होता है। इसलिए एक व्यक्ति विशेष का संबंध पूरे समाज के लोगों के साथ बंधा होता है।[5] यही व्यवस्था उनका सामाजिक संगठन है जिसके माध्यम से वे अपने समाज को नियंत्रित करते हैं एवं समाज में शांति एवं सुव्यवस्था बनाए रखते हैं।

उरांव जनजाति की पहचान उनकी संस्कृति, उनके धर्म एवं उनके जीवन-पद्धतियों में आवेष्ठित है। इनका सांस्कृतिक केंद्र स्थल 'अखड़ा' होता है। यहाँ पर्व-त्योहार में विशेष नाच-गान होता है। यहीं पर अखड़ा से सटा हुआ धूमकुड़िया होता है जो इनका सांस्कृतिक प्रशिक्षण केंद्र होता है। इनका राजनीतिक संगठन भी बहुत मजबूत होता है जिसे पड़हा के नाम से जाना जाता है। पड़हा की बैठकें प्रायः सांस्कृतिक केंद्र स्थल 'अखड़ा' में ही होती हैं। अपने सभी प्रकार के विवादों का निपटारा इसी पड़हा द्वारा किया जाता है।[6] इनका सामाजिक संगठन भी बहुत मजबूत होता है। इसे मजबूत बनाने के लिए समाज में कई संस्कार, रीति-रिवाज, प्रथा एवं परंपरा है जिसके आधार पर विवाह, नातेदारी व्यवस्था एवं स्त्री-पुरुष के बीच समानता पाई जाती है।

उरांव जनजाति का सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप एवं उसमें परिवर्तन

उरांव समाज गोत्र पर आधारित है। गोत्र जनजाति सामाजिक संगठन का एक महत्वपूर्ण आधार होता है। गोत्र का प्रारंभ परिवार के किसी प्रमुख पूर्वज से होता है। वह इस पूर्वज से प्रमुख और प्रतिष्ठित होने के करण उसे परिवार का प्रवर्तक या संस्थापक माना जाता है। इसी करण उसी के नाम से परिवार के सभी वंशजों का परिचय दिया जाता है। उरांव जनजाति में गोत्र के बीच कोई ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं पाया जाता है। सभी गोत्र की सामाजिक स्थिति बराबर है एवं अपनी ही जाति के अंदर किसी भी गोत्र (अपने गोत्र को छोड़कर) से विवाह कर सकता है। डॉ. दिवाकर मिंज ने अपनी पुस्तक 'मुंडा एवं उरांव का धार्मिक इतिहास' में लिखा है- गोत्र का सीधा संबंध विवाह की संस्था और धर्मेश की इच्छा से है।[7]

इस तरह गोत्र एवं टोटम उरांव जनजाति के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखता है। गोत्र उरावों में एक पक्षीय सामाजिक बंधनों का प्रतिमान है। गोत्र की सदस्यता जन्म पर आधारित होती है। एक गोत्र के सदस्य एक ही पूर्वज में विश्वास करते हैं। ये पूर्वज एक कल्पित मानव अथवा मानव के समान पशु, पेड़-पौधे या निर्जीव वस्तु हो सकते हैं।

उरांव समाज का आर्थिक आधार कृषि है। अतः इनका परिवार संयुक्त होता है। सभी का भोजन एक जगह पर बनता है एवं सभी प्रकार का नियंत्रण भी एक ही जगह से होता है। परिवार व्यक्ति को समाज के अनुरूप बनाता है। समाज के रीति-रिवाज, परंपरा, नीति-नैतिकता इत्यादि परिवार के द्वारा सदस्यों को सिखाया जाता है। संस्कृति की निरन्तरता बनाए रखने, उसे स्थायित्व प्रदान करने और प्रभावपूर्ण बनाने में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उरांव समाज में मुख्यतः समुन्नत परिवार पाया जाता है। इस परिवार व समाज में लड़की बोझ नहीं समझी जाती है बल्कि लड़की का विशेष स्थान होता है और इसलिए लड़की के जन्म पर माता-पिता को विशेष खुशी व संतुष्टि होती है।[8] विवाह के संबंध में भीखू तिरकी ने

अपनी पुस्तक में बताया है कि 'उरांव समाज में एक ही पति-पत्नी की प्रथा है' इस समाज में बहुपति, बहुपत्नी अथवा समूह विवाह का प्रचलन नहीं है।[9] इस समाज में एक विवाह की महत्ता जीवन पर्यंत तो होती ही है मरने के उपरांत भी इसकी महत्ता उतनी ही बनी रहती है। उरांव समाज में विवाह से पूर्व सर्वप्रथम गोत्र का पता लगाया जाता है क्योंकि झारखंड क्षेत्र के सभी आदिवासी अपनी ही जाति में बहिरगोत्रीय विवाह करते हैं। उरांव समुदाय में विवाह की रस्म को पूरा करने में "अगुवा" का महत्वपूर्ण स्थान होता है। लड़का खोजना और विवाह की बात तय करना माता-पिता नहीं वरन अगुवा द्वारा किया जाता है। इसीलिए अगुवा के बिना विवाह संभव नहीं होता है।

उरांव समाज में दहेज प्रथा नहीं है। इस समाज मे बाल-विवाह की प्रथा भी नहीं पाई जाती है। जिस तरह लड़कों के लिए 'धुमकुड़िया' प्रशिक्षण केंद्र है उसी तरह लड़कियों के लिए 'पेल्लो एड़पा' है जिसमें वे एक निश्चित उम्र तक सामाजिक-सांस्कृतिक शिक्षा ग्रहण करती हैं। जो एक सफल परिवारिक, सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य है। यहाँ उन्हें जीवन से संबंधित सभी अनिवार्य प्रकार की शिक्षा दी जाती है। उरांव समाज में विधवा विवाह का भी प्रचलन पाया जाता है। इस विवाह को 'सांगहा' कहा जाता है। यह सरल विधि द्वारा तय किया जाता है। इस विवाह में लोगों की संख्या काम होती है एवं साधारण विवाह से अलग बहुत सादे ढंग से इसको सम्पन्न किया जाता है।[10]

उरांव जीवन निम्नलिखित संस्कारों से आबद्ध है-[11]

- षष्ठी या शुद्धि-करण संस्कार
- नमकरण संस्कार
- जूड़ो-एड़ा या केश बंधन संस्कार
- जोख एड़पा या धुमकुड़िया में प्रवेश संस्कार
- विवाह संस्कार
- मृत्यु संस्कार

प्रमुख देवता-

- धर्मेश
- पितर देवता या पच बालर
- ग्राम देवता/देवी
- देवता एवं नाद

प्रमुख पर्व-

- फागु
- सरहुल हरिअरी
- कादलोटा
- करम
- जीतिया
- सोहराई
- खरा-पूजा

औद्योगीकरण, शहरीकरण, आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण, श्रम-विभाजन, अन्तर्जातीय विवाह, धर्मांतरण इत्यादि प्रमुख कारक हैं जिनसे उरांव जनजाति के परंपरागत प्रतिमान व सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप में तीव्र गति से परिवर्तन परिलक्षित होता है। इन सभी कारकों ने उरांव जनजाति की परंपरागत सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक जीवन, सामाजिक संस्थाओं तथा व्यक्तिगत व्यवहार एवं प्रतिमानों को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। बेशक उपरोक्त कारकों या प्रभावों से आदिवासी समाज लाभान्वित भी हुआ है लेकिन लाभ का प्रतिशत कम तथा हानि या नुकसान का प्रतिशत अधिक है। जिसके परिणामस्वरूप आज यह जनजातीय समुदाय अपने आप को सुरक्षित नहीं महसूस कर रहा है एवं अपनी मूल व विशिष्ट संस्कृति और अस्मिता को लेकर चिंतित है। श्री विक्टर तिग्गा 9 अगस्त के विशाल समारोह में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'औद्योगीकरण के कारण विस्थापन हो रहा है और गरीबी के कारण इनका पलायन हो रहा है। इनकी संस्कृति विघटित हो रही है। और संस्कृति का विघटित होना जनजातियों की मूल समस्या है'।[12] संस्कृति से टूटकर कोई आदिवासी अपनी पहचान कायम रख पाने में सर्वथा असमर्थ होती है। संस्कृति रक्षा से ही आदिवासी की रक्षा संभव है और आदिवासी की विरासत को बचाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि आदिवासियों को उनके जंगल तथा जमीन से अलग नहीं किया जाए।

सांस्कृतिक परिवर्तन ने उरांव जनजाति के जीवन में अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। इनका सामाजिक जीवन बहुत सरल था। सामूहिकता और सहयोगिता के विचार थे। लेकिन आधुनिकरण ने उन्हें अधूरा विकसित किया एवं अधूरी शिक्षा दी। आज इस आधे-अधूरे विकास ने इन्हें इस तरह दोराहे पर खड़ा किया जहाँ से वे न पीछे लौट सकते हैं और न ही आगे बढ़ पा रहे हैं।[13] उरांव समुदाय भी परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। उरांव समाज में सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभाव प्रायः दो तरह से पड़ रहा है। पहला प्रभाव हिन्दुत्व की ओर से पड़ रहा है एवं दूसरा प्रभाव इसाई धर्म की ओर से पड़ा है। वर्तमान में शिक्षित और विकसित कहे जाने वाले उरांव समाज का मूल स्वरूप विखरता नजर या रहा है। उरांव संस्कृति के धर्म, विचार-दर्शन और मूल्यों

का ह्रास हो रहा है।[14] अब शिक्षित, विकसित और आधुनिक उरांव समाज सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के पश्चात एक विकृत उरांव समाज का निर्माण कर रहा है।

साहित्य समीक्षा

रॉय, शरत चंद्र[15] 'द उराँव ऑफ छोटा नागपुर' पुस्तक में उरांव जनजाति की ऐतिहासिक आगमन यात्रा, धर्म, विश्वास, परंपरा, एवं उनकी जीवन-शैली की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते है। पुस्तक में दर्शाया गया है कि 1971 की जनगणना में दक्षिण एशिया में 17,02,663 व्यक्तियों में उरांव सबसे बड़ी जनजातियों में से एक थी। उनमें से लगभग आधे बिहार के मुख्य रूप से छोटानागपुर पठार पर रहते थे, शेष मध्यप्रदेश, उड़ीसा एवं पश्चिम बंगाल में थे। वे एक द्रविड़ भाषा बोलते थे जिसे प्रायः कुँड़ुख नाम से जाना जाता है। उरांव का पड़ोसी मुंडा जनजाति से बड़ा गहरा संबंध था और उरांव के बीच कोई उपजाति नहीं थी। कुड़स और किसान अपना अलग-अलग पेशे रखते हैं, आपस में शादी करते हैं, इससे परे उरांव गाँव और कबीले के बहिष्कार का पूर्णतया पालन करते हैं। जनजाति के छोटे अल्पसंख्यक इसाई हैं और बहुसंख्यक हिन्दू पूजा पद्धति का पालन करते हैं। उरांव जनजाति की शारीरिक विशिष्टता के साथ-साथ उनके युवागृह एवं जनजातीय समाज में कैसे सामाजिक संस्थाएं एवं नियम क्रियान्वित होते हैं इसका भी विस्तृत वर्णन पुस्तक में किया गया है।

प्रसाद, नर्मदेश्वर[16] अपने शोध अध्ययन 'लैंड एंड पीपुल ऑफ ट्राइबल बिहार' में बिहार की मुख्य जनजातियों (उरांव, मुंडा, हांस, बरहाँस और संथाल) के रहन-सहन, सांस्कृतिक परम्पराओं तथा सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का चित्रण करते हुए उनकी आवासीय स्थिति एवं भौगोलिक सीमाओं का विवरण प्रस्तुत किया है। निष्कर्षतः यह अवधारणा पाई गई है कि जनजातीय जीवन की समस्या व्यक्तिगत न होकर सामुदायिक है तथा इनके तनावपूर्ण एवं संघर्षमय जीवन को विवेक और भावुकता के सामंजस्य रूप से सुलझाया जा सकता है।

मिंज, दिवाकर[17] 'मुण्डा एवं उराँव का धार्मिक इतिहास' पुस्तक में मुण्डा एवं उराँव जनजातियों के मूल स्थान की तलाश की गई है तथा उन मार्गों पर भी विचार किया गया है जिनसे होकर ये जनजातियाँ छोटानागपुर पहुँची थी। उनके इस भटकाव क्रम में उन प्रभावों का भी विचार किया गया है जो उनके धर्म के व्यवहारिक एवं आध्यात्मिक संरचना को विकसित करने में सहायक हुए हैं चूँकि लेखक स्वयं जनजातीय जीवन का एक अंग है तथा धर्म एवं समाज को निकटता से जी चुके हैं। अपने गहन परिश्रम से उन्होंने तथ्यों को एकत्रित किया है जो जनजातीय धर्म के इतिहास को तर्कसंगत आधार प्रदान करते हैं लेखक ने मुण्डा एवं उराँव जनजाति के देवताओं के देवत्व विकास का क्रमिक अध्ययन प्रस्तुत किया है तथा विभिन्न धार्मिक संस्थाओं के विकास क्रम में निहित जनजातीय धर्म- दर्शन को भी प्रकाशित किया है। लेखक का मानना है कि जिस प्रकार संसार प्राचीन जातियों के देवताओं के उद्भव एवं विकास का आधिभौतिक आधार प्रकृति या प्रकृति जन्य दृश्यमान घटनाएं हो रही हैं उसी प्रकार मुण्डा एवं उराँव जनजाति के देवताओं का भी आधिभौतिक आधार प्रकृति में ही निहित है साथ ही मुण्डा एवं उराँव में भी क्षेत्रीय देवता पाए जाते हैं। ऐतिहासिक साक्ष्यों से परिपूर्ण यह पुस्तक आदिवासी धर्म विशेषकर मुण्डा एवं उराँव धर्म में रुचि रखने वालों के लिए अत्यंत उपयोगी है।

त्रिवेदी, मधुसूदन[18] की पुस्तक 'सामाजिक नृविज्ञान' कुल 13 अध्यायों में विभक्त करके पूर्ण की गई है उन्होनें जनजातियों का अध्ययन करने वाले विज्ञान 'मानवशास्त्र' का परिचय एवं उनका अन्य विज्ञानों से संबंध, जनजाति संस्कृति, उनकी संरचना के साथ-साथ जनजातीय समाज के बीच विवाह, परिवार एवं नातेदारी से जुड़ें पक्षों की गंभीर एवं विशद विवेचना की है। इसके अतिरिक्त पुस्तक में भारत में जनजातीय समाज की समस्याओं का भी वर्णन किया गया है।

खलखो, डॉ. शांति[19] 'उराँव संस्कृतिः परिवर्तन एवं दिशाएं' पुस्तक के अध्ययन एवं विश्लेषण से यह तथ्य उभरकर सामने आया है कि उक्त पुस्तक सघन शोध कार्य के द्वारा संग्रहित सूचनाओं के आधार पर एक मौलिक रचना है। यद्यपि यह पुस्तक उनके शोध प्रबंध के सार सामग्रियों पर आधारित है और उराँव संस्कृति एवं उनके विभिन्न पहलू तथा सामाजिक विन्यास, सांस्कृतिक परिवेश तथा आर्थिक गतिविधियों की बेजोड़ प्रस्तुति है। उराँव जनजाति की अतीत और वर्तमान की शिनाख्त करते हुए पुस्तक में उराँव समाज के ह्रास के कारकों की बड़ी बारीकी से तलाश की गई है।

मजूमदार, डी.एन., मदन, टी.एन.[20] की पुस्तक 'सामाजिक मानवशास्त्र परिचय' मानवशास्त्र और जनजातीय समाज का एक प्रामाणिक दस्तावेज है। इस पुस्तक को लेखक द्वय ने कुल 16 अध्यायों में विभक्त करके पूर्ण किया है। इस पुस्तक में लेखक ने जनजातियों की संस्कृति, विवाह, परिवार और नातेदारी के साथ उनके आर्थिक संगठन एवं उनके बीच धर्म, जादू व कला के साथ जनजातीय सामाजिक संगठन का तथ्यपरक विवेचन प्रस्तुत किया है।

अटल, योगेश एवं सीसोदिया, यतीन्द्र सिंह[21] की पुस्तक 'आदिवासी भारत' विविध जनजातीय समाजों के तथ्यपरक विवेचन प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक में लेखक ने आदिवासी भारत के परिचयात्मक विश्लेषण के साथ-साथ आदिवासियों की बदलती जनसंख्यात्मक स्थिति का भी विश्लेषण किया है। पुस्तक यह भी सुनिश्चित करती है कि आज जनजातीय समाज अपने परंपरागत जीवन-शैली से दूर हिंदुत्व के द्वार पर कदम रख चुका है।

उत्प्रेती, हरिश्चंद्र[22] की पुस्तक 'भारतीय जनजातियाँः संरचना एवं विकास' भारत में जनजातियों की संरचना एवं उनके विकास पर एक तथ्यपरक परिप्रेक्ष्य रखती है। पुस्तक जनजातीय समाज के बीच उनकी सामाजिक संरचना, विवाह प्रणाली, नातेदारी, गोत्र, व्यवस्था, वंश परंपरा, वसीयत, उत्तराधिकार एवं आवास व्यवस्था के साथ-साथ उनके बीच राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था का विवेचन तथ्यपरक ढंग से किया गया है।

अहमद, जियाउद्दीन[23] की पुस्तक 'बिहार के आदिवासी' बिहार के समस्त जनजातियों के बीच धर्म, जादू, टोटम, युवागृह के साथ-साथ विवाह, परिवार और नातेदारी जैसे पक्षों का गंभीर एवं तथ्यपरक विवेचन प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक खास तौर से उरांव, मुंडा, संथाल, हो, बिरहोर, खरिया जनजाति की संस्कृति के साथ-साथ आदिवासी समाज में स्त्रियों की स्थिति, उनके बीच अर्थव्यवस्था एवं उनके विभिन्न संगठनों को बेहतर ढंग से प्रदर्शित करती है।

उद्देश्य–

प्रस्तुत शोध–आलेख के अधोलिखित उद्देश्य हैं–

1. उरांव जनजाति के प्राचीन एवं वर्तमान रीति–रिवाजों एवं संस्थाओं का अध्ययन करना।
2. उरांव जनजाति के सामाजिक–सांस्कृतिक रूपांतरण का अध्ययन करना।
3. उरांव जनजाति के सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले प्रभावशाली कारकों की पहचान करना

शोध प्रश्न

प्रस्तुत शोध आलेख को अधोलिखित शोध प्रश्न के आधार पर परिसीमित किया गया है–

1. क्या उरांव जनजाति में उनका सांस्कृतिक जीवन और धार्मिक विश्वास आज भी जीवंत है?
2. क्या वर्तमान समय में उरांव जनजाति के सामाजिक–सांस्कृतिक प्रस्थिति में रूपांतरण झलक रहा है?
3. क्या आधुनिक प्रक्रियाओं के कारण उरांव जनजाति अपने मूल स्वरूप से विलग हो गया है?

शोध पद्धति– प्रस्तुत शोध का अध्ययन क्षेत्र झारखंड राज्य के गुमला जनपद के विशुनपुर प्रखण्ड का गुरदारी ग्राम है। प्रस्तुत शोध को पूर्ण करने के लिए अध्ययन क्षेत्र के रूप में झारखंड में स्थित गुमला जनपद के 12 प्रखंडों में से विशुनपुर प्रखण्ड का चयन किया गया है। तदोपरांत उद्देश्यपूर्ण निदर्शन पद्धति का प्रयोग करते हुए विशुनपुर प्रखण्ड के गुरदारी ग्राम का चयन किया गया है। 2011 की जनगणना के अनुसार गुरदारी गाँव में लोगों की कुल संख्या 3309 है। यही जनसंख्या प्रस्तुत शोध के समग्र रूप में है। प्रस्तुत अध्ययन के अंतर्गत न्यादर्श के रूप में सम्पूर्ण समग्र में से उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि से कुल 100 लोगों को चयनित किया गया है। शोध की पद्धति वर्णनात्मक है। इसमें साक्षात्कार एवं साक्षात्कार अनुसूची विधि के माध्यम से तथ्यों का संकलन किया गया है। शोध को पूर्ण करने के प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों स्रोतों से प्राप्त तथ्यों का प्रयोग किया गया है।

विश्लेषण– चयनित उत्तरदाताओं से साक्षात्कार एवं साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से प्राप्त तथ्यों के आधार पर विश्लेषण, उसके परिणाम एवं प्रतिवेदन को निम्नलिखित बिंदुओं पर प्रस्तुत किया गया है–

तालिका संख्या 1

सामाजिक संस्थाओं (विवाह, परिवार, नातेदारी) के स्वरप में परिवर्तन

परिवर्तन का स्तर	आवृत्ति	प्रतिशत
परिवर्तन हुआ है	52	52
परिवर्तन नहीं हुआ है	47	47
पता नहीं	01	01
योग	100	100

उपर्युक्त तालिका को देखें तो स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है कि 52 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने यह स्वीकार किया है कि सामाजिक संस्थाओं (विवाह, परिवार, नातेदारी) के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है। जबकि 47 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने यह स्वीकार किया है कि संस्थाएं अपने पुरातन स्वरूप में ही विद्यमान हैं। वहीं 1 प्रतिशत उत्तरदाता ने इस संबंध में पता नहीं के विकल्प को चुना है। तथ्यों के विश्लेषण से यह अवधारणा निर्मित होती है कि विवाह की पद्धति, संयुक्त परिवार से एकाकी परिवार की संख्या में वृद्धि तथा आवागमन या यातायात के संसाधनों में वृद्धि के फलस्वरूप नातेदारी के स्वरूप में भी बदलाव हुआ है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जनजातीय समाज के सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है।

तालिका संख्या 2

सांस्कृतिक जीवन और धार्मिक विश्वास के स्वरूप में परिवर्तन

परिवर्तन का स्तर	आवृत्ति	प्रतिशत
परिवर्तन हुआ है	71	71
परिवर्तन नहीं हुआ है	27	27
पता नहीं	02	02
योग	100	100

उपर्युक्त तालिका के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि 71 प्रतिशत उतरदाताओं ने यह स्वीकार किया है कि उरांव जनजाति के सांस्कृतिक जीवन और धार्मिक विश्वास के स्वरूप में बदलाव हुआ है। जबकि 27 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इससे असहमति जताई है। वहीं 2 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कोई उत्तर नहीं दिया है। अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि उरांव जनजाति के प्राचीन जीवन-शैली एवं धार्मिक विश्वास में क्रमश: आंशिक रूप में ही सही लेकिन बदलाव हो रहा है अर्थात उनके सांस्कृतिक जीवन व धार्मिक विश्वास प्रणाली के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है।

तालिका संख्या 3

उरांव जनजाति में धर्मांतरण की स्थिति

धर्मांतरण की स्थिति	आवृत्ति	प्रतिशत
हुआ है	54	54
नहीं हुआ है	46	46
पता नहीं	0	0
योग	100	100

तालिका संख्या 3 में उरांव जनजाति में धर्मांतरण की स्थिति को दर्शाया गया है। उपर्युक्त तालिका में वर्णित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि 54 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने यह स्वीकार किया है कि उरांव जनजाति में धर्मांतरण हुआ है जबकि 41 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इसको स्वीकार नहीं किया है उनका मानना है की धर्मांतरण नहीं हुआ है वे अपने मूल स्वरूप में ही बने हुए हैं। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि उरांव जनजाति के लोग अनेक कारणों से स्व धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म (विशेषकर इसाई) की ओर उन्मुख हुए हैं। इस प्रकार देखा जाए तो बड़ी संख्या में उरांव जनजाति के लोगों ने धर्मांतरण किया है और यह प्रक्रिया आज भी गतिमान है।

तालिका संख्या 4

धर्मांतरण का उरांव जनजाति पर प्रभाव

प्रभाव	आवृति	प्रतिशत
सकारात्मक	23	23
नकारात्मक	75	75
पता नहीं	02	02
योग	100	100

उपरोक्त तालिका तालिका संख्या 3 का ही विस्तारित स्वरूप है कि यदि जनजातीय समुदाय में धर्मांतरण की स्थिति को देखा गया है तो उसका उरांव जनजाति पर क्या प्रभाव पड़ा है। तालिका में वर्णित तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि 75 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने यह स्वीकार किया है कि ध र्म परिवर्तन का उरांव समुदाय पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है जबकि 23 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने स्वीकारा है कि धर्म परिवर्तन से उनके जन-जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है और उनकी स्थिति बेहतर हुई है। शेष 2 प्रतिशत उत्तरदाता ने विकल्प पता नहीं का चुनाव किया है। अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि धर्म परिवर्तन से उरांव जनजाति के जन-जीवन पर सकारात्मक प्रभाव की अपेक्षा नकारात्मक प्रभाव अधिक पड़ा है वे अपने मूल संस्कृति व स्वरूप से कट जा रहे हैं।

तालिका संख्या 5

आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक प्रक्रियाओं का उरांव जनजाति पर प्रभाव

प्रभाव	आवृति	प्रतिशत
सकारात्मक	33	33
नकारात्मक	65	65
पता नहीं	02	02
योग	100	100

तालिका 5 में आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक (औद्योगीकरण, शहरीकरण, आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण, संस्कृतिकरण, श्रम-विभाजन, अन्तर्जातीय विवाह) प्रक्रियाओं का उरांव जनजाति पर कैसा प्रभाव पड़ा है, को दर्शाया गया है। उपर्युक्त तालिका में वर्णित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि 65 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने यह स्वीकार किया है कि आधुनिक प्रक्रियाओं का उरांव समाज पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। जबकि 33 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने सकारात्मक प्रभाव को स्वीकारा है और बताया है की इन प्रक्रियाओं से उनकी स्थिति बेहतर हुई है। वहीं 2 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने हमें पता नहीं है का जिक्र किया है। अस्तु निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक प्रक्रियाओं ने उरांव समुदाय के समग्र जीवन को सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों रूपों में प्रभावित किया है। सकारात्मक इस संदर्भ में कि उनके जीवन के कई क्षेत्रों (रोजगार के अवसर, शिक्षा, आवागमन, भौतिक सुविधाएं) में परिस्थितियाँ पहले से बेहतर हुई हैं और नकारात्मक इस संदर्भ में कि वे अपने सांस्कृतिक विशिष्टता व विरासत से दूर होते जा रहे हैं जिससे उनका मूल स्वरूप विखरा हुआ और अपने भविष्य के प्रति चिंतित नजर आता है।

तालिका संख्या 6

सरकारी योजनाओं स लाभ की स्थिति

लाभ की स्थिति	आवृति	प्रतिशत
आंशिक रूप में मिला है	52	52
पूरा मिला है	04	04
नहीं मिला है	21	21
पता नहीं	23	23
योग	100	100

तालिका 7 में उरांव जनजाति को सरकारी योजनाओं से लाभ की स्थिति को दर्शाया गया है। 52 प्रतिशत उत्तरदाताओं न यह स्वीकार किया है कि उन्हें सरकार के द्वारा संचालित योजनाओं का आंशिक रूप में लाभ मिल है। जबकि 21 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने स्वीकारा है कि उन्हें कोई भी लाभ नहीं मिल है। वहीं 23 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने बताया है कि उन्हें इसके बारे में कोई जानकारी नहीं है। मात्र 4 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने पूर्ण

लाभ की स्थिति को स्वीकार किया है। इस तथ्य से यह अवधारणा निर्मित होती है कि सरकार के द्वारा चलाई जा रही योजनाओं का सम्पूर्ण लाभ उरांव जनजाति को नहीं मिल पा रहा है। जागरूकता का अभाव, योजनाओं की निगरानी या पारदर्शिता में इच्छाशक्ति की कमी तथा भ्रष्टाचार इसके प्रमुख कारण हैं।

तालिका संख्या 7

जनजातीय संस्कृति के संरक्षण के लिए सरकार या एनजीओ का प्रयास

स्थिति	आवृति	प्रतिशत
प्रयास किया गया है	22	22
प्रयास नहीं किया गया है	71	71
पता नहीं	7	7
योग	100	100

उपर्युक्त तालिका में वर्णित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि 71 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने यह स्वीकार किया है कि जनजातीय संस्कृति के संरक्षण व संवर्धन के लिए सरकार या एनजीओ के द्वारा कोई प्रयास नहीं किया गया है। जबकि 22 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने बताया है कि जनजातीय संस्कृति महोत्सव, सामूहिक बैठकी, एनजीओ द्वारा जागरूकता अभियान, जनजातीय अनुसंधान के लिए अनुदान, आदिवासी आवासीय विद्यालय इत्यादि के द्वारा उनके संस्कृति का संरक्षण कर उसे बढ़ावा दिया जा रहा है। वहीं 7 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इस संबंध में जानकारी के अभाव में पता नहीं के विकल्प का चुनाव किया है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सरकार या एनजीओ के द्वारा प्रयास किया तो जा रहा है लेकिन अभी भी स्थानीय लोग ही विभिन्न कार्यक्रमों, रीति-रिवाज व संस्कारों के मध्याम से अपनी संस्कृति को गति दे रहे हैं।

तालिका संख्या 8

क्या वर्तमान पीढ़ी अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता व विरासत का संरक्षण कर उसे आगे अग्रसारित करेगी, के संबंध में विवरण

विवरण	आवृति	प्रतिशत
हाँ	79	79
नहीं	13	13
पता नहीं	08	08
योग	100	100

तालिका 8 में क्या उरांव जनजाति की वर्तमान पीढ़ी अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता को सहेजते होते हुए उसे आगे आने वाली पीढ़ी को अग्रसारित करेगी के विवरण को दर्शाया गया है। तालिका के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि 79 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने स्वीकार किया है कि हां वर्तमान पीढ़ी उनकी विशिष्टता को

सहेजते हुए उसे आगे गति देगी। जबकि 13 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इसको अस्वीकार किया है। वहीं 8 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इस संबंध में बताया है कि ऐसा करना तो चाहिए लेकिन नई पीढ़ी क्या करेगी हमें मालूम नहीं। अस्तु निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि अधिकांश उत्तरदाताओं ने यह विश्वास जताया है कि वर्तमान पीढ़ी उनकी सांस्कृतिक विशिष्टता व विरासत को संरक्षित व संवर्धित करते हुए उसे नवीन पीढ़ी को अग्रसारित करेगी।

निष्कर्ष: प्रस्तुत शोध आलेख के निष्कर्ष के संदर्भ में कहा जा सकता है कि आज वर्तमान परिदृश्य में उरांव जनजाति का मूल स्वरूप परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। उरांव समाज के लोगों का आधुनिक या सभ्य कहे जाने वाले समाज के लोगों से अंत:क्रिया के उपरांत उनके परंपरागत रीति-रिवाज और संस्थाओं में बदलाव देखा गया है। कुछ संस्थाएं तो (विशेषकर धूमकुड़िया, पड़हा पंचायत) पूरी तरह से समाप्त हो चुकी हैं या विलुप्त होने के कगार पर है। जनजातीय समाज हमेशा से अपने सांस्कृतिक विशिष्टता व विरासत के लिए जाना जाता रहा है। लेकिन आज यह समुदाय ऊहापोह या द्वंद की स्थिति में है। सांस्कृतिक परिवर्तन ने उरांव जनजाति के जीवन में अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। धर्म परिवर्तन से उरांव जनजाति दो खेमों में बंटी हुई नजर आती है- एक सरना उरांव तथा दूसरा इसाई उरांव, जिसके परिणामस्वरुप इनमें आपसी मतभेद भी दिखाई देते हैं। हालांकि यह सत्य है कि किसी भी प्रक्रिया का किसी भी समाज पर सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रभाव पड़ता है। आशा की जाती है कि सकारात्मक प्रभाव अधिक दिखाई देगा लेकिन आदिवासी समाज में यह स्थिति विपरीत दिखाई पड़ती है। एक तरफ भारत में जनजातीय समाज उत्तर आधुनिकता के पायदान पर भी मुख्यधारा से पूरी तरह जुड़ नहीं पाया है, वहीं दूसरी तरफ अपनी मूल विशिष्टताओं से अलग होता जा रहा है। यह सत्य है कि आज आधुनिक प्रक्रियाओं एवं सरकारी योजनाओं के आंशिक रूप में मिले लाभ के कारण आदिवासी समाज का जनजीवन थोड़ा बेहतर हो रहा है लेकिन वे इस प्रक्रिया में पहचान के संकट से भी जूझ रहे हैं। इस तरह हम देखें तो झारखंड की उरांव जनजाति का एक बड़ा भाग बदलते परंपरागत प्रतिमानों के भी बीच जीवन को गति दे रहा है। आवश्यकता है, सरकारी एवं गैर सरकारी संगठनों को नए ढंग से नीति निर्माण करने की ताकि उनकी सांस्कृतिक विशिष्टताओं, विरासत एवं पहचान को सहेजत व संवर्धित करते हुए उन्हें समाज की मुख्यधारा से जोड़ा जा सके। जिससे जनजातीय समाज का अंतिम व्यक्ति भी अपनी अस्मिता को बरकरार रखते हुए भी लाभान्वित हो सके।

संदर्भ

1. मेहता, प्रकाश चंद्र, 'भारत के आदिवासी', शिव पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, उदयपुर, 1993
2. अटल, योगेश एवं सिसोदिया, यतीन्द्र सिंह, 'आदिवासी भारत: एक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं विकासात्मक विवेचन' (द्वितीय संस्करण), रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011
3. पाण्डेय, गया, 'झारखंड की जनजातियाँ एवं उनकी संस्कृति', क्राउन पब्लिकेशन, रांची, 2019
4. मिंज, दिवाकर, 'मुण्डा एवं उराँव का धर्मिक इतिहास', कल्पज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2010
5. खलखो, डॉ. शांति, 'उराँव संस्कृति: परिवर्तन एवं दिशाएँ', कुड़ुख विकास समिति, राँची, 2009

6. घोष, अभिक, 'हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द उरांव ट्राइब: सम आस्पेक्ट ऑफ देयर सोशल लाइफ', मोहित पब्लिकेशन, 2003
7. मिंज, दिवाकर, पूर्वोक्त
8. रॉय, शरत चन्द्र, 'उराँव रिलिजन एंड कस्टम', इडिशनस इंडियन, कलकत्ता, 1928
9. तिरकी, भीखू, 'उराँव- सरना: धर्म और संस्कृति', झारखंड झरोखा प्रकाशक, राँची, 2014
10. खलखो, डॉ. शांति, पूर्वोक्त
11. मिंज, दिवाकर, पूर्वोक्त
12. तिग्गा, विक्टर, 'हिंदुस्तान', दैनिक अखबार, पृ० स० 13
13. तिरकी, भीखू, पूर्वोक्त
14. खलखो, डॉ. शांति, पूर्वोक्त
15. रॉय, शरत चन्द्र, 'द उरांव ऑफ छोटानागपुर', ज्ञान पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली, 1915
16. प्रसाद, नर्मदेश्वर, 'लैंड एण्ड पीपल ऑफ ट्राइबल बिहार', बिहार ट्राईबल रिसर्च इंस्टीट्यूट, गवर्नमेंट ऑफ बिहार, 1961
17. मिंज, दिवाकर, पूर्वोक्त
18. त्रिवेदी, मधुसूदन, 'सामाजिक नृ-विज्ञान', राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2003
19. खलखो, डॉ. शांति, पूर्वोक्त
20. मजूमदार, डी. एन. एवं टी. एन. मदन, 'सामाजिक मानवशास्त्र परिचय', मयूर पेपर बैक्स, नोयडा, 2008
21. अटल, योगेश एवं सिसोदिया, यतीन्द्र सिंह, पूर्वोक्त
22. उत्प्रेती, हरिश्चंद्र, 'भारतीय जनजातियाँ: संरचना एवं विकास', राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2007
23. अहमद, जियाउद्दीन, 'बिहार के आदिवासी', मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 1992

पर्यावरण में जैव विविधता के संरक्षण का महत्व

प्रियंका राय
शोधार्थिनी, समाजशास्त्र विभाग

पर्यावरण, परि+आवरण दो शब्दों के योग से बना है। परि का अभिप्राय है जो हमारे आस-पास है अर्थात चारो तरफ। इसी भाँति आवरण का अर्थ है जो चारों तरफ से घिरा हुआ है। पर्यावरण में प्राकृतिक पर्यावरण अथवा प्राकृतिक संसार में प्राकृतिक रूप से होने वाली सभी जीवित और निर्जीव चीजे शामिल हैं, जिसका अर्थ है कि इस मामले में कृत्रिम कुछ भी नहीं है। इस वातावरण में सभी जीवित प्रजातियों, जलवायु, मौसम और प्राकृतिक संसाधनों की परस्पर क्रिया शामिल है, जो मानव अस्तित्व और आर्थिक गतिविधि को प्रभावित करते हैं।

वर्तमान युग में पर्यावरण के प्रति सम्पूर्ण विश्व को जागरूक होने की आवश्यकता है, क्योंकि पर्यावरण में हो रहे परिवर्तन को हम आसानी से समझ सकते हैं जो जीव-जन्तुओं एवं वनस्पतियों के लिए घातक बनता जा रहा है बल्कि मानव का अस्तित्व भी खतरे में परिवर्तित हो रहा है। इसलिए हम लोगों को समय रहते सजग होने की आवश्यकता है, नहीं तो एक वक्त ऐसा आयेगा जब परिस्थिति मानव के हाथ से भी निकल चुकी होगी और हम चाहकर भी कोई सुधार नहीं कर पायेंगे। पर्यावरण संरक्षण के लिए हमें पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं के संरक्षण पर विशेष ध्यान देना होगा, जैव विविधता पर्यावरण का आधार है और जब तक जैव-विविधता संरक्षित नहीं होगी तब तक पर्यावरण का बचाव सम्भव नहीं है।

जैव विविधता किसी एक क्षेत्र में मौजूद विभिन्न प्रजातियों और इस प्रजातियों के पारिस्थितिक तंत्र की विविधता है। जैव विविधता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग प्रसिद्ध कीट वैज्ञानिक विल्सन (E.O. Wilson) ने 1986 में जैव विविधता पर अमेरिकन फोरम के लिए प्रस्तुत प्रतिवेदन में किया। भौतिकता के अंधी दौर में आज विश्व विनाश की सीमा पर खड़ा हुआ है। इसका प्रमुख कारण मानव की लालच एवं मूर्खता है। जो बिना सोचे-समझे अपने स्वार्थ के चक्कर में प्रकृति को हानि पहुंचा रहे हैं। जैव विविधता के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्वीकृत एक अन्तर्राष्ट्रीय दिवस मनाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा पहली बार 29 दिसम्बर 1993 को जैव-विविधता को 'अन्तर्राष्ट्रीय जैव-विविधता दिवस' के रूप में मनाया गया। जैव-विविधता ने मानव संस्कृति के विकास में बहुत योगदान दिया है। इसी प्रकार मानव समुदायों ने भी आनुवंशिक प्रजातीय व पारिस्थितिक स्तरों पर प्राकृतिक विविधता को बनाये रखने में बड़ा योगदान दिया है। जैव-विविधता की कमी होने से प्राकृतिक आपदा जैसे बाढ़, सूखा और तूफान आदि आने का खतरा और अधिक बढ़ जाता है। इस जैव विविधता का संरक्षण बहुत जरूरी है।

जैव-विविधता के अंतर्गत सूक्ष्म एवं दीर्घ स्तर के समस्त जीवाणु, प्रत्येक स्तर के जीव, पेड़-पौधे, वनस्पतियाँ, घास, पत्तियाँ सब कुछ शामिल है। पृथ्वी पर उपस्थित जैव-विविधता लगभग 4 अरब वर्षों के विकास का परिणाम है। जैव विविधता तीन प्रकार की है-

1. आनुवंशिक विविधता
2. प्रजातीय विविधता
3. पारिस्थितिक तन्त्र विविधता

आनुवंशिक विविधता एक प्रजाति प्रजाति की आनुवंशिक विशेषताओं की कुल संख्या है, यह विशेषताओं की प्रवृत्ति को अलग-अलग करने का वर्णन करती है। आनुवंशिक विविधता जनसंख्या के बदलते परिवेशों को अनुकूलित करने के एक तरीके के रूप में कार्य करती है।

प्रजाति विविधता के अंतर्गत प्रजातियों की संख्या और प्रत्येक प्रजाति के रूप में शामिल है, जो किसी विशेष स्थान पर रहती है। प्रजाति विविधता जीव समुदायों की कार्य प्रणाली के सुचारू रूप से संचालन के लिए आवश्यक है।

इसी तरह पारिस्थितिक तंत्र भी सम्पूर्ण क्षेत्र में किसी क्षेत्र में पाये जाने वाले पारिस्थितिक तन्त्र में अलग है। इस विविधता के अंतर्गत स्थालीय एवं जलीय पारिस्थितिक तन्त्र दोनों में भिन्नता होती है। पारिस्थितिक विविधता एक जैविक समुदाय की जटिलता की भिन्नता को भी दर्शाती है, जिसमें विभिन्न पारिस्थितिक प्रक्रियाएं शामिल है। विश्व स्तर पर पारिस्थितिक तन्त्र जैसे-जंगलों, घासो के मैदानों, रेगिस्तानों और महासागरों में पायी जाने वाली भिन्नता है। पारिस्थितिक विविधता, जैव-विविधता का सबसे बड़ा पैमाना है। प्रत्येक पारिस्थितिकी तन्त्र में प्रजाति की विविधता और आनुवंशिक विविधता पायी जाती हैं

पर्यावरण संरक्षण हेतु मूलत: जैव विविधता ही मूल आधार का कार्य करता है। अत: हम जन मानस का परम कर्तव्य बनता है कि ऐसे अमूल्य धरोहर को सजो कर रखें नही तो प्रकृति की भयावह मार कोई भी झेल नहीं पाता है। डॉ० नर्मदेवश्वर प्रसाद के अनुसार "एक सामान्य आकलन यह है कि कि प्रति वर्ष 200 से 2000 प्रजातियाँ विलुप्त हो रही है जिसका मोटे तौर पर यह अर्थ हुआ कि प्रतिदिन 1 से 5 प्रजातियाँ विलुप्त हो रह है। जैव-विविधता के नुकसान होने का कारण निश्चित तौर पर हम लोग यानि मानव जाति है। वर्षों से हमने अपने वैयक्तिक जरूरतों को पूरा करने के लिए और शहरीकरण के कारण उनके अधिवासों को नष्ट किया है और धन एवं संमृद्धि के अपने लालच को पूरा करने के लिए जीव-जन्तुओं एवं पेड़-पोधों का अतार्किक एवं अनियोजित विनाश किया है" आज मानवों के इस गलत व्यवहार के कारण कई जानवरों के अस्तित्व विलुप्त हो चुके हैं। भारतीय चीता ज्वलन्त उदाहरण है जिसे हमने हमेशा के लिए खो दिया है। इसी प्रकार गिद्ध भी है जो जहरीला दवा (डिक्लोफिनैक) के कारण विलुप्त हो गया है जो पर्यावरण को शुद्ध करने में सहायता करता था।

सम्पूर्ण मानव समाज यदि जैव विविधता के संरक्षण हेतु सचेत हो जाय और सरकार भी इसके लिए उचित व्यवस्था करे तभी इस पर काबू पाया जा सकता है। वैसे तो विश्व स्तर पर जैव विविधता से सम्बन्धित मुद्दे उठाये जा रहे है। उसके संरक्षण के लिए सरकारें बेहद प्रयास में लगी है परन्तु कहीं न कहीं कोई कमी अवश्य रह गयी है। जिसकी वजह से जैव-विविधता का संकट आज विशाल रूप लेता जा रहा है। पूरा मानव समाज यदि संरक्षण में अपनी-अपनी भूमिका अदा करे, अपने कर्तव्यों को समझने लगे तो पर्यावरण की समस्या से निजात मिल सकती है। केवल सरकारी प्रयास से ही जैव-विविधता का संरक्षण करना थोड़ा मुश्किल है, जब तक विश्व के सभी मनुष्य अपने दायित्वों को प्रकृति के प्रति न निभाये तब तक सरकार की नीतियां भी खास असर नहीं दिखा सकती है। जैव विविधता में शामिल सूक्ष्म-जीवों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि ये कृषि एवं दवा पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। ये सूक्ष्म जीव हमें कई प्रकार से लाभ पहुंचाते हैं।

पर्यावरण को क्षति पहुंचाकर मानव अपने अस्तित्व को स्वयं ही मिटाने में लगा है। जिसका आभास अब पूरे विश्व को हो रहा है। इस वैश्विक समस्या से निपटने के लिए वैश्विक सम्मेलन एवं प्रयास अनवरत जारी है। एस०के ओझा के अनुसार, पर्यावरण एक प्राकृतिक संसाधनों के आधार पर समाज का भौतिक विकास हो रहा है। इससे पर्यावरण में वृद्धि हो रही है तथा जैव विविधता का क्षरण हो रहा है। वास्तव में भौतिक अथवा पर्यावरण संसाधनों का जितना अधिक प्रयोग किया जायेगा समाज का भौतिक विकास उतना अधिक होगा। समाज के भौतिक विकास के साथ-साथ जैव विविधता का विनाश अवश्य होगा।' विश्व में कुल 17 मेगा बायो-डाइवर्सिटी हॉट-स्पॉट है, जिनमें भारत भी है। हमारे देश में दुनिया की 12 फीसदी जैव विविधता है, परन्तु उस पर कितना काम हो पाया है? यह एक अहम मुद्दा है।

पर्यावरण सम्पूर्ण विश्व की अमूल्य धरोहर है। विश्व विकास एवं संवृद्धि के शिखर पर पहुंचे परन्तु उसकी कीमत जैव विविधता के द्वारा चुकाया जाए यह गलत है। हमें विकास के साथ-साथ जैव विविधता के अस्तित्व को बनाये रखने की जरूरत है। जो क्षति हो चुकी है हमें उसकी पूर्ति भी ईमानदारी से करनी होगी तब हम पर्यावरण के बिगड़ते स्थिति को सुधार सकेगे इसलिए आर्थिक एवं भौतिक विकास के साथ-साथ इसे बचाए रखने में सरकारों के साथ लोगों एवं खासकर युवा पीढ़ी को जैव-विविधता के संरक्षण के प्रति सजग करना आवश्यक है। क्योंकि पर्यावरण को युवा पीढ़ी ही सर्वाधिक क्षति पहुंचा रहे हैं। युवा पीढ़ी भौतिकता की चाह में दिन-दूना, रात-चौगुना अमीर व्यक्ति बनना चाह रहा है। इनकी सोच भी अमानवीय एवं भौतिक हो चुकी है। क्योंकि आधुनिकता के चक्कर में युवा पीढ़ी की मौलिकता नष्ट हो चुकी है इसलिए जब तक युवा पीढ़ी जागरूक नहीं होगी तब तक जो हमारे लक्ष्य हैं जैव विविधता की स्थिति को सुधारने की वह अधूरी ही रह जायेगी। किसी भी प्रकार के कदम को उठाने के पहले हमें पर्यावरण के हर पहलुओं पर विचार करना होगा, जल्दबाजी में संरक्षण के रास्ते उचित नहीं हो सकते। इसलिए बहुत ही धैर्य एवं संयम के साथ जैव विविधता के संरक्षण के लिए हमें बुद्धिमतापूर्ण दृष्टिकोण से इस पर कदम उठाने की आवश्यकता है। केवल नीतियां बना देने से संरक्षण संभव नहीं है, जब तक उसका विश्व के हर मानव द्वारा पालन न किया जाय। अतः सामान्य कोशिशों से ही हम जैव विविधता का संरक्षण कर सकते हैं। क्योंकि नीतियों से यह पूर्णतः सम्भव नहीं है। जब तक आम जन मानस स्वतः सचेत नहीं होगा तब तक इसमें परिवर्तन नहीं आ सकता। क्योंकि

विश्व के सामान्य लोगों में अभी भी जैव विविधता को लेकर जागरूकता का अभाव है। जब तक पूरी तरह से लोगों को जागरूक नहीं किया जायेगा तब तक जैव-विविधता संरक्षण के माध्यम से सतत विकास की ओर अग्रसर नहीं हो पायेंगे।

संदर्भ

1. ओझा, एस०के : पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी
2. डॉ० प्रसाद नर्मदेश्वर, भारत में जैव विविधता
3. जैव विविधता एवं संरक्षण : एन०सी०ई०आर०टी०, कक्षा 12
4. शर्मा योगेन्द्र : पर्यावरण संरक्षण
5. गोरे मनीष मोहन : जैव विविधता संरक्षण

नागार्जुन का उपन्यास शिल्प

*__पौल्टी कुमारी__ *(शोधार्थी)*
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, म०वि०वि०, बोधगया
स्नातकोत्तर हिन्दी (स्वर्ण पदक)
राष्ट्रीय पात्रता परीक्षा उतीर्ण
एवं
__डॉ० आनंद कुमार सिंह__
हिन्दी विभागाध्यक्ष, गया महाविद्यालय गया
म० वि० वि०, बोधगया

सार

प्रस्तुत अध्ययन का विषय "नागार्जुन का उपन्यास शिल्पह्न नागार्जुन के उपन्यासों के शिल्प निर्धारण के लिए मैंने प्रचलित शिल्पों की प्रकृति को उनके उपन्यासों पर आरोपित करके कोई निष्कर्ष निकालने की भरसक चेष्टा नहीं की हूँ।" उपन्यास के अध्ययन से जो शिल्प उभरा, उसे ही निर्दिष्ट करने के क्रम में शिल्पविधान के प्रचलित रूपों की चर्चा आई है।

मूल शब्द:- इस संसार में हर वस्तु किसी न किसी आकार में बंधी है। यही आकार-प्रकार उस वस्तु का रूप है। वह रूप किसी पद्धति या प्रणाली में ढ़ला होता है। वही प्रणाली या पद्धति शिल्प के नाम से जानी जाती है। पत्थर की मूर्ति हो या माटी का खिलौना, उसे गढ़ने की प्रणालियाँ या पद्धतियाँ विकसित की जाती है। ये प्रणालियाँ ही शिल्प कही जाती है। चूँकि हर सृजन का एक रूपाकार होता है, इसलिए हर चीज किसी न किसी शिल्प में ढ़ला होता है। उपन्यास भी साहित्य का एक रूप है, इसलिए एक प्रकार के शिल्प या गठन में वह भी ढ़ला होता है। उपन्यास की कथा वस्तु का गठन जिस पद्धति से किया जाता है, वही उस उपन्यास का शिल्प होता है।

नागार्जुन के हर उपन्यास का एक अपना शिल्प है जिसका विभाजन विषय-वस्तु के अनुसार हुआ है। मगर इस विषय पर व्यवस्थित अध्ययन नहीं हो पाया है। नागार्जुन साहित्यिक कृतियों से सम्बद्ध जो अध्ययन सुलभ हैं उनका विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन करना आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य के बहुमुखी प्रतिभा के धनी नागार्जुन का जन्म सन् 1911 ई० में दरभंगा जिले के तरौनी ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम गोकुल मिश्र तथा माता का नाम उमा देवी था। ये जाति से मैथिल ब्राह्मण हैं। इनका गोत्र 'वत्स' और कुल की शाखा 'पलिवाड़ समोल' है। संभवत: काफी पहले नागार्जुन के

पूर्वजों का निवास 'समोल' नामक गाँव में था और बाद में वृत्ति की सुविधा के लिए ये तरौनी गाँव में आकर बस गये। नागार्जुन के बचपन का नाम बैद्यनाथ मिश्र है। बाबा बैद्यनाथ की कृपा से इनका जन्म हुआ है ऐसी इनके माँ–बाप की धारणा थी। इसीलिए इनका नाम बैद्यनाथ मिश्र रखा गया। वैसे इनके बाल्यकाल का पुकारू नाम है ठक्कन मिश्र।

निम्नवर्गीय परिवार में होने के कारण इनका बचपन अभावों में बीता। माता की शीतल स्नेह छाया से ये छः वर्ष की उम्र में ही ये वंचित हो गये। पिता गोकुल मिश्र घुमक्कड़, भंगोड़ी, लापरवाह, रूढ़िवादी, दरिद्र, संस्कारहीन, कठोर और फक्कड़ व्यक्ति थे। पिता का प्रभाव पुत्र पर पड़ना स्वाभाविक है। फलतः निम्नस्तरीय जीवन की विशेषताओं से ऊपर न उठ पाये।

नागार्जुन के उपन्यासों की शिल्प विधि ही प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य विषय है। अतः इसकी व्याख्या अति आवश्यक है। शिल्प विधि का सम्बन्ध किसी भी वस्तु निर्माण से होता है। वस्तु प्रकृति प्रदत हो अथवा मानव प्रदत, उसमें शिल्प विधि की भूमिका अनिवार्य रूप से होती है। सामान्यतः शिल्प विधि का अर्थ रचना प्रक्रिया से लगाया जाता है। किसी वस्तु के निर्माण में जो उपकरण प्रयुक्त विधि वही है जो सही वस्तु को, सही समय से परिप्रेक्ष्य में उचित ढ़ंग से प्रस्तुत कर दे। इसलिए उचित विषय का चुनाव अनिवार्य है।

कथानक शिल्प उपन्यास का महत्वपूर्ण शिल्प तत्व है। इसी के माध्यम से उपन्यास की रूपरेखा निर्मित होती है। उपन्यास का प्रारंभिक एवं आधार केन्द्र यही है। उपन्यास शिल्प के अन्य तत्वों का प्रयोग कथानक की भूमिका के आधार पर किया जाता है। कथानक घटनाओं को स्पष्ट करता है। यह शिल्पतत्व उपन्यास के लिये अति उपयोगी तत्व है। उपन्यास में कथानक कथा को प्रस्तुत करता है, चरित्रों का उद्घाटन करता है, देशकाल संबंधी सीमाओं का निर्धारण करता है तथा भाषा शैली को नया रूप प्रदान करता है।

उपन्यास की स्वाभाविकता की दृष्टि से देशकाल शिल्प अति उपयोगी होता है। उपन्यास में समय एवं स्थल का निर्धारण देशकाल शिल्प के माध्यम से किया जाता है। उपन्यास के कथानक को यह स्थायित्व प्रदान करता है, घटनाओं के काल का निर्धारण करता है तथा कथानक को स्वाभाविक बनाता है। उपन्यास में घटित घटनाओं एवं तत्कालीन पात्रों की परिस्थितियों का लेखा–जोखा भी इसी शिल्प के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास के इतिहास में देशकाल प्रधान उपन्यासों का युग आरंभ होता है। बीस–पचीस वर्षों के बीच इस प्रवृत्ति के उपन्यासों का ही बोलबाला हुआ। इस शिल्प प्रधान उपन्यासों में दो प्रकार के उपन्यास आते हैं–1. देश प्रधान (आँचलिक) 2. काल प्रधान (ऐतिहासिक) आँचलिक उपन्यासों की परम्परा स्वातंत्र्योत्तर युग की देन है। इसमें देश प्रधान बहुत बड़ें पैमाने पर लोगों के सम्मुख आये। ऐतिहासिक उपन्यासों का भी पूर्ण विकास प्रायः इसी युग में हुआ है। अतः स्वातंत्र्योत्तरयुगीन उपन्यासों को ध्यान में रखते हुये यदि शिल्प विषयक विचार किया जाय तो देशकाल शिल्प की महत्ता समझ में आ सकती है।

आधुनिक युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी शिल्पविधि शैली शिल्प ही है। प्राचीन वस्तु को नवीन परिवेश में प्रस्तुत करना मात्र शैली शिल्प का ही कार्य है। यह उपन्यास की कोटियों का निर्धारण करता है। उपन्यासों के वर्गीकरण के साथ ही उनकी अभिव्यक्ति कला का स्पष्टीकरण इसी शिल्प तत्व के माध्यम से

होता है। विवेच्य युग में शैली शिल्प संबंधी महान परिवर्तन हुये हैं तथा नूतन शिल्प वाले उपन्यासों का निर्माण भी हुआ है। जहाँ तक मेरा विचार है, इस विषय में मैं यही कह सकती हूँ किस्वातंत्र्योत्तरयुग में जितने भी उपन्यास निर्मित हुये हैं प्राय: उनमें शिल्प साम्य नहीं है। उपन्यासों से अलग उसकी शैलियाँ हैं। भाषाओं के विभिन्न स्वरूपों का दिग्दर्शन उसमें मिलता है।

उद्देश्य शिल्प:- प्रस्तुत शिल्प उपन्यासकार को उसके प्रयोग के लिये प्रेरणा प्रदान करता है। प्राय: प्रत्येक तत्व के स्वरूप का निर्धारण इसी शिल्प के माध्यम से होता है। अत: शिल्प विधि के प्रयोग का आधार यही है। उपन्यासकार उद्देश्य को ध्यान में रखकर उपन्यास की रूपरेखा का निर्धारण करता है। उपन्यासकार का दृष्टिकोण ही उद्देश्य शिल्प के रूप में मुखरित होता है। डॉ० रामलखन शुक्ल ने उपन्यासकार के दृष्टिकोण को ही इस शिल्प की मुख्य वस्तु स्वीकारते हुये लिखा है-"लेखक के दृष्टिकोण के निर्माण में उसका परिवेश, वस्तु जगत, उसके अध्ययन, शिक्षा तथा उसका अर्न्तजगत उत्तरदायी होता है और यही वे सब साधन है जहाँ से वह अपनी रचना सामग्री ग्रहण करता है, जिसके आधार पर उसका रचना प्रकाश में आता है।"

नागार्जुन के उपन्यासों के शिल्प के सम्बन्ध में व्योरेवार विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि उनके उपन्यासों की विषय वस्तु, सामग्री और उसकों प्रभावित करने वाले देश-काल, समाज और राजनैतिक दबावों का लेखा-जोखा लिया जाय। श्याम प्रकाशन जयपुर से प्रकाशित बाबूरामगुप्त की पुस्तक 'उपन्यासकार नागार्जुन' में लेखक ने नागार्जुन के रचना संसार का विस्तृत व्योरा प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ में युगीन संदर्भ, नारी की स्थिति, सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थित और राजनैतिक स्थिति जैसे शीर्षकों के अन्तर्गत नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित संसार का विश्लेषण किया गया है। उनके उपन्यासों की कालक्रमबद्ध तालिका प्रस्तुत करना आवश्यक मानती हूँ। प्रस्तुत है वह तालिका-

1. रतिनाथ की चाची
2. बालचनमा
3. वरूण के बेटे
4. बाबा बटेसरनाथ
5. दुखमोचन
6. इमरतिया
7. उग्रतारा
8. जभनिया के बाबा
9. कुम्भीपाक
10. नई पौध

11. पारो

12. अभिनन्दन या हीरक जयन्ती

उपर्यक्त उपन्यासों की सूची में कई उपन्यास ऐसे हैं जो आरंभ और अंत के थोड़े फेर बदल के साथ एक ही उपन्यास के दो नाम हैं। इस रहस्यपूर्ण स्थिति पर मै। बाद में विचार करूँगी। सम्प्रति नागार्जुन के कुछ प्रमुख उपन्यासों की विषय वस्तु एवं सामग्री को कसील में प्रस्तुत कर एक ऐसा खाका तैयार करना चाहती हूँ कि एक खासा रचना संसार सुपरिचित रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हो सके।

हिन्दी उपन्यास में ग्रामीण जीवन के यथार्थ चित्रण की जिस परम्परा का सूत्रपात प्रेमचंद ने किया उसी परम्परा का विकसित स्वरूप नागार्जुन के उपन्यासों में परिलक्षित होता है।

वह गौरी का अन्तिम का अन्तिम दाह संस्कार करता है। अंतिम संस्कार से लौटते समय बार–बार उसका मन एक ही प्रश्न करता है–"अस्थि गंगा में प्रवाहित करके लौटते समय रतिनाथ के हृदय में बारंबार यही बात उठ रही थी कि अमावश की उस रात को वह कौन था चाची? एक घनी अंधेरी छाया तुम्हारे विस्तरे की तरफ बढ़ आयी थी, वह क्या था चाची? शील और शालीनता की प्रतिमूर्ति तुमने क्यों उस धूर्त का नाम नही बतला दिया?"[1]

'रतिनाथ की चाची' की कथा का आधार वह वासनामय घटना विशेष है जिसके परिणाम स्वरूप विधवा गौरी की आजीवन अपमान और तिरस्कार सहना पड़ता है। कथानक के नाम पर केवल एक ऐसी नारी की मनोव्यथा की कहानी है जो निर्दोष होते हुये भी सामाजिक घृणापूर्ण व्यवहारों का शिकार बनती है। पुत्र उमानाथ और पुत्री प्रतिभा के प्रति जब वह अपना कर्तव्य पालन कर निश्चिन्तता की सांस लेती है। तब उसके जीवन में जयनाथ ऐसे रूप में प्रवेश कर जाता है जिससे कथा आगे बढ़ती है। गौरी का जयनाथ की वासना का शिकार बनना, गर्भपात के लिये गौरी का अपनी माँ के पास जाना अपने गाँव लौटने पर ग्रामीण स्त्रियों के ताने सुनना और सहना, अपनी पुत्र वधु द्वारा पग–पग पर कटुक्तियाँ सहना और अन्त में हैजे से मर जाना आदि घटनाएँ कथा को गतिशील बनाती है। गौरी की करूण कहानी के साथ रतिनाथ की कहानी जुड़ी हुई है। रतिनाथ को अपनी चाची से बड़ी सहानुभूति है। उसे अपनी माँ का आभास मात्र है। वह अपने पिता जयनाथ को ही अपनी माँ की मृत्यु का कारण समझता है। समय–समय पर चाची ही उसे पिता की मार से बचाती है–"पिता के प्रति उसकी भक्ति या श्रद्धा बिल्कुल दिखावटी थी। हृदय से वह चाची को ही बाप और माँ समझता था।"[2] रतिनाथ पढ़ने में अच्छा है। संस्कृत का थोड़ा ज्ञान प्राप्त क रवह मोतिहारी चला जाता है जहाँ मामा की देख–रेख में आगे शिक्षा प्राप्त करता है। वहाँ वह अप्राकृतिक व्यभिचार भी सीखता है जिससे उसे मानसिक तृप्ति भी मिलती है। नागार्जुन ने रतिनाथ के शिशु मानस का सूक्ष्म चित्रण किया है–हरनिनाथ के चरित्र में उपन्यासकार के निजी जीवन के कुछ तथ्यों का समावेश हो गया है। रति के पिता की अकिंचनता, अल्पायु में उसकी माँ से स्नेहासिक्त आँचल की सुखद छाया से वंचित हो जाना, संस्कृत का अध्ययन, परम्मौजी छात्र जीवन, काशी तथा कलकत्ता के राजकीय संस्थानों के स्नातक होना आदि घटनाएँ लेखक के निजी अनुभवों पर आश्रित हैं।"[3] गौरी और रतिनाथ की कहानियों के परस्पर अन्योन्यश्रित संबंध के

अतिरिक्त मैथिल ब्राह्मणों के अनमेल विवाह, छूआछूत, रहन-सहन और भोजन-पान के सामाजिक स्वरूप, मिथिला के पंडितो, जमीन्दारों के स्वभाव-संस्कार, आमों के बागों, तालाबों, पोखरों, लहलहाते खेतों, मछलियों और आम के नामों, ग्रामीण स्त्रियों के स्वाभाव, बोली, ईर्ष्या, द्वेष, व्यक्तिक लड़ाई-झगड़ा उपन्यास को सरल और यथार्थवादी बनाता है। वस्तु विन्यास की दृष्टि से उपन्यास में वर्णित घटनाओं में परस्पर सूत्रबद्धता है। यथार्थता का आग्रह विषय वस्तु विन्यास को रोचक बनाता है। घटना बाहुल्य जन्य दीर्घ कथा के अभाव में आँचलिकता वस्तु के स्वाभाविक विन्यास में फ़ल हैं।

1952 में प्रकाशित 'बलचनमा' नागार्जुन का दूसरा उपन्यास है। यह आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। आँचलिक उपन्यासों की कोटि में इसकी गणना प्रायः सभी आलोचकों ने की है। आँचलिकता के अधिकांश उपकारण लोकभाषा, क्षेत्रिय चिन्तन, बहुपात्रता और कथा का विकास क्षेत्र विशेष में केन्द्रित होना इसमें उपलब्ध है। बिहार के दरभंगा जिले के देहाती जीवन पर आधारित यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें एक परिश्रमी इमान्दार और साधनविहीन किसान की जीवनगाथा है। प्रेमचंद के 'गोदान' के होरी की भाँति बलचन सम्पूर्ण भारतीय कृषक के जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। बलचनमा आधा मजदूर और आधा किसान है।"[4] बलचनमा की आत्मबीती कथा है। विशेष रूप से चौदह से बाइस वर्ष की आयु का ही खंड चित्र है। बलचनमा किसी भूमिका के अपनी कथा प्रारंभ करता है। उसके जीवन की पहली घटना है-हकि पितर से ऊपर उठकर जीवन में मुक्त हृदय होकर प्रवेश करके उसकी रसानुभूति करनी चाहिये, वैसा दृष्टि नागार्जुन के इस उपन्यास में हैं।"[5] वस्तु विन्यास की दृष्टि से यह रचना सशक्त और संश्लिष्ट है। वस्तु विन्यास स्वाभाविक, संगत और सुव्यवस्थित है।

नागार्जुन की 'वरूण के बेटे' महुआ जाति के वर्ग संघर्ष की अमर कृति है। निम्नवर्ग के व्यक्तियों को जीवन-यापन के लिये कितना संघर्ष करना पड़ता है, यही इस उपन्यास की कथा वस्तु है। मलाही और गोढ़ियारी दो गाँव हैं। अत्यंत निकट होन के कारण दोनों एक ही गाँव के दो भाग प्रतीत होते है। यहाँ के अधिकांश निवासी मछुये हैं। गढ़-पोखर से मच्छलियाँ पकड़कर ही अपना जीवन-यापन करते हैं।

1954 में प्रकाशित 'बाबा बटेसरनाथ' नागार्जुन का चौथा उपन्यास है। यह रचना कथा शिल्प संबंधी नवीन प्रयोग की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। नागार्जुन ने नवीन प्रविधि का सहारा लेकर कथा एक पुरोन वटवृक्ष के मुँह से कहलाई है। जैकिसुन उपन्यास का नायक है। वटवृक्ष जैकिसुन के परदादा द्वारा आरोपित है वटवृक्ष गाँव के प्राचीन इतिहास को पाठक के सामने प्रस्तुत कर देता है। पूर्णिमा की एक रात्रि में बाबा बटेसरनाथ रूपउली गाँव की चार पीढ़ियों की कथा जैकिसुन को सुनाता है। जैकिसुन की भावनाओं और विचारों को विकास प्राप्त होता है। बहुजन सुखाय और बहुजन हिताय के उच्चादर्शी का प्रतीक मानवरूप धारी वटवृक्ष विश्वास प्रकट करता है-"जीने के लिये जीना, जीना नहीं है, परोपकार के लिये जीना ही जीना है।ह्व संगठन ही शक्ति हैं। इस आदर्श को जैकिसुन के सामने रखते हुये कहता है-"झिंगुर एक कीड़ा है। सैकड़ों हजारों की तादाद में जब ये एक स्वर होकर आवाज करने लगते हैं तो....।"[6]

यहाँ अमेल विवाह की प्रथा की समस्या है। यद्पि कथा का विषय घिसा-पिटा और पुराना है। किन्तु उसके निर्वाह और विवेचन का दंग अभिनव और मौलिक है। कथानक के लिये जिन घटनाओं का चयन किया

गया है, वे राजनैतिक सिद्धान्तों और विचारों से मुक्त है। अत: उनमें न तो कित्रिमता है और न अस्वाभविक घुमाव–फिराव ही। कथा का प्रारंभ जिस समस्या विशेष के संकेत से होता है पाठकों को अन्त में उसका समाधान सहज और स्वाभाविक रूप में प्राप्त हो जाती है।

1960 में प्रकाशित 'कुम्भीपाक' नागार्जुन की महत्वपूर्ण रचना है। महत्वपूर्ण इस दृष्टि से है कि नागार्जुन ने इस उपन्यास द्वारा ग्रामीण जीवन को छोड़कर नगर जीवन में प्रवेश किया है। संभवत: नागार्जुन जी ने दु:खमोचन तक आते–आते यह अनुभव कर लिया था कि भारत के ग्राम ही समस्यासंकुच नहीं है, उन्हीं के उद्धार और विकास की आवश्यकता नहीं है वरन् नगर जीवन से संबंधित भी ऐसी अनेक समस्याएँ हैं जिनका निराकरण जीवनोत्थान के लिये परमावश्यक है। प्रेमचंद की भाँति नागार्जुन ने भी इस रचना में नगर और ग्रामीण जीव को समन्वयात्क दृष्टि से देखने की चेष्टा की है। वस्तुत: 'कुम्भीपाक' की कथा का उल्लेख स्वयं नागार्जुन ने इस प्रकार किया है–"कथा वस्तु के नाम पर एक नारी की कहानी है जो 19 वर्ष की आयु में विधवा हो चुकी है। चार महीने के गर्भ को गिराने के लिये कोई रिश्तेदार आसनसोल ले जाता है और धर्मशाला में अकेली छोड़कर खिसक आया। तब से दो वर्ष इन्दरा के केसे कटे हैं, यह बात धरती जानती है या आसमान जानता होगा।"[7]

नागार्जुन हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रथम सशक्त आँचलिक उपन्यासकार हैं। यद्यपि उसके पूर्व भी आँचलिक उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था तथापि आँचलिक के विशेष लक्ष्यों और गुणों से युक्त औपन्यासिक योगदान नागार्जुन का ही माना जाता है। वस्तु विन्यास की दृष्टि से नागार्जुन के उपन्यासों में निम्नांकित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

नागार्जुन के उपन्यासों के शिल्प विधान का अध्ययन, विश्लेषण, कथावस्तु, पात्र, चरित्र, देशकाल, वातावरण, संवाद, भाषा, शैली आदि के आधार पर किया जाता है। किन्तु मेरी मान्यता है कि भाषा शिल्प का अनिवार्य हथियार है, इसलिये सर्वप्रथम मैं उनके उपन्यासों की भाषागत शिल्पविधि का अध्ययन करना चाहती हूँ।

नागार्जुन का भाषासंस्कार संस्कृत, सिंहली, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, मैथिली और हिन्दी के अध्ययन, मनन और अभ्यास से बना है। बचपन से ही नागार्जुन यायावरी प्रवृत्ति के व्यक्ति रहे हैं। मैथिली साहित्य में वे यात्री नाम से ही जाने जाते हैं। घूमन्तु रचनाकार की भाषा पर अनेक विभाषाओं और जनपदीय भाषा–बोलियों का प्रभाव जाने–अनजाने होता ही है। साधु–संतों की पारिब्राजक जिन्दगी का भी यही हाल होता है। भक्तिकाल से ऐसे संतों की भाषा को सधुक्कड़ी भाषा के नाम से पुकारा जाता था। नागार्जुन भी बौद्ध पारिब्राजक के रूप में श्रीलंका की यात्रा पर गये थे और आज भी भारत भ्रमण का उनका यात्रा अभियान जारी है। इसीलिये उनकी भाषा की शब्दावली और वाक्य विधान का अध्ययन दिलचस्प और ज्ञानवर्द्धक हो सकता है। इसीलिये मैं नागार्जुन के उपन्यासों से कुछ गद्यांश संकलित की हूँ।

संदर्भ

1. अधूरे साक्षात्कार–नेमिचन्द जैन, अक्षर प्र०, दरियागंज, दिल्ली
2. अमृतलाल नागर का उपन्यास साहित्य–प्रकाशचन्द्र मिश्र, साहित्य भारती, जयपुर 1968

3. अज्ञेय का कथा साहित्य–डॉ० ओमप्रभाकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1966
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य–डॉ० रामगोपाल सिंह चौहान, विनोद पृ० मंन्दिर, आगरा 1965
5. आज का हिन्दी उपन्यास–डॉ० इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्र०, दिल्ली 1966
6. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान–डॉ० बेचन, सन्मार्ग प्र०, दिल्ली 1965
7. आधुनिक हिन्दी उपन्यास उद्‌भव और विकास– डॉ० बेचन, सन्मार्ग प्र०, दिल्ली 1971
8. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान–डॉ० देवराज उपाध्याय, साहित्य भवन, इलाहाबाद 1956
9. आधुनिक हिन्दी साहित्य–डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद् वि०वि०, प्रयाग 1952

रोहतास जिला (बिहार) में भूमि उपयोग प्रतिरूप : एक भौगोलिक अध्ययन

अभिषेक कुमार
शोधार्थी/असिस्टेन्ट प्रोफेसर, भूगोल, पी०जी० कालेज, मलिकपुरा, गाजीपुर

सारांश

कृषि ग्रामीण जनसंख्या का मुख्य व्यवसाय है। भारतीय कृषि, भारतीय अर्थव्यवस्था की केन्द्र बिन्दु है। रोजगार का प्रमुख स्रोत, आर्थिक जीवन का आधार तथा विदेशी मुद्रा के अर्जन का माध्यम होने के कारण कृषि को देश की अर्थव्यवस्था की आधारशिला भी कहा जा सकता है। स्वतंत्रता के पश्चात् कृषि को देश की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए इसके विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। भूमि का सम्यक उपयोग किसी क्षेत्र के विकास हेतु अत्यन्त आवश्यक कारक है। यह किसी क्षेत्र की विकास प्रक्रिया को तीव्रतर कर देता है। अतः किसी क्षेत्र के सम्यक विकास हेतु उस क्षेत्र के भूमि संसाधन उपयोग का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

स्वतंत्रता के पश्चात् कृषि में हुई प्रगति स्वतंत्र भारत की सबसे बड़ी उपलब्धि है। भारत के भूमि उपयोग पर यदि दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होता है कि भूमि का एक बहुत बड़ा भाग कृषि कार्यो में प्रयुक्त होता है। किसी क्षेत्र के अर्न्तगत जनसमूह जब अपनी आवश्यकता के अनुरूप प्रकृति प्रदत्त भूमि संसाधन का प्रयोग विभिन्न क्रिया कलापों के अर्न्तगत करता है तथा उससे जो सांस्कृतिक भूदृश्य निर्मित होता है उसे भूमि उपयोग कहते हैं। भूमि का उचित उपयोग ही किसी प्रदेश की अर्थव्यवस्था का प्रमुख संचालक होता है।

शब्द संक्षेप– भूमि संसाधन, जैविक घटक, भौतिक घटक, सामाजिक घटक, संसाधान उपयोग, भूमि उपयोग, फसल साहचर्य, कृषि उत्पादकता, उन्नत तकनीकी, भूमि उपयोग प्रतिरूप।

प्रस्तावना

भारत में भूमि उपयोग प्रतिरूप का अध्ययन एक महत्वपूर्ण कारक है। जिसके आधार पर संतुलित ग्रामीण विकास की नींव रखी जा सकती है। भारत में पूरे विश्व की तुलना में 4 से 6 गुना अधिक जन दबाव है। अतः कृषि भूमि उपयोग के सन्दर्भ में एक बहु कार्यात्मक कृषि प्रतिरूप स्थापित कर ग्रामीण विकास की नींव रखी जा सकती है।

जिस क्षेत्र का भूमि रूपी संसाधन का उपयोग जितना ही आदर्श होगा उस क्षेत्र का विकास उतनी ही तीव्र गति से होगा। भूमि उपयोग प्रतिरूप में स्थानिक स्तर पर अनेक भिन्नताएं मिलती है, जिसका कारण धरातलीय विभिन्नता, सिंचाई गहनता, मृदा संरचना, तापमान में भिन्नता का होना है। यद्यपि प्रारम्भिक रूप में भूमि उपयोग प्रतिरूप में पायी जाने वाली विभिन्नताएं भौतिक पर्यावरणीय दशाओं से ही नियंत्रित होती है। लेकिन उसके साथ ही मानवीय तथा उसके आर्थिक क्रिया–कलाप भी भूमि उपयोग प्रतिरूप को आकार देने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भूमि उपयोग प्रतिरूप के अध्ययन से विभिन्न सूचनाएं आसानी से प्राप्त हो जाती है। जैसे क्षेत्र विशेष में मनुष्य ने किस सीमा तक अपने क्रिया–कलापों से प्रभावित किया है, मानव भूमि संसाधन का उपयोग किस प्रकार कर रहा है? कृषि कार्य में भूमि का उपयोग कितना हो रहा है? अन्य विकासात्मक कार्यों में भूमि का कितना उपयोग हो रहा है, आदि।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भूमिरूपी महत्वपूर्ण संसाधन के उपयोग का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए इसका अध्ययन किया गया है। एवं क्षेत्र के विकास हेतु सम्यक रूप–रेखा प्रस्तुत की गयी है।

अध्ययन का उद्देश्य–

1. रोहतास जिले में भूमि संसाधन उपयोग का अध्ययन।
2. विविध स्थानीय क्षेत्रों में भूमि उपयोग प्रतिरूप में परिवर्तन का अध्ययन करना।
3. भूमि उपयोग प्रतिरूप का सामाजिक आर्थिक प्रभाव।
4. कृषि में मानव जनित क्रिया–कलापों का अध्ययन।
5. भूमि उपयोग प्रतिरूप का सामाजिक एवं कालिक विश्लेषण करना।
6. भूमि उपयोग प्रतिरूप में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करना।

विधि तन्त्र– प्रस्तुत अध्ययन में विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक विधितंत्रों का प्रयोग करते हुए अध्ययन को पूर्णता प्रदान की गयी है।

अध्ययन क्षेत्र– बिहार राज्य में अवस्थित रोहतास जिले की स्थापना 10 नवम्बर 1972 को हुई थी। अध्ययन क्षेत्र का अक्षांशीय विस्तार 24^0 30' उत्तर से 25^0 20' उत्तर के मध्य एवं देशान्तरीय विस्तार 83^0 14' पूर्वी से 83^0 20' पूर्वी देशान्तर के मध्य है। रोहतास जिले की समुद्र तल से ऊचाई 108 मीटर है। यह जिला पटना से 146 किलोमीटर दक्षिण पश्चिम एवं दिल्ली से 953 किलोमीटर दक्षिण पूर्व की ओर है। इसके उत्तर में बक्सर एवं उत्तर पूर्व में भोजपुर जिला है। पूर्व में औरंगाबाद एवं दक्षिण पूर्व एवं दक्षिण में झारखण्ड राज्य पड़ता है। पूर्वी एवं दक्षिणी पूर्वी सीमा रेखा का निर्धारण सोन नदी के द्वारा होता है। आगे दक्षिण पूर्व की ओर प्रवाहित होती हुई यह नदी गंगा में मिल जाती है।

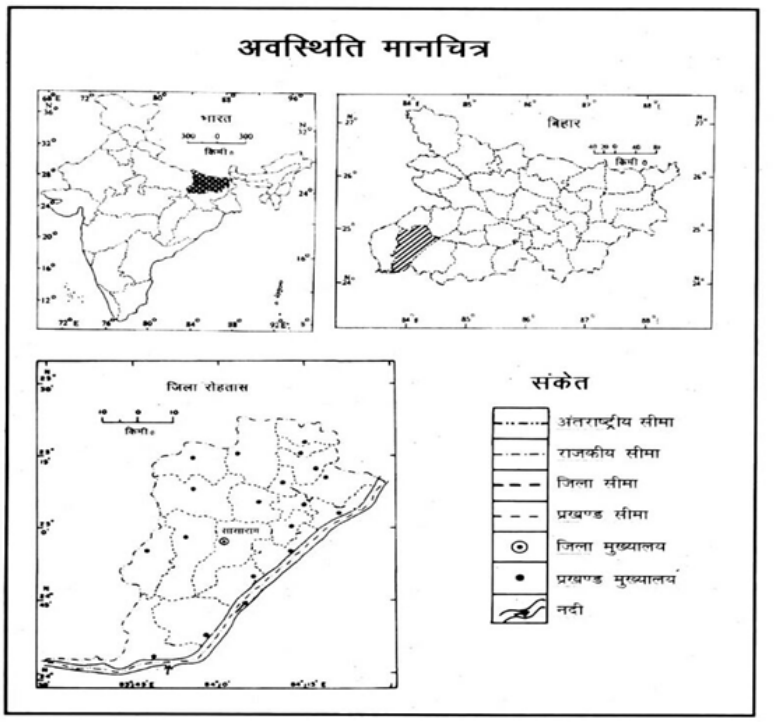

विश्लेषण एवं व्याख्या– रोहतास जिले के भूमि उपयोग प्रतिरूप के अध्ययन हेतु वर्ष 2001, 2011 एवं 2014 के भूमि उपयोग का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जिसके आधार पर निष्कर्ष को प्राप्त किया गया है।

तालिका सं०–1

रोहतास जिला : भूमि उपयोग प्रारूप

क्र.सं०	श्रेणी			2001	%	2011	%	2014	%
1.	कुल भौगोलिक क्षेत्रफल			390722	100.00	390722	100.00	390722	100.00
2.	वन			66723	17.07	66723	17.07	66723	17.07
3.	बंजर और गैर कृषि भूमि			16952	4.33	16831	4.30	16831	4.30
4.	गैर कृषि कार्य के लिए रखी गयी	स्थलीय क्षेत्र		37468	9.58	38489	9.85	.9375	10.07
		जलीय क्षेत्र	स्थायी	8961	2.29	8977	2.29	8977	2.29
			अस्थायी	344	0.08	309	0.07	605	0.15
5	कृषि योग्य परती भूमि			1128	0.28	1102	0.28	1087	0.27
6	स्थायी चारागाह			115	0.02	99	0.02	90	0.02

7	बाग–बगीचों के अंतर्गत भूमि	2645	0.67	2879	0.73	2925	0.74
8	अन्य परती भूमि	900	0.23	789	0.20	704	0.18
9	चालू परती भूमि	1148	0.29	15870	4.06	6049	1.54
10	कुल	136391	34.90	152052	38.91	143366	36.69
11	शुद्ध बोया गया क्षेत्र	254331	65.09	238670	61.08	247356	63.30
12	कुल बोया गया क्षेत्र	364435	93.27	281796	72.12	362578	29.48

स्रोत: जिला सांख्यिकी कार्यालय।

सारणी सं० 1 से स्पष्ट है कि वर्ष 2014 में वन भूमि के अन्तर्गत 17.07 प्रतिशत् बन्जर और गैर कृषि भूमि के अन्तर्गत 4.30 प्रतिशत् कृषि योग्य भूमि परती के अन्तर्गत 0.27 प्रतिशत्, स्थायी चारागाह के अन्तर्गत 0.02 प्रतिशत्, बाग बगीचो के अन्तर्गत 0.74 प्रतिशत् अन्य परती भूमि के अन्तर्गत 0.18 प्रतिशत् ,चालू परती भूमि के अन्तर्गत 1.58 प्रतिशत् भूमि का उपयोग किया गया है। शुद्ध बोया गया क्षेत्र 63.30 प्रतितशत्, कुल बोया गया क्षेत्र 92.97 प्रतिशत् एवं एक से अधिक बार बोया गया क्षेत्र 29.48 प्रतिशत् है। तुलतनात्मक रूप से देखे तो वन भूमि का प्रतिशत् यथावत् है। जबकि शुद्ध बोये गये क्षेत्रफल में वृद्धि हुयी है। कुल बोये गये क्षेत्र का रकबा भी बढ़ा है।

यही भूमि कृषि कार्य के अर्न्तगत प्रयुक्त होने वाली मुख्य भूमि है। जिसके विस्तार में क्रमिक वृद्धि अंकित की जा रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या की भोजन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इसमें वृद्धि अत्यन्त आवश्यक है। असिंचित भूमि का प्रतिशत भी घटा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अध्ययन क्षेत्र की जनसंख्या तेज गति से बढ़ रही है एवं उस जनसंख्या की भोजन सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करना है। कृषि में प्रयुक्त भूमि एवं सिंचित क्षेत्रफल का विस्तार अति आवश्यक है।

अध्ययन क्षेत्र एक कृषि प्रधान क्षेत्र है जहाँ की 70 से 80 प्रतिशत जनसंख्या कृषि कार्यो पर ही निर्भर है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि इस क्षेत्र में कृषि सुविधाओं का विस्तार किया जाय जिससे कि उत्पादकता में वृद्धि हो सके और सबको भोजन मिल सके।

अध्ययन क्षेत्र का पूर्वी एवं दक्षिणी पूर्वी भू–भाग सोन नदी के बाढ़ से प्रभावित रहता है जिससे फसलों की उत्पादकता प्रभावित होती है।

उपसंहार

अध्ययन क्षेत्र रोहतास जिला एक कृषि प्रधान अर्थव्यस्था वाला क्षेत्र है जहाँ का मुख्य व्यवसाय कृषि है। परन्तु कृषि में प्रयुक्त भूभाग का रकबा छोटा होता जा रहा है साथ ही जोतों का आकार भी छोटा होता जा रहा है। जिस कारण यहाँ भूमि रूपी संसाधन पर जनसंख्या का दबाव तीव्रतर गति से बढ़ता जा रहा है। अत्यधिक रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग के कारण मृदा की उर्वरा शक्ति क्षीण होती जा रही है। अत: आवश्यकता इस

बात की है कि रासायनिक उर्वरकों के स्थान पर जैविक उर्वरकों का प्रयोग किया जाय जिससे कि मृदा की उर्वरा शक्ति को बचाया जा सके एवं किसानों की आर्थिक समस्याओं का निदान किया जा सके। कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था वाला क्षेत्र होने के कारण किसानों को उत्तम सुविधाएं दी जाय साथ ही भूमि उपयोग क्षमता में भी अभिवृद्धि की जाय जिससे कि अध्ययन क्षेत्र का विकास सुनिश्चित किया जा सकें एवं किसानों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया जा सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह सुनिता, 2011, लैण्ड रिसोर्स युटिलाइजेशन फार एग्रीकल्चर इन रोहतास डिस्ट्रीक्ट, बिहार, नेशनल ज्योग्राफिकल जनरल ऑफ इण्डिया, वाल्युम-05 पेज सं० 81-86।
2. मिश्रा प्रज्ञा, 2012, देवरिया जनपद में ग्रामीण विकास, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी।
3. तिवारी, ब्रजेश, 2002, जनसंख्या पर्यावरण एवं विकास : जनपद मऊ (उ०प्र०) का एक भौगोलिक अध्ययन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय जौनपुर।
4. दत्त एवं सुन्दरम, 1988, भारतीय अर्थव्यवस्था, एस० चन्द्र एण्ड कम्पनी नई दिल्ली, पृष्ठ 45-50।
5. जनरल ऑफ इन्टीग्रेटेड डवलपमेंट एण्ड रिसर्च, वाल्युम-09, न०-1 जून 2019, समग्र विकास एवं शोध संस्थान बलिया।
6. सिंह वृजभूषण, 1979, कृषि भूगोल, तारा पब्लिकेशन वाराणसी।
7. तिवारी, आर०सी० एवं बी०एन० सिंह, 2004, कृषि भूगोल, प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद।

हिन्दी कहानी और आदिवासी स्त्रियों की कथा-व्यथा

डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय
(असि० प्रोफेसर)
हिन्दी विभाग
कूबा पी०जी० कॉलेज, दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़

हिन्दी कहानी हिन्दी साहित्य की एक नवीन विधा है, हिन्दी कहानी अपने जन्म के बाद अपने विकास की यात्रा में बहुत जल्द ही अपने को हाशिए के समाज से जोड़ लिया। आजादी के बाद की कहानियों में उसकी जड़ें गहरी होती गयी और भूमण्डलीकरण दौर आते ही हिन्दी कहानियों में भारतीय समाज के सबसे निचले पायदान की आवाज गूँजने लगी। भारतीय समाज में सबसे ज्यादा आदिवासी उपेक्षित हुए हैं, आदिवासियों में भी आदिवासी स्त्रियाँ आखरी पायदान पर खड़ी हैं। भूमण्डलीकरण ने आदिवासी के जीवन को रौंद डाला इस प्रक्रिया के कारण आदिवासियों का बहुत बड़ा हिस्सा विस्थापित जीवन जीने को अभिशप्त हो गया।

हिन्दी कहानी में आदिवासियों के जीवन की अभिव्यक्ति 1990 के पहले लगभग न के बराबर हुई भूमण डलीकरण की प्रक्रिया ने आदिवासी संस्कृतियों को बहुत गहरे रूप से प्रभावित किया था। यूं कहें तो उनकी संस्कृति को नष्ट करने के लिए सशक्त एवं सुनियोजित हमला किया। आजाद रहना और प्रतिरोध करना उनकी संस्कृति का अभिन्न हिस्सा था। परिणामस्वरूप आदिवासी स्त्रियों का जीवन बेहद संकटग्रस्त हो गया और उसकी अस्मिता तथा अस्तित्व पर खतरा मंडराने लगा। परिणामस्वरूप उनका प्रतिरोध भी बढ़ने लगा। आज आदिवासी समाज के स्त्रियों के जीवन के यथार्थ के दो पहलू हैं एक तरु तो अस्मिता और अस्तित्व के संकट से गुजर रही है तो दूसरी तरु उनकी रक्षा में तनकर खड़ी हो रही है। 1990 के बाद की कहानियों में आदिवासी स्त्रियों के जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। भूमण्डोत्तर दौर की जिन कहानियों में उनका जीवन अपने पूरे यथार्थ के साथ अभिव्यंजित हुआ है उन कहानियों में 'रात बाकी' (रणेन्द्र), 'जोड़ा हारिल की रूपकथा' (राकेश कुमार सिंह), 'बेला एक्का पर लौट रही है' (अरूण प्रकाश), 'राजकुमारों के देश में' (पीटर पाल एक्का), 'खारा पानी' (जयश्री राय) इत्यादि कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। ये कहानियाँ उनके जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज है और उनकी बेगुनाही का सशक्त हलफनामा है। 'जोड़ा हारिल की रूपकथा' कहानी में जंगल पुलिस (वनपाल) लड़कियों की बांह पकड़ लेते थे, साथ सोने को बोलते थें आदिवासियों की इज्जत दातून हो गयी थी जिसे तोड़-चबाकर फाड़ फेंकते थे फारेस्टगार्ड आंवें की भाँति सुलग रहे थे मुण्डा। इसी बीच कोढ़ में खाज एक साँझ पलाशखण्ड की देमुनिया की बेपर्द खूनमखून लाश जंगल के किनारे मिली तो आंवें धुआं उठे।"[1]

राजकुमारों के देश में कहानी में आदिवासी मंगलू काका की बेटी के साथ उस रात पूरन पण्डित, पटेल साब दरोगा बाबू एक साथ उस छोटी मासूम, पवित्रा बे फिक्र झोपड़ी तक चले आये थें जंगली जानवर और बहशी हो गये थे और गाँव वाले जानते हुए भी, नहीं देखने-सुनने का बहाना बना रहे थें छोटी सी दुनिया लुट गयी थी।[2] "बेला एक्का घर लौट रही है" कहानी में बेला एक्का एक आदिवासी लड़की है जो आध्यात्मिक होकर आदिवासी इलाके से निकल कर मुगलसराय शहर में पढ़ाने के लिए जाती है लेकिन वहाँ के समाज में बंध नहीं पाती है। वह आत्महत्या करने की कोशिश करती है और टूट जाती है। बेला एक्का एक पढ़ी लिखी आदिवासी स्त्री है। एक आदिवासी स्त्री जब मुख्यधारा के समाज से जुड़ती है तो मुख्यधारा के लोग उसे किस नजरिए से देखते हैं उन्होंने किन-किन मुसीबतों का सामना करना पड़ता है इसका जीवन्त चित्रण इस कहानी में हुआ है। शिक्षिका बेला एक्का जब अपने लम्पट अधिकारी जगदीश सिंह के खिलाफ ऊपर के अधिकारियों से शिकायत कर देती है तो समाज कल्याण अधिकारी जगदीश सिंह के गुर्गे उन्हें विद्यालय निकलते समय सब्जी मण्डी में घेर लेते हैं। छोटे-छोटी घटनाओं से आहत होकर पूरी तरह से टूट जाती है और इस फैसले पर पहुँचती है कि आदिवासियों के लिए मुख्यधारा में कोई स्थान नहीं है। अंततः इस्तीफा देकर अपने गाँव वापस चली जाती है। यह इस्तीफा पूरे आदिवासी समाज की मुख्यधारा से इस्तीफा है।

जयश्री राय की "खारा पानी" गोवा के मछुआरे आदिवासियों के जीवन पर आधारित है। खारे जल के गहरे नीले पानी में जहाज के बड़े-बड़े धब्बे उभर आये हैं। जयश्री राय की यह कहानी समन्दर की लहरों में बसे उन्हीं लाखों लोगों को विस्थापित होने, उनके सांस्कृतिक विरासत को नष्ट होने और उनके सामाजिक ताने-बाने के छिन्न-भिन्न हो जाने की कहानी है। जिसमें मछुआरे आदिवासियों के जन-जीवन को पूरी तरह से उभरता दिखाई दिया है। कहानी के मुख्य पात्र दया और उसकी प्रेमिका रूपा द्वारा आदिवासी स्त्रियों की अनेक समस्याओं को उभारा गया है। यह कहानी पुलिस पर, सरकार पर, नेताओं पर एन०जी०ओ० और विकास के मौजूदा मॉडल पर गहरे सवाल उठाती है।

रणेन्द्र द्वारा लिखित कहानी "रात बाकी" झारखण्ड के आदिवासियों के जीवन पर आधारित है। यह कहानी झारखण्ड में बन रहे दुर्गावती बांध के आस-पास इलाके से शुरू होती है और पूर्ण होते तमाम विषयों भारतीय राजनीति, राजनीति में सामंती ताकतों का बोलबाला राजनीति और प्रशासन में अन्तर्विरोध यथार्थ और विकास का मॉडल अपने में समेट लेती है। यह कहानी 'सनलाइट सेना' जैसी सामंती सेनाओं द्वारा आम आदिवासी जनता के कत्लेआम को उजागर करती है। कहानी विस्थापन के कारणों, विस्थापितों की आन्दोलन करने की मजबूरी के चित्रण के साथ-साथ नरसंहार के जिम्मेदार प्रशासन और राजनेताओं की मिलीभगत खेल का भी बहुत जीवंत और प्रामाणिक चित्रण पेश करती है। कहानी जनता के पक्ष में खड़े होने की कोशिश करने वाले जे०एन०यू० विश्वविद्यालय के अधिकारी बने छात्रों की वैचारिक पक्षधरता को दर्शाती है। आदिवासियों के लिए बहुत कुछ करना चाहते हुए भी ए०एस०पी० सिद्धार्थशाही और सी०ओ० नरेन्द्र द्वारा कुछ न कर पाना इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है यह कहानी एक ओर ध्यान खींचती है कि शासन प्रशासन से जुड़ा प्रत्येक व्यक्ति आदिवासी समाज से अपने-अपने नजरिए के साथ अपने-अपने फायदे के लिए जुड़ता है। आदिवासियों का हित सर्वोपरि हो इस नजरिए से जुड़ने वालों की संख्या बहुत कम है। बाढ़ से होने वाले विस्थापन को रोकने

और आदिवासियों की जिन्दगी को सुन्दर बनाने की कोशिश करते लिबरेशन आर्मी आम जनता और आदिवासी जनता को सताने वाली 'सनलाइट सेना' के बीच का संघर्ष अन्त में सामने आया है। विस्थापन का विरोध कर रही आदिवासी जनता पर सनलाइट सेना रात में हमला कर देती है वह सामूहिक नरसंहार रचाती है। उसमें शासन भी मिला होता है। उस नरसंहार में आदिवासी नेत्री पुष्पा बुरी तरह से घायल हो जाती है, उनके साथ बलात्कार भी होता है और पूरा आन्दोलन तितर–बितर हो जाता है।

कुल मिलाकर आदिवासी स्त्रियाँ आयेदिन मारपीट, हत्या और बलात्कार जैसे अमानवीय घटनाओं का शिकार हो रही है। जंगल विभाग, ठेकेदार, प्रशासन तीनों तरफ से आदिवासियों को लूटा जा रहा है। उनका घर जंगल उनसे छीना जा रहा है और उनकी अस्मिता और अस्तित्व पर संकट बढ़ता जा रहा है। प्रतिरोध के रास्ते पर चलते हुए मिटते जाना उनकी मजबूरी और उनका यथार्थ बनता जा रहा है। आज भी आदिवासी स्त्रियाँ अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश हैं।

संदर्भ

1. केदार प्रसाद मीणा (सम्पादक), आदिवासी कथा जगत, अनुज्ञा प्रकाशन, नई दिल्ली (2016)।
2. रणेन्द्र– 'रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2010)।
3. अरूण प्रकाश 'बेला एक्का घर लौट रही है', अवंतिका प्रकाशन गाजियाबाद (2013)।
4. जयश्री राय 'खारा पानी',www हिन्दी समय डाट कॉम।

गोदान : संवेदनात्मक अन्तर्विरोध

डॉ० विकास कुमार
सहायक आचार्य
हिन्दी विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

उपन्यास का नाम 'गोदान' कुछ भ्रामह-सा है। अनावश्यक रूप से हमारा ध्यान केवल एक घटना की ओर केन्द्रित हो जाता है, जो सारे उपन्यास का एक अंश और शायद छोटा-सा अंश है। सच तो यह है कि होरी के साथ महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि वह कैसे मरा, बल्कि वह किस प्रकार जिया। उसका जीवन उसकी मृत्यु से अधिक मर्मस्पर्शी है। 'गोदान' का समाज ठहरा हुआ है, सभी चरित्र जैसे प्रतीक्षारत हैं, जैसे कोई घटना घटेगी। लेकिन कोई घटना नहीं घटती। यह नहीं कि कुछ होता नहीं। हर बार यही लगता है कि घटना अनावश्यक बुलबुला बनकर समाज के अथाह ठहराव में विलीन हो जाती है।

'गोदान' में यथार्थवादी उपयोग की वस्तु नहीं है, वह एक दृष्टि बन जाता है, जिसके भीतर मानव का केन्द्रीय प्रश्न उठता हुआ दिखता है। इसलिए 'गोदान' अन्य उपन्यासों से भिन्न भी है, श्रेष्ठतर भी। और इसलिए 'गोदान' महान उपन्यास की कोटि में पहुँचता है। होरी के बाद इस उपन्यास में सबसे महत्वपूर्ण चरित्र प्रोफेसर मेहता का है। प्रोफेसर मेहता और मालती प्रेमचंद के लिए नये प्रकार के चरित्र हैं। उन्हें प्रेमचंद ने अथाह स्नेह देने की कोशिश की है, लेकिन वे जीवित न हो सके हैं। जिस तरह होरी धनिया, सिलिया और गोबर जीवित हैं। लेकिन प्रेमचंद यह जानते हैं कि वे ही भावी मनुष्य हैं जिन्हें जीवित होना पड़ेगा।

उपन्यास के आरम्भिक अंश में मालती और मेहता दोनों ही छिछले हैं और उसी अंश में सबसे अधिक जीवित भी हैं, जैसे-जैसे उनकी गहराई, उनकी पवित्रता, उनकी ईमानदारी खुलती जाती है वे पीले पड़ते जाते हैं। कहीं कुछ सार्थकता नहीं दे पाता। इसी तरह होरी के साथ महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि वह दरिद्रता के नीचे पीसा जा रहा है, बल्कि यह कि उसके हृदय की विशालता, उसकी सहज की उदारता, उसकी धर्मभीरुता, उसकी मर्यादा नीति यह सबका सब भी उसे केवल क्षणिक संवेदना देकर चला जाता है, उसके जीवन को आलोकित नहीं करता।

जगह-जगह प्रेमचंद ने बिरादरी धर्म या समाज धर्म के मुकाबले में मनुष्य धर्म की चर्चा की है। इस मनुष्य धर्म का सम्पूर्ण प्रयोग जीवन को दाँव पर लगाकर खेलने का प्रयास ही होरी, मेहता, मालती और गोविन्दी ने किया है, लेकिन सभी अपने-अपने वृत्त से बाहर नहीं निकल पाते।

'गोदान' वह स्थल है जहाँ प्रेमचंद के परवर्ती उपन्यासकारों ने अपनी कथा आरम्भ की। प्रेमचंद ने मनुष्य को भला और बुरा मिलाकर चित्रित करने की कोशिश की है लेकिन अन्तिम रूप में उनके भलाई और बुराई के संसार अलग-अलग ही हैं।

'गोदान' में होरी की महानता और यहाँ महानता का प्रयोग कैसे अटपटा लगता है, बहुत कुछ इसलिए है कि अपने जीवन-क्रम में वह व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के बीच कोई अन्तर्विरोध नहीं उपजने देता। इस लम्बे प्रयत्न में वह धीरे-धीरे अपनी ट्रैटिक निर्यात को प्राप्त होता है।

होरी एक सामान्य धर्म-भीरु पर व्यवहार व्यक्ति से युवा व्यक्ति है, जो जीवन भर परिवार और समाज से तालमेल रखने की कोशिश में रहता है, और राष्ट्रीय जीवन की बड़ी समस्याओं के प्रति भी जागरूक है- "इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख? सुख तो जब है, कि सभी मोटे हों।"[1] इस तालमेल की कोशिश में वह अपनी 'मरजाद' का ध्यान बराबर रखता है, जिस वजह से तालमेल बहुत बार टकराहट में बदल जाती है। अपने लिए वह कहता है "इस जनम में तो कोई आशा नहीं है भाई। हम राज नहीं चाहते, भोग-विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोटा पहनना, और मोटा-झोटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता।"[2] यही संक्षेप में होरी की जीवन-गाथा है, जहाँ भारतीय किसान का गाय के प्रति दुर्निवार आकर्षण आरम्भ से अन्त तक चलता है।

"गोदान' का रचना-संतुलन ऐसा बेजोड़ है कि उसमें अनवरत संघर्ष, करुणा, सहानुभूति और ट्रैजिक अन्त के बावजूद कहीं किसी एक के प्रति कडुवाहट नहीं आती, गहरा असंतोष उमड़ता-घुमड़ता है तंत्र के प्रति। गांधी और मार्क्स को जैसे प्रेमचंद ने बेंटकर मिलाया हो।

'गोदान' का ढाँचा ऊपर से आर्थिक-राजनीतिक है। किन्तु मूलत: मानवीय और सांस्कृतिक है। धार्मिक कहना भी अनुचित न होगा। गाँव और शहर अलग-अलग अर्थव्यवस्था वाले हैं। ठाट-बाट एवं शिक्षा-दीक्षा का भी भेद है। किन्तु मानवीय करुणा, उदारता एवं क्षुद्रता और संकोच दोनों के एक हैं। गाँव में धनिया, पुनिया जैसी उदार महिलाएँ हैं तो शहर में गोविन्दी, चुहिया और परवर्ती मालती की करुणा एवं उदारता एक जैसी है। पति, पुत्र, पत्नी, परिवार सेवा पर गाँव का एकाधिकार नहीं है। शहर में भी लोग हैं। इसका उलटा गाँव में नोहरी बूढ़े निर्जीव पति को जूतों से पिटती है। शहर में यह काम रायसाहब की लड़की मीनाक्षी अपने ऐय्याश पति को हंटर से पीटकर करती है। किन्तु धनिया, झुनिया, सिलिया और गोविन्दी, मार खाकर भी पति के सौ खून माफ करने को तैयार हैं। होरी तो धनिया का कृतज्ञ है ही। खन्ना भी गोविन्दी के पैरों पर गिर पड़ते हैं। मेहता मालती के आश्रित हैं। मेहता जिस प्रेम को खूँखार शेर कहते हैं वह स्त्री-पुरुष सबमें है। किन्तु सोना में सबसे अधिक प्रगट है। निरपराध सिलिया का भी अपमान कर देती है।

होरी गाँव का वह गाय है जिसे सभी दुहना चाहते हैं। इससे कोई मुक्त नहीं है। स्वयं होरी मौका पाकर दुहता है। भोला को दुहता है। बाँस बेचने में भाई को धोखा देता है। होरी और गोबर दोनों सूद लगाते हैं। किन्तु सबकी सीमा है। होरी गोबर की सीमा है। खन्ना और तंसा की सीमा है। रायसाहब और राजा की सीमा हैं। कोई देना नहीं चाहता। केवल लेना चाहते हैं। देती है केवल मालती। उसके बाद मेहता। सिलिया और

गोविन्दी भी। धन से आसक्ति बढ़ती है।

होरी के शोषक विदेशी नहीं गाँव के लोग हैं। दुलारी, भौजी, दातादीन, नोखेराम, पटेश्वरी, झिंगुरी आदि। ये खुद भी शोषित हैं। जिस दरोगा को धनिया धता बताती है वह दरोगा इनसे वसूल लेता है। इन्हें गोबर भी डरा देता है। होरी रायसाहब की लीला का माली है तो रायसाहब अंग्रेज बहादुर को डाली पहुँचाते हैं। गोबर झुनिया को लेकर लखनऊ भागता है तो रायसाहब का लड़का सरोज को लेकर इंग्लैण्ड जाता है। दोनों अपने बाप को निराश करते हैं।

प्रेमचंद ने अलग सा रहने वाले गाँव और शहर, किसान और जमह्लदार, मिल मालिक और मजदूर, बुद्धिजीवी (मेहता प्रोफेसर, मालती डॉक्टर) और असंख्य अशिक्षित को साथ रखा है। साथ रखकर देखा है इसलिए कि सब मनुष्य हैं। सबकी समस्या एक है। शोषण करने की। शोषित होने की। फिर भी गाँव और शहर में फर्क है। शहर में भाई-चारे का अभाव है। दुलारी कहती है यह सहरी हो गये, गाँव का भाईचारा क्या समझें। प्रेमचंद को गाँव प्रिय है किन्तु गाँव में भी अनेक बुराइयाँ हैं। गाँव गंदा है। स्वार्थी है। झगड़ालू और अपनों को लूटने वाला है। फिर भी होरी 'स्वार्थ-भीरु' है। यह भीरुता गाँव के शोषकों में है। "गोबर की निर्भीक स्पष्टवादिता ने उस अनीति के बख्तर को बेध डाला, जिससे सज्जित होकर नोखेराम की दुर्बल आत्मा अपने को शक्तिमान समझ रही थी।"[3] गाँव की दयनीयता का इससे अच्छा वर्णन क्या होगा? शहर का गोबर यहाँ सबको धमका रहा है। गाँव को शिक्षित और समझदार बनाना होगा। गोबर की धमकी और नाटक का क्षणिक प्रभाव हुआ।

होरी न तो अपने अधिकार जानता है, न उसमें अधिकार-रक्षा की क्षमता है। वह सबको डराने वाले आगा की दाढ़ी नोच सकता है। किन्तु रायसाहब के एक छोटे से प्यादे के सामने साँस फूलने लगती है। "बाप-बेटे में लड़ाई करवा दे, मियाँ-बीबी में लड़ाई करवा दे। इस न में उस्ताद है।"[4] यह कल्पना नहीं सच है।

होरी अपनी गरीबी के चलते ही ऊख बेचकर भोला के गाय के रुपये अदा करने का 'कौल' नहीं निभा सका। भोला होरी के दोनों बैल खोल ले जाता है और यहीं से होरी के मजदूर बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। बैलों के बिना खेती संभव नहीं थी, किसान के बैल मर जायँ तो उसके दोनों हाथ कट जाते हैं। होरी के दोनों हाथ कट गए थे।

निष्कर्ष :

होरी का अंत अपने सांकेतिक रूप में उस जड़ीभूत समाज और सर्वग्रासी व्यवस्था के अंत की अनिवार्यता की घोषणा करता है जिसमें मध्ययुगीन सामाजिक अन्तर्विरोधों के अवशेषों के तौर पर धार्मिक विश्वासों की जकड़बन्दी तथा जाति-प्रथागत भेदभाव से पैदा हुई संकीर्णता भी विद्यमान है तथा साथ ही आधुनिक युगीन विकास की देन के रूप में पैदा होने वाले सामाजिक अन्तर्विरोधों के तौर पर गाँव और शहर का सांस्कृतिक-आर्थिक द्वन्द्व एवं किसानों और सूदखोर महाजनों व व्यापारियों के निजी हितों की टकराहट भी विद्यमान है।

विभिन्न संघर्षों से गरीब कृषकों के बीच एक नई चेतना पैदा हो रही थी, जिसका प्रतिबिम्ब धनिया के साथ गोबर में भी मिलता है। यदियों से दबाये और सताये गये किसानों के शांत जीवन में असंतोष की जिन छुटपुट चिनगारियों को प्रेमचंद ने तलाशा है, वे अचानक नहीं पैदा हो गई थीं। इनके पीछे सामन्ती और महाजनी सभ्यता के विरूद्ध कृषक वर्ग के ऐतिहासिक संघर्ष की चेतना थी। 'गोदान' का लक्ष्य अन्धकारपूर्ण समाज में रहने वाले किसानों के विद्रोह की इन्हीं चिनगारियों से परिचित कराया था।

संदर्भ

1. गोदान
2. गोदान
3. गोदान
4. गोदान

PART – II

Renaissance and its Importance in the Transformation of Europe and the Entire World

Dr. Anshika Arthur,
Assistant Professor, Department of Sociology,
Baikunthi Devi Kanya Mahavidhyalaya, Agra.

Abstract:

It cannot be said that the Middle Ages in Europe was an age of darkness but certainly close on the heels of end of this period, circumstances occurred which created an awareness among the masses. This awareness can be called as Renaissance. The remarkable ancient Greek and Roman civilizations which lost their importance with time resuscitated. Renaissance did not take place suddenly rather it was the culmination of changes over centuries. The Renaissance period can be traced from the fourteenth century which lasted till sixteenth century. Renaissance started a new era which helped in creating a modern world. It took out Europe from its dark medieval past. The underlying principles of Renaissance were faith in worldly affairs, rationalism, admiration of nature etc. The changes which led to the emergence and growth of Renaissance Era were the decline of feudalism, analysis of ancient literature, formation of nation-states, several discoveries and inventions ,growth of trade and commerce with the discovery of new trade routes etc. Italy was the birthplace of Renaissance but later on it spread to whole of Europe. There were several causes of Renaissance like Crusades, commercial prosperity, paper and the printing press, capture of Constantinople by the Turks, the rise of the Mongolian Empire etc. Renaissance was based upon "humanism" which places value upon human life. During age of Renaissance, it was emphasized upon that worldly progress and welfare of humankind is only possible if secularist approach is adopted. It helped in breaking down the all-encompassing hold of religion. Renaissance affected every sphere be it literature, politics, science, art including painting, architecture, sculpture and music. It also promoted rational and scientific outlook based on reason which paved the way for growth and development of science .

Keywords: Renaissance, medieval Europe, humanism, reason, scientific outlook, progress.

Introduction

Renaissance is referred to as "the period in European history which began in the fourteenth century, witnessed drastic changes in the sphere of arts and the intellectual life. The Renaissance period spanned through fourteenth to sixteenth century particularly from 1350 to 1550. It may be said that modern Europe is an offshoot of Renaissance because Renaissance emphasized upon the freedom of thoughts, scientific and cultural outlook, freedom from the influence of Church in literary arena and growth and development of regional languages. French historian Jules Machinate has explained Renaissance on the basis of two factors which encompass all other transformative efforts concerned with Renaissance. The two foremost factors are – "The discovery of the world" and "The discovery of man". The discovery of the world means the opening of trade links across the Pacific, Atlantic and Indian oceans and the introduction of new world of America, South Africa and Australia to the old world people.

Causes of Renaissance

1. Crusades – Crusades were the military expeditions during 4th and 13th century that were undertaken in Europe with the purpose of recovery of Holy Land, Jerusalem from the Seljuk Turks. Arab civilization had enriched through the contact with Greek and Indian civilization. Europeans undertook long voyages and learned new things from the Eastern civilizations which helped in ending European isolation from the world. Aristotle's scientific books, Arabic numerals, Algebra, mariner's compass and paper reached Western Europe.

2. Commercial prosperity – Commercial prosperity helped in the process of Renaissance in four phases that are as follows

1. European businessmen ventured into many countries. They introduced new ideas learned in these countries into their own native countries.

2. New cities like Venice, Milan, Florence, Angelbourg and Nurembourg came into existence. Businessmen across the world visited cities which emerged as the centre of international trade. Thus. exchange of ideas occurred. Development of knowledge got a boost.

3. With the development of trade and commerce, businessman accumulated good amount of wealth. They yearned for learning and gained knowledge from the libraries situated in Cairo, Baghdad, Cordova etc. They also acted as patrons of learning and in fact, supported scholars who were interested in literary activities and scientific research.

4. The business class came into conflict into Church and tried hard to undermine its importance.

3. Paper and Printing Press – Johann Guttenberg of German is the inventor of type-machine. Modern printing press has been evolved from this type machine. With the invention of paper and printing press, intellectual growth got impetus. Revolutionary changes occurred as a consequence of inventions of printing press. With the pace of time, printing press reached Italy, Germany, Spain and France. Books were made easily available to masses at a very low cost which made them aware of new areas of knowledge and their rights. In this monopoly of elites over knowledge came to an end. Superstition and orthodoxy were on their way out.

4. Capture of Constantinople by the Turks – The Constantinople was the capital of East Roman Empire. Turks captured it in 1453.Land routes from Europe to Eastern countries came under the control of Turks. Luxuries and spices of the East was in great demand in Europe. Thus, South-Western European people were in search of new sea-routes to the East. Consequently, America was discovered and sea-routes to East-Indies and India were also discovered. Many Greek scholars, philosophers and artists migrated to Italy, France, Germany, England etc. from Constantinople in search of subsistence. They carried with them the ideas of rich ancient Greek and Roman civilization.

5. The Rise of Mongolian Empire – After the death of Chengez Khan, Kubla Khan took over the reigns of vast Mongolian Empire. His court was graced by the Pope Cardinals, Buddhist or Indian monks, craftsmen from Paris, Italy and China and great scholars of mathematics and astrology.

Peking and Samarkand emerged as famous international centre. Cultural exchanges took place between countries of the East and the West. Europeans benefitted a lot through contact with various countries of the World. Marco Polo, Italian traveler Kubla Khan's court in 1273. His book provided deep insight about the places he visited.

Italy – The birthplace of Renaissance

Renaissance first appeared in Italy and thereafter spread to European countries like France, England, Germany and other countries. Renaissance occurred in Italy because Italy was rich culturally and where ancient tradition of gaining knowledge was existent.

1. The structure and development of social classes in Italy was different from the European countries. The liberal thinking of social classes were receptive to newly emerging liberal ideas.

2. Italy was one of the important centre of trade between Arabian, Asian countries and European countries.

3. Italy was the birthplace of Roman civilization. Italians were proud of their rich culture and heritage. They tried hard to revive the glory of their ancient Roman civilization which led to the birth, evolution and development of the process of Renaissance.

4. Rome, a residence of highest Priest Pope, was the centre of Christianity. Popes motivated scholars to convert Roman manuscripts into Latin.
5. New trends in education which emphasized upon science and logic were introduced. This could only be possible with the rise of business class in Italy.
6. With the capture of Constantinople in 1453 by the Turks, various scholars migrated from Constantinople to Italy. They had taken with them the ancient manuscripts of rich Greek literature. These scholars got settled down in Italy and become teachers in schools and universities of Italy.

Characteristics of Renaissance

Renaissance freed people from rigidity and orthodoxy of medieval religious dogmatic thinking. The universities like that of Bologna, Oxford, Cambridge and Paris promoted logical thinking and reasoning. During Renaissance period, Empiricism (i.e which relies upon observation and experiment rather than accepted pre-conceived notions) was promoted. Robert Bacon was the predecessor of Empiricism. On the basis of experiment, Galileo proved Copernicus' principle was unarguable.

The most prominent characteristics of Renaissance was "humanism". Humanism is the philosophy which focuses upon the importance of human life. It shows love and respect towards humans. It also concerned with the betterment of human life. The protagonists of humanism came to be known as "humanists". Humanists underscored that happiness lies in the welfare of people, not in becoming vassals of God or exemplifying military strength. Secularism was the distinguishing aspect of Renaissance because human expression of ideas and liberal thinking cannot be evolved or developed within the rigorous bonds of religion. Irasmus was the notable figure of humanism. The other prominent protagonists of humanism were the Johann Reuchlin and Philip Melanchthon. In England, John Colet and Thomas Moore were among the greatest supporters of humanism.

The Impact of Renaissance

(A) The Impact on Literature

The development of several languages like Italian, Spanish, French, German, English, Portuguese was one of the impact of Renaissance. Efforts were made to translate holy book Bible into several languages.

The favorite themes of Renaissance literature was the description of human life and activities which sidelines the religious themes. Three great writers of Renaissance era were the Shakespeare, the English dramatist; Rabelais, the French satirist and Cervantes, the Spanish poet and playwright.

Change in the style of writing can be observed in European languages. Change in style of poetry can be observed in terms of rhythm, rhyme and images. Drama also witnessed changes as the satire was the favorite theme. Prose-writing was adopted in significant scale during Renaissance era. Italian writer Boccacio Decameron can be cited as the best example of prose-writing later on.

➢ Italian literature

The forerunners within the field of Italian literature who assimilated the spirit of Renaissance are Dante, Francisco, Petrach and Giovani Boccaccio. Dante's poetry' Petrach's biographies and Boccaccio stories enriched Italian literature. In The Divine Comedy ,Dante discusses imaginary journey through Hell, Purgatory and Paradise. Thus, the journey starts with pain , sorrow and grief which ultimately ends with eternal ecstacy. Dante is known as the father of Italian poetry.

Further, Petrarch was another eminent personality of Renaissance period. In contrast to Dante's choice of religious theme, Petrarch signaled people's attention towards richness of Greek and Roman literature. Petrarch invigorated the spirit of humanism in whole of Europe.He is called "Father of Humanism". Boccaccio ,who was the disciple of Petrarch exemplified his story-writing skills in his famous work Decameron .He highlighted the moral degradation prevalent in Italian elites. Other Italian poets who left their legacy are Ariosto, Tasso and Cellutani.

➢ French literature

In France, Rabelais and Montaigne were the noteworthy writers during Renaissance period. Rabelais note was satirical. He criticized the fanatic and superstitious attitude of the rich. The central idea of Rabelais literature was "thirst for intelligence, morality, experience and truth". The thirst became most important theme of Renaissance.

Montaigne was the famous essayist of France. He chose topic like friendship, polity, education, etc. for his essays. He portrayed the medieval chaos. He is known as the forerunner of Voltaire. He was also a humanist. He is also known as the" The first modernist".

➢ English literature

Geoffry Chaucer is known as the "The father of English poetry". His notable work is *Canterbury Tales* which reflects the influence of Boccaccio's *Decameron.* He is the person who is associated the invention of "Sonnet". Another English writer Thomas Moore who contributed to the cause of Renaissance. He wrote the famous book. *Utopia.* He examined the social evils and deprivation which afflicted the English society. Francis Bacon was the best essayist of Renaissance period in English language. Bacon was advocate, philosopher, writer and politician all rolled into one. His essays carried the traits of humanism. The greatest contribution of England was William Shakespeare. He was the greatest poet and dramatist of Renaissance era. His distinguishing style, language and presentation sets his apart from others. His noteworthy plays are Merchant of *Venice, Hamlet, Macbeth, Romeo and Juliet, King Lear.*

➢ Literature in other languages

Holland, Spain, Germany and Portugal were also not unmatched by the effect of Renaissance. Erasmus was a great humanist writer who belonged to Holland. *In the Praise of Folly* was the most outstanding work of Erasmus. He brings forward the degrading aspects of religious ways of life, superstitions of masses, greed of the rulers, ignorance of religious scholars, ills of education system and violence of wars. *In the Praise of Folly,* was the book who witnessed the highest scale in the world. Cervantes is the greatest writer of Spain whose book Don Iis satirical about the feudal life of that time.

(B) Impact Upon Politics

Dante dealt with politics in his book *The Monarch.* He expressed his viewpoint that sovereign should be paramount in secular matters. Marciglo was also critical of Pope's intervention in his work *Defender of Peace.* Machievelli was the greatest thinker of that age. He wrote famous book *The Prince.* He pointed out the bad effects of influence on state. He justified any method which leads to attainment of goal. Hobbes of England was another eminent personality.

(C) Impact on Art

Now efforts were made to create harmony between life and nature. New art form evolved during this period. Different themes based on humanism were chosen disregarding religious themes.

➢ Painting

One arena which bore the greatest impact of Renaissance is that of painting. Giotto of Italy moved away from Byzantine art and created attractive painting of man and nature. The later-day artists after Giotto improvised upon Giotto and focused more upon sync between light and shade came to be known as Chiaroscuro painting. These painters analyzed human body form minutely and made a deep observation how joints and muscles bulges during different activities carried out by humans. Thus, their paintings were life-like. The forerunners of painting in Italy and their contribution is unrivalled. The three painters are Leonardo da Vinci, Michael Angelo and Raphael.

- Lenardo da Vinci holds a pre-eminent position. He was an inimitable and versatile genius. He was a mathematician, scientist, engineer, philosopher, painter and musician. He was a disciple of Varragnio. His master was enthralled by his painting skills. Michael Angelo, Raphael and Bottavellis were his contemporaries. It was only with the help of deep knowledge about human anatomy and physiology that he could make realistic paintings. He tried out the various combinations of colour and form. He painted several sketches of warriors, old people and body organs of humans which bore out the true representation. His magnum opus are *"The Last Supper"* and *"Mona Lisa"*.

- Another painter of repute was Michael Angelo. Besides being an artist, he was sculptor, architect, engineer and poet. His central theme was man. His paintings express aesthetic grace, artistic perfection and amazing talent. He painted scenes of Bible on the ceiling of Sistine Chapel in Rome. His greatest painting is *"The Last Judgement"* which was completed in eight years .Angelo made use of mineral colours. He chose vivid colours like cherry red, almond grey, torquiose blue and golden yellow for his immortal painting.

- Raphael also holds important place in the history of Renaissance art. The influence of both Leonardo da Vinci and Michael Angelo can be clearly seen in his paintings. He has beautifully expressed womanly compassion and motherhood. His greatest masterpiece is the portrait of Madonna – Jesus'mother

- European painters of Renaissance period were Lucas, Duirer and Henis Dalvin in Germany, Degavallis Kaith in Spain and Van Eyek brothers in Holland.

➢ Architecture

Gothic system of architecture was prevalent during the Middle Ages. Fillippo Brunelleschi, an Italian architect, introduced new style of architecture which was the blend of Gothic, Roman and Arabian styles. Brunelleschi build round arches instead of pointed arches. This new style flourished in the sixteenth century. Michael Angelo was the pre-eminent architect of this century. Michael Angelo along with Raphae enacted the St. Peter's Cathedral in Rome. The fascinating massive dome of this cathedral is the outstanding achievement of Renaissance era architecture. Other unmatched monuments of Renaissance architecture are the Lubre Palace in Paris, St. Paul's Cathedral in London and Escorial Palace in Spain.

➢ Sculpture

Usually both architecture and sculpture flourish together. Lorenzo Gipperti, Donatello and Michael Angelo were the most renowed sculptors of Renaissance period. They sculpted idols of Jesus and Mary and other notable personalities. Gipperti made beautiful doors for Cathedral at Florence. Carvings on doors were inspired from the Old Testament, Donatello chose human life as the motif of his statues. Saint Mark statue in Venice is the most classic work of Donatello. Further, Angelo also sculpted magnificient statues which are kept in the Cathedral of Medici. His famous statues include that of Pieta(16 feet high) in Rome and statue of David in Florence. Italian architecture left indelible mark upon the art of Germany, France, England and Spain. The tombs of Isabella and Emperor Ferdinand exhibit new style of architecture in Spain. This new style later on spread over all over Western Europe.

➢ Music

Music also developed in the Renaissance period. Martin Luther composed religious songs. Giovanni Palestrina was a famous composer at that time. He also published a book on music which gained wide publicity. Pope had also given approval to his musical notes for the purpose of prayers. Another famous composer was Maskindas. He developed new style of music with the help of Italian musicians. Music was not given more importance. Instrumental music became popular among the masses. Violin replaced medieval instrument called ribic. Harpsichord was also introduced which can be called precursor of piano.

(D) Impact on Science

The impact of Renaissance over science was phenomenal. The important causes of scientific progress are as follows:

- The Protestant revolt made people free from religious hold and encouraged them to think freely and independently.
- Humanism developed intellectual insight amongst masses.
- Philosophers acquired futuristic orientation in thinking.
- A scientific temper received impetus because of emergence of nation states
- With the discovery of new countries, people got to know about new things and countries
- Scholars belonging to Renaissance period accepted classical theories if they could live up to the yardstick of science.

Francis Bacon promoted scientific outlook .He summed up his point in these words "Knowledge is gained through by means of observation". The astronomer of Alexandria proclaimed in the 2nd century that earth lies in the centre of the Universe. But the Polish scientist Copernicus in the 16th century affirmed that earth is a planet and rotates around the sun. Thus, he rejected Ptolemy's theory .Copernicus theory came into conflict with the tenets of Bible so he was ordered by the Pope not to propagate his theory. Giordano Bruno was burnt alive as he dared to support and disseminate Copernicus theory against the wishes of the Church. Later on, Johann Kepler proved Copernicus theory on the basis of mathematical principles. He further said that all planets rotate round the sun and their orbits are elliptical, not circular. Italian scientist Galileo also invented telescope and observed celestial bodies with the help of it. In opposition to Aristotle's theory, Galileo asserted that the velocity of falling objects depends not upon on their weight but on the distance they have to cover during fall.

Great scientist named Isaac Newton took birth in this age of Renaissance. He is credited with the formulation of laws of gravitation. He proved that it is due to force of gravitation that every body falls on the earth. People accepted Newton's theory. And now they are in a position to accept the fact that the world is guided by law unlike the previously accepted view that world is a divine creation or a sudden happening.

Furthermore, stupendous progress could be seen in the fields such as medicine, mathematics, physics and chemistry. Andreas Vesalius from Netherland studied medicine and surgery. In his book titled *"The Structure of Human Body",* he discussed minutely the anatomy

of human body. English scientist William Harvey proclaimed the law of blood circulation which did away with old misconceptions and helped in proper diagnosis of diseases. There was also vast progress in chemistry, metallurgy and mineralogy. Several new laws of chemistry were enunciated with regard to division, applications and smelting of metals like copper, iron, zinc, cobalt and bismuth. The demand of minerals led to digging of mines. New tools and techniques were required for digging deeper mines. Alloys were also used in formulation of medicines. The names of Paracelsus and Holdmont cannot be forgotten in the field of chemistry. Close relationship between chemistry and medical science was established by Paracelsus .Holdmont discovered carbon-dioxide gas.

Descrates, French mathematician and philosopher applied algebra in geometry. He was the originator of Skepticism, which helped in progress of science. Galileo formulated the laws of pendulum which are applied in making watches. He also invented barometer.

In the age of Renaissance, science took the route through skepticism, observation and experimentation. This scientific approach is valid even today. Religious doctrines or dogmas came to be questioned in the light of scientific principles which ultimately directed people to develop new perception in the arena of art, occupation, education and life. Renaissance marked a new epoch in human history and it fostered a scientific and progressive outlook.

Importance of Renaissance

Renaissance promoted progressive outlook and it uploaded the importance of humans. Several scholars and scientists of Renaissance held the view that there is need to make this world beautiful and happy place to live in. Renaissance also advocated materialistic outlook.

Renaissance questioned the rigid and dogmatic beliefs and doctrines which paved the way for relevance of reasoning and insight. Freedom of thought is the cornerstone of the Renaissance. It developed in people the enthusiasm for expression. Novel inventions and discoveries, scientific temper and logical-based reasoning spelled the doom for orthodox religious beliefs and practices. People were aroused to create a Paradise on earth and they were largely successful in this venture.

Secularism, which means separation of religion from other spheres of life particularly politics, came into prominence during Renaissance. The shrinking hold of religion and the Church led to the development of spirit of nationalism. Spirit of nationalism kindled people with growth, development and progress of nations. Thus, nation-states came into existence.

Conclusion

The importance of Renaissance can be gauged from the fact that it propagated progressive outlook in society. Many scholars and scientists prioritized upon making the human world more peaceful and prosperous. Thus, it may be concluded for sure that Renaissance provided a solid bedrock for future. It sets out the goals for humanity. Its relevance lies in that it broke humans away from the shambles of medieval religious bigotry. It paved the way for future prosperous world.

Refences

1. Garraty, J.A & Gay, P.(1972).The Columbia History of the World, Harper & Row
2. Lucas, Henry S.(1934).The Renaissance and The Reformation, Harper Brothers
3. Jain, H.C & Mathur, K.C.(2006).A History of the Modern World 1500-2000 A.D(2nd ed.) Jain Publication Mandir
4. Jarus, O. & Szalay, J.(2022,January) The Rebirth of Science & Culture https://www.livescience.com

A Study Effect of Weight Training Program on Selected Physical Fitness Variables Among Inter Collegiate Level Handball Players

Dr Amarjeet
Associate Professor
Department of Physical Education
Sarvoday P.G College, Ghosi-Mau
Affiliated with M.S.D.S University Azamgarh

Study Aim

The aim of the study was examine weight training is a full-body workout that promotes physical fitness among Inter C0llegiate level men handball players. It provides with extraordinary balance, muscular endurance and flexibility. It improves physical fitness skills. It improves physical and social functioning and strengthens the overall body capacity.

Materials and methods

Therefore the purpose of the study was to examine the effect of weight training exercises on selected fitness parameters of Inter C0llegiate level men handball players. To achieve the purpose of the study Inter C0llegiate level handball players participated were randomly selected from in and around Uttar pradesh, and their age was ranged between 17 to 23 years. The subjects were randomly assigned into two equal groups (n=15). All the subjects were divided in to two groups with 15 subjects each as experimental and control group. Group-I underwent weight training exercises for a period of 6 weeks and group-II acted as control who did not participate in any special training other than the regular routine. The fitness variables such as Muscular endurance, Flexibility and Balance were selected as dependent variables. Muscular endurance was tested by Sit-ups test unit measurement in points, Flexibility was tested by Sit and reach test unit of measurement in centimetres and Balance was tested by balance backward test unit of measurement in seconds. The dependent't' test was applied to determine the difference

between the means of two groups. To find out whether there was any significant difference between the experimental and control groups. To test the level of significant of difference between the means 0.05 level of confidence was fixed.

Results: The result of the study shows that, there was a significant improvement takes place on Muscular endurance, Flexibility and Balance of Inter C0llegiate level handball players.

Conclusions: Improved of Muscular endurance, Flexibility and Balance after regular weight training exercises is beneficial for Inter C0llegiate level handball players. Therefore weight training exercises covered in this study are beneficial for the handball players.

Introduction

Handball is distinguished by short bursts of high-intensity effort. Low-intensity phases alternate with high-activity phases although the majority of a match is spent at a lower intensity, the most decisive actions, such as throwing, jumping, accelerating, sprinting, and tackling, necessitate high levels of explosiveness and strength [3-5]. As a result, resistance training should be included in pragmatic conditioning programs to promote these characteristics. The benefits of strength training are numerous (e.g., plyometrics, isomet-rics, dynamics, and isokinetic training). Other options include dynamic strength training combined with variable resistance, such as weight training (upper body weight training and lower body weight training) and weight lift chains [6-10].There is a lot of scientific evidence that dynamic strength training combined with elastic resistance can help athletes improves their limb strength performance [6-14]. SSC is intuitively logical to include in handball training because handball players frequently throw, push, jump, sprint, and change direction. Furthermore, several studies have shown that loaded weight training with other types of resistance improves athletic performance. In fact, Lyttle et al [15]. In adult male athletes, 8 weeks of biweekly loaded plyometric training (weighed bench press throw at 30% 1RM) resulted in an increase in one-repetition maximum (1RM) bench press and medicine ball throw performance.Furthermore, Khalifa et al.Described improved jump performance in elite male basketball players after 10 weeks of loaded weight training (weight vest).However, the equipment used in these studies for loaded weight training was more expensive, heavy, and sophisticated than elastic resistance, such as the elastic band, which is prohibitively expensive for some athletes. To the best of our knowledge, no previous research has investigated the effects of weight training on selected physical fitness variables among Inter C0llegiate level handball players.

Methods

The purpose of the study was to find out the effects of weight training on selected physical fitness variables among Inter C0llegiate level men handball players. To achieve the purpose of the study, thirty Inter C0llegiate level handball playerswere selected from in and around Uttar pradesh. The subjects were randomly assigned in to two equal groups namely, Weight training group (WTG) (n=15) and Control group (CG) (n=15). A pilot study was conducted to assess the initial capacity of the subjects in order to fix the load. The respective training was given to the experimental group the 5 days per weeks (alternate days) for the training period of six weeks. The control group was not given any sort of training except their routine.Design: The fitness variables such as Muscular endurance, Flexibility and Balance were selected as dependent variables. Muscular endurance was tested by Sit-ups test unit measurement in points, Flexibility was tested by Sit and reach test unit of measurement in centimetres and Balance was tested by balance backward test unit of measurement in seconds.

Training Program

The training program was conducted for 45 minutes for session in a day, 5 days in a week for a period of 6 weeks duration. These 45 minutes included 10 minutes warm up, barbell squat, the deadlift and the bench press. The resistance was individualized in such a manner that each athlete could perform 3 to 6 repetitions of the exercise in 3-4 sets. The training protocol directed at the development of power included the following exercises: barbell jump squats, the clean and jerk, a dynamic bench press. The number of repetitions in particular sets ranged from 3 to 6 performed within 3-4 sets. In both groups the training loads increased progressively throughout the experiment, changing the intensity as well as the number of sets and in for 25 minutes and 10 minutes warm down. Every two weeks of training 5% of intensity of load was increased from 65% to 80% of work load. The volume of Weight training prescribed based on the number of sets and repetitions. The equivalent training is the length of the time each action in total 5 day per weeks.

Statistical Analysis

The collected data before and after training period of 6 weeks on the above said variables due to the effect of Weight training was statistically analyzed with dependent 't' test to find out

the significant improvement between pre and post-test. In all cases the criterion for statistical significance was set at 0.05 level of confidence. (P<0.05)

Computation of 't' Ratio on Selected Physical Fitness Variables of Inter Collegiate Men Handball Players on Experimental Group and Control Group

Group	Variables		Mean	N	Std. Deviation	Std. ErrrMean	t ratio
Experimental Group	Muscular Endurance	Pre	22.26	15	3.86	0.430	14.55*
		Post	28.23		3.13		
	Flexibility	Pre	20.80	15	3.58	0.153	25.66*
		Post	24.73		3.53		
	Balance	Pre	16.54	15	5.70	0.930	13.50*
		Post	19.78		5.49		
Control Group	Muscular Endurance	Pre	22.46	15	3.48	0.350	1.524
		Post	23.00		3.18		
	Flexibility	Pre	19.93	15	3.75	0.320	1.247
		Post	20.33		3.55		
	Balance	Pre	16.00	15	2.80	0.169	1.847
		Post	16.48		2.62		

**Significant level 0.05 level degree of freedom (2.14, 1 and 14)*

Table reveals the computation of mean, standard deviation and't' ratio on selected fitness parameters namely muscular endurance, flexibility and balance experimental group. The obtained't' ratio muscular endurance, flexibility and balance were 14.55, 25.66 and 13.50 respectively. The required table value was 2.14 for the degrees of freedom 1and 14 at the 0.05 level of significance. Since the obtained't' values were greater than the table value it was found to be statistically significant. Further the computation of mean, standard deviation and't' ratio on selected physical parameters namely muscular endurance, flexibility and balance control group. The obtained't' ratio on muscular endurance, flexibility and balance were 1.524, 1.247 and 1.847 respectively. The required table value was 2.14 for the degrees of freedom 1and 14 at the 0.05 level of significance. Since the obtained't' values were lesser than the table value it was found to be statistically not significant

Bar diagram showing the pre, post means values of Weight Training exercisetraining group (WTG) on Physical Fitness Parameters.

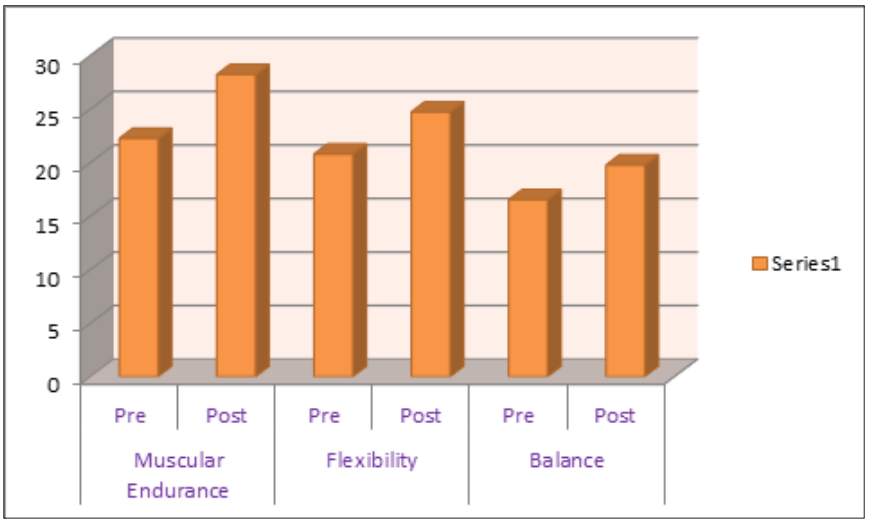

Bar diagram showing the pre, post means values of Control group (CG) on Physical Fitness Parameters.

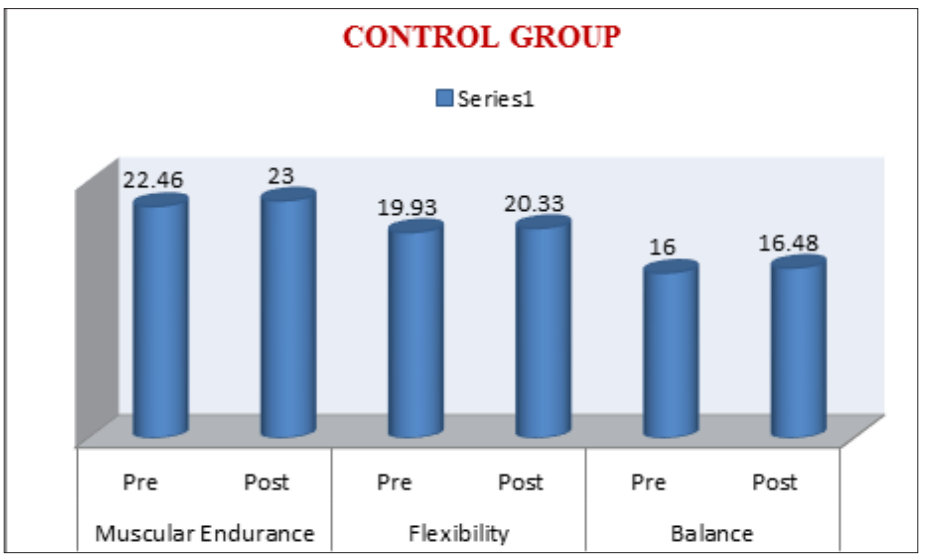

Discussion Findings

The present study experiment the effect of weight training on physical fitness parameters of Inter C0llegiate level men handball players. The result of the study indicated that the weight training improved the physical fitness parameters such as muscular endurance, flexibility and balance.

The findings of the present study had similarity with the findings of the investigations referred in this study. However, there was a significantly changes of subjects in the present study the muscular endurance, flexibility and balance was significantly improved of subject in the group may be due to the in weight training [17]. Reported that six weeks impact of Plyometric training, the group improved significantly on all functional fitness components [18]. Showed that significant improvement in all the selected physical variables namely agility, explosive power, muscular strength endurance and flexibility among handball players .Evaluated that aerobic exercise has positive effect on improvement of cardiovascular endurance, muscular strength, muscular strength and flexibility.

Conclusions

1. There was a significant improvement takes place on selected physical fitness parameters due to the effect of six weeks weight training of Inter C0llegiate level men handball players.
2. There was a significant difference exists between experimental and control groups on selected fitness parameters such as muscular endurance, flexibility and balance of Inter C0llegiate level men handball players.

Funding: The research received no funding or support from any of the agencies

Conflicts of Interest: The authors declare no conflict of interest.

Ethical approval: Not applicable

Availability of data: All available data has been presented in the study.

Reference

1. Chelly, M.S.; Ghenem, M.A.; Abid, K.; Hermassi, S.; Tabka, Z.; Shephard, R.J. Effects of in-season short- term plyometric trainingprogram on leg power, jump- and sprint performance of soccer players.J. Strength Cond. Res.2010, 24, 2670–2676.

2. Ortega-Becerra, M.; Pareja-Blanco, F.; Jimenez-Reyes, P.; Cuadrado-Penafiel, V.; Gonzalez-Badillo, J.J. Determinant Factors ofPhysical Performance and Specific Throwing in Handball Players of Different Ages.J. Strength Cond. Res.2018, 32, 1778–1786.

3. Anderson, C.E.; Sforzo, G.A.; Sigg, J.A. The effects of combining elastic and free weight resistance on strength and power inathletes.J. Strength Cond. Res.2008, 22, 567–574.

4. Bellar, D.M.; Muller, M.D.; Barkley, J.E.; Kim, C.H.; Ida, K.; Ryan, E.J.; Bliss, M.V.; Glickman, E.L. The effects of combined elastic-and free-weight tension vs. free-weight tension on one-repetition maximum strength in the bench press.J. Strength Cond. Res.2011, 25, 459–463.

5. Joy, J.M.; Lowery, R.P.; Oliveira de Souza, E.; Wilson, J.M. Elastic Bands as a Component of Periodized Resistance Training.J.Strength Cond. Res.2016,30, 2100–2106.

6. Rhea, M.R.; Kenn, J.G.; Dermody, B.M. Alterations in speed of squat movement and the use of accommodated resistance amongInter C0llegiate athletes training for power.J. Strength Cond. Res.2009, 23, 2645–2650.

7. Schabort, E.J.; Hopkins, W.G.; Hawley, J.A. Reproducibility of self-paced treadmill performance of trained endurance runners.Int.J. Sports Med.1998, 19, 48–51.

8. Paditsaeree, K.; Intiraporn, C.; Lawsirirat, C. Comparison between the Effects of Combining Elastic and Free-Weight Resistanceand Free-Weight Resistance on Force and Power Production.J. Strength Cond. Res.2016, 30, 2713–2722.

9. Shoepe, T.C.; Ramirez, D.A.; Rovetti, R.J.; Kohler, D.R.; Almstedt, H.C. The Effects of 24 weeks of Resistance Training withSimultaneous Elastic and Free Weight Loading on Muscular Performance of Novice Lifters.J. Hum. Kinet.2011, 29, 93–106.

10. P Kumaravelu and K Govindasamy. Efficacies of SAQ drills on selected bio-motor abilities among inter collegiate athletes. International Journal of Yogic, Human Movement and Sports Sciences. 2018; 3(1): 160-161.

11. Kumaravelu P, Govindasamy K. Impact of circuit resistance training on leg strength among University players from different discipline. International Journal of Yogic, Human Movement and Sports Sciences. 2018; 3(1):158-159.: https://doi.org/10.22271/yogic.2018.v3.i1c.08.

12. Lyttle, A.D.; Wilson, G.J.; Ostrowski, K.J. Enhancing Performance: Maximal Power vs. Combined Weights and PlyometricsTraining.J. Strength Cond. Res.1996, 10, 173–179.

13. Khlifa, R.; Aouadi, R.; Hermassi, S.; Chelly, M.S.; Jlid, M.C.; Hbacha, H.; Castagna, C. Effects of a plyometric training programwith and without added load on jumping ability in basketball players.J. Strength Cond. Res.2010, 24, 2955–2961.

14. Chelly, M.S.; Hermassi, S.; Aouadi, R.; Khalifa, R.; van den Tillaar, R.; Chamari, K.; Shephard, R.J. Match analysis of eliteadolescent team handball players.J. Strength Cond. Res.2011, 25, 2410–2417.

15. Hermassi, S.; Chelly, M.S.; Fathloun, M.; Shephard, R.J. The effect of heavy- vs. moderate-load training on the development ofstrength, power, and throwing ball velocity in male handball players.J. Strength Cond. Res.2010, 24, 2408–2418.

16. Hermassi, S.; Chelly, M.S.; Tabka, Z.; Shephard, R.J.; Chamari, K. Effects of 8-week in-season upper and lower limb heavyresistance training on the peak power, throwing velocity, and sprint performance of elite male handball players.J. Strength Cond.Res.2011, 25, 2424–2433.

17. Chelly, M.S.; Hermassi, S.; Aouadi, R.; Shephard, R.J. Effects of 8-week in-season plyometric training on upper and lower limbperformance of elite adolescent handball players.J. Strength Cond. Res.2014, 28, 1401–1410.

18. Povoas, S.; Seabra, A.; Ascensao, A.; Magalhaes, J.; Soares, J.; Rebelo, A. Physical and physiological demands of elite teamhandball.J. Strength Cond. Res.2012, 26, 3366–3376.

19. Bayios, I.A.; Anastasopoulou, E.M.; Sioudris, D.S.; Boudolos, K.D. Relationship between isokinetic strength of the internal andexternal shoulder rotators and ball velocity in team handball.J. Sports Med. Phys. Fit.2001, 41, 229–235.

Intellectual Property Rights and Its Evaluation

Aditya Kumar Yadav,
Research Scholar, Deptt. Of Law, T.D. Law College, Jaunpur

Introduction:

Intellectual property rights (IPR) generally refer to intangible intellectual property owned by individuals and protected by law, including production, design, ideas and contributions to modern knowledge. External use or use by unauthorized persons or companies. Economic growth, financial support and the best innovations available in the legal protection of intellectual property require updating wisdom, planning and timely guidance in the field of intellectual property. With the rapid development of technology, research and medical innovation we see today, intellectual property has an increasingly important role. Additionally, changes in the global business environment have influenced the development of business models in which intellectual property is an important element in debt generation and potential growth. India has adopted many new intellectual property protection laws to fulfil its international obligations under the WTO Agreement on Trade in Intellectual Property Rights (TRIPS). As a result, intellectual property has become one of the largest and fastest growing fields in the world, requiring skilled intellectual property professionals in the field to solve the problem. Intellectual property issues cross borders and are worldwide. As you know, accounting firms play different roles in the field of intellectual property, and today's advancement in the field of intellectual property has widened the door for professionals to provide guidance, practical and available solutions on intellectual property-related matters. Housing.

Policy changes made as of November 1, 2018 are included in the research documents. However, the content of Intellectual Property Rights: Policy and Application is important in terms of understanding the principles and principles related to Intellectual Property Law, on the one hand, and on the other hand, it is also covered by laws, rules and regulations. Going forward, all students are required to send the College the monthly "Authorized Secretary" newsletter, the "Student Corporation Secretary" electronic newsletter and other legal documents to update laws and rulings from time to time. and assistance from specialist journals and reference materials on the subject.

Scope of Intellectual Property Policy

In today's world, intellectual property (IP) plays an important role in the protection and commercialization of intellectual achievement. Degree. Intellectual property plays an important role in providing organizations with a competitive advantage. Today, an organization's intangible assets, such as knowledge, productivity, brand, design, and other creative assets and innovations, are often more valuable as assets. The organization's Intellectual Property (IP) Policy should create a competitive and enabling environment for idea-driven and business-oriented research and development activities at the corporate level to protect the creation of first works. The requirements set out in this document must fulfil the institution's commitment to promoting academic freedom and providing a good environment for research and development. It also complies with the Government of India's National Intellectual Property Policy 2016.

Innovation is the key to the growth of any business. The main source of innovation in the country is education and research institutions. In the age of the knowledge economy, the innovation created by these organizations must be protected. The Intellectual Property Trade Agreement (TRIPS), signed in 1995, is one of the most important of various agreements between intellectual property rights. According to the World Intellectual Property Organization (WIPO), intellectual property law provides a structure, predictability and environment that enables universities and researchers to acquire and share knowledge, technology and intellectual property. All the world's top universities manage and protect their intellectual property through effective intellectual property policies. Although India is ranked 4th by the published magazine according to SCIMAGO Magazine and Country Rankings 2019, it is ranked only 46th in the Global Innovation Index 2021. The Indian government introduced the National Intellectual Property Act in 2016. One of the main objectives of the law is to promote and develop intellectual property in institutions and conduct research to contribute to the creation and use of intellectual property for the public benefit in general. Over the next decade, the Science, Technology and Innovation Policy (STIP) aims to ensure individualization and employment of our research force for India. The COVID-19 pandemic has provided a great opportunity for collaboration between education and business.

Types of Intellectual Property Rights

Patents: The University has full rights over all patentable inventions resulting from the work of the University. The University will generally make an initial decision on whether to seek a patent or other legal protection within six months of the inventor first notifying the

University of the potential invention. If the University chooses to seek a patent or other legal protection, all costs will be borne by the University or its sponsor or licensee.

Copyright: Except as otherwise provided in these statutes, the University is the owner of all copyrighted materials (including computer, software or multimedia works) operated for hire under the law or installed by the University. As a long-standing academic institution, most universities do not recognize ownership of books, articles, theses, biographies, or works of art.

Educational Materials: Educational Materials created in the normal course of the University's educational work are generally the property of the creator of the document. However, there may be situations where the University may have educational materials created for the job, for example materials created by non-teaching staff in the University's area of expertise. Because this policy cannot consider all possible cases, the Office of the Vice Chancellor for Investigations will conduct the evaluation (using the University's policy and other important factors) or designate other appropriate University agencies, if necessary, to evaluate each specific case. Determine ownership of the information and who has the right to use it. According to this policy, the University aims to evaluate the member's interests and rights to use information before creating it.

License Negotiations: Depending on the University's assessment of commercial interest in intellectual property rights, the University may enter into negotiations with one or more potential parties. Universities may consider equity as a consideration in licensing the university's technology. All decisions by the University regarding licenses or other licensing of intellectual property and decisions made by the University regarding licenses will be at the discretion of and as authorized by the University.

Royalty Allocation: Any revenue generated by the University from intellectual property rights granted by this policy will be used primarily to reimburse the University for Down-related intellectual property expenses. Any loan or other dividend distribution paid under this policy constitutes additional income for the recipient, and the recipient is responsible for any tax consequences.

Weakness of rights: Creative rights often have problems with rights exhaustion. Exhaustion essentially means that if the right holder makes the first sale within or within the scope of the right to consume, his right ends and he has no right to restrict other goods. Therefore, when an intellectual property owner offers a physical product with intellectual property attached, there is no way to prevent you from selling that product later. This policy ends when it is first approved. This principle is entirely based on the idea of free movement of goods, for example

with the permission of the rights holder or through the exercise of reasonable discretion. Special sales rules may not often apply for the same products. The right to stop the movement has expired because the right holder has already received his percentage.first hand for the benefit of the market.

Geographical Indication: A name or symbol used to mark specific products related to the geographical area or place of origin of the product. The product has quality. Darjeeling tea and basmati rice are examples of geographical indications. The relationship between object and place has become so well known that every reference to place brings to mind the central object and vice versa.

Other intellectual property: The school owns all other intellectual property rights documents arising from the work of the school, including trade copy secrets, trademarks and know-how (except know-how related to property rights that do not exist in the company). University). The institution also owns or retains an interest in any portion, modification, extension or translation of intellectual property that may constitute original works, educational materials or inventions, and monitors the treatment of the work in accordance with the law.

Waiver: The University may waive any provision of this Policy on a case-by-case basis. - Case base. All waivers must be approved in writing and signed by the Vice Chancellor for Research or designee and are subject to permission from the University. Any decision to grant a waiver must take into account the interests of the University and the facts of the particular circumstances in question. This article does not eliminate the University's obligations under this policy. The exceptions permitted in this article apply only to obligations created by the Creator, unless the Creator agrees otherwise.

Changes: The School reserves the right to change this policy at any time. Distribution of franchise rights to University employees and matters of specialization are determined according to the rules in force at the time the University concludes the license agreement or other terms of the agreement regarding the use of intellectual property.

Scope and Applicability: This Intellectual Property Policy applies to all intellectual property created by the Organization and all related intellectual property, no. The implementation and enforcement of this policy will be in accordance with the notification(s) issued by the organization. This Intellectual Property Policy applies to all employees, students and visitors associated with the university and researchers are subject to these guidelines. This relationship can be realized by law, collective agreement or personal contract. Implementation of the law is the responsibility of the head of the Intellectual Property Committee organization.

The head of the organization is responsible for the implementation of this policy. This Intellectual Property Policy is not valid unless the researcher/finder has made a submission to the Institute to the contrary prior to its entry into force.

- IPR help facilitate end-users with best and innovative offering in virtually every area of life, & helps safeguard end-users from copied and sub-par products and services. IPR incentivizes competition among wide range of product, function, & on-par offerings, giving end-users more flexibility on account of options available to them.
- IPR also renders productive mechanism to help address the essential needs of society, from clean energy to the minimized carbon emissions to health care & a truly "Digital Economy[1]".
- SMEs leverage IPR more prominently in many scenarios than bigger organization. SMEs that utilize IPR register more growth, income & employment than those that do not.
- Entities using IPR in various ways to help them thrive, trade in, & secure income from, innovative offerings. Firms that leverage IPR usually witnessed more growth and better market value than those that do not.
- Effective IPR escalates funding for R&D & other innovation, including by aiding companies realize more value from IPR-backed innovations than those that are not.
- IPR sets out development of cultural expression & diversity, & incentivizes wider dissemination of innovations via licensing.
- Sectors that depend on IPR represent a considerable part of developed & developing economies on account of GDP, tax revenue, employment, & strategic importance. IPR also propels FDI & technology transfers in developed & developing nations.

Governance and Management: Intellectual Property Committee (IPC): The Institute's Senate shall appoint an Intellectual Property Committee (IPC) to help administer intellectual property and to make suitable recommendations to Dean (SRICCE)/Director for implementation. The Project Manager (SRICCE) will be the Director and the Project Manager (IP) will be the IPC Secretary. In addition to the Dean (SRICCE) and the Chief Professor (IP), the Senate will appoint two members of the institution's faculty. The term of office of the Principal Investigator (IP) and two other members is two years, preferably part-time. Members may be re-elected, but their total term of office cannot exceed four (four) years.

IPC will assist various departments and institutions on all matters related to intellectual property. It will help the Ministry ensure that the protection of cultural heritage is necessary. It will maintain the central repository and archive of patent applications, maintain patents, trademarks and copyrights, licenses and agreements, cooperate with various departments in

negotiating and drafting licenses and other agreements, and review and approve all intellectual property agreements. It will examine the reasons for the violation of the university's intellectual property rights and take action if necessary.

Intellectual Property Rights and Responsibilities: Intellectual Property Rights created by full-time employees or full-time students of the Institute are jointly owned, used jointly between the sponsor and the organization, even the organization's resources. If the intellectual property is created by an employee of the organization or a full-time student working in another organization, the intellectual property will be shared by the creator, NIT Rourkela and the host institution. In the case of part-time employees or students or visiting professionals, intellectual property rights created through the use of the organization's facilities and/or support will be held solely by the Foundation and the Sponsor jointly.

Before the Creator makes itself available to any external organization, other person, commercial or academic institution, media or the public, the Creator must submit to the IPC the necessary creation to complete and disclose detailed information for purposes of adjudication. If necessary, the law will provide some protection. After receiving the initiator's request, the IPC will decide how, when and where to protect the property. It will achieve the protection and management of intellectual property rights through its own efforts or through the efforts of the state or private companies or lawyers. External service contracts can be made with the approval of the manager. If the IPC does not find property in the organization that is eligible for protection, the sponsor owns the property and is free to seek protection under state law. The organization will issue a letter withdrawing its claim to the property in the future.

Disclosure and Confidentiality: At the appropriate time of the creation of the product, the creator must explain his idea in writing to the IPC, giving all the important points for making business decisions. The IPC shall promptly acknowledge, in writing, its receipt of the disclosure and the date of receipt. The originator shall send one copy of his proposed manuscript, prior to submission of thesis, to the IPC. All the departments in the Institute will be bound by the non-disclosure and confidentiality terms to be clearly spelled in a separate document. Each department is under obligation to file their R&D manuscripts, if any, on time to time basis, with the IPC. It is expressly understood by the departments that any information which relates to any Invention should be treated as Intellectual Property and therefore is not to be divulged without the prior consent of the IPC.

Procedures for the management of Intellectual Property Rights: IPC will establish and protect the intellectual property rights of the organization. The committee will determine all intellectual property rights created by the institute by examining undergraduates, graduates and

doctors, obtaining opinions from male students and teachers, and gathering information by all means. If it determines that the production has the necessary commercial success, it must (1) advise the manufacturer on the steps that should be taken to preserve property, and (2) refer the matter to the appropriate Director of the agency. The comments are very clear. At IPC's request or on its own initiative, the sponsor may submit to IPC an application containing the contents of the product or other intellectual property. Where necessary, IPC will review the proposal with the assistance of internal or external experts. The inventor may be asked to demonstrate the product or process or give a demonstration in front of the committee.

Patent Application Proposal: Professor Price (IP) will make clear that IPC members will meet within two weeks to consider whether the IP drug can be protected. If the member agrees to seek protection, the IPC will contact the appropriate government, private organizations and legal entities and, with appropriate instructions from the Director, begin to protect the rights of the members.

Conclusion: Intellectual property rights are monopoly rights granted to patents. The temporary right gives its owner the exclusive right to use income from cultural activities and production. Society must have good reasons to grant these rights to some people, so the defenders of these rights give us today a general guarantee of the protection of the international heritage. It is clear that the management of intellectual property rights and intellectual property is a multifaceted task that requires different tasks and strategies and must comply with national laws and regulations, agreements and international practices. It is not entirely due to the national perspective. Different types of inheritances require different methods, actions, plans and ideas, as well as the collaboration of individuals with knowledge in various fields such as science, engineering, medicine, law, finance, business and economics. Intellectual property rights (IPR) have social, economic, technological and political consequences. Use intellectual property rights, such as patents, trademarks, service marks, design registrations, copyrights, and trade secrets, to promote rapid technology, business internationalization, fierce competition, and resistance to innovation. However, cases of intellectual property infringement still occur. The government is still taking steps to stop them. There are laws against copyright infringement. Use intellectual property rights, such as patents, trademarks, service marks, design registrations, copyrights, and trade secrets, to promote rapid technology, business internationalization, fierce competition, and resistance to innovation. However, cases of intellectual property infringement still occur. The government is still taking steps to stop them. Laws regarding the prevention of infringement of intellectual property rights.

End users and people benefit from intellectual property in many products and services created by all technological aspects of human activity. . Protection of intellectual property.

Some of society's most pressing needs, from healthcare and the environment to conflicts with government, rely on innovative solutions that stem from ownership skills. Smart devices not only provide such solutions but also help send better signals between buyers and sellers so that end users can better understand the information they receive, thus promoting a better relationship between the business and the end customer. Intellectual property protection also provides complete protection against malicious and harmful products, giving customers more confidence in their purchasing decisions.

References

1. Ganguli P. Indian Path towards TRIPS compliance. World Patent Information, 2003; 25: 143.
2. www.iprlawindia.org
3. http://en.wikipedia.org/wiki/General_Agreement_on_Tariffs_and_Trade
4. http://en.wikipedia.org/wiki/United_Nations_Conference_on_Trade_and_Development
5. http://en.wikipedia.org/wiki/United_Nations_Commission_on_International_Trade_Law
6. Ganguli P. Intellectual Property Rights in transition. World Patent Information, 1998; 20: 171.
7. Ganguli P. Intellectual Property Rights – unleashing the knowledge economy, New Delhi, India. Tata McGraw Hill; 2001. ISBN 0-07-463860.
8. Ganguli P. Intellectual Property Rights. Imperatives for the knowledge industry. World Patent Information, 2000; 22: 167.
9. Ganguli P. Patents and Patent information in 1979 and 2004: a perspective from India. World Patent Information, 2004; 26: 61.
10. Lall S. Indicators of the relative importance of IPRs in developing countries., Research Policy, 2003; 32: 1657.
11. Narayananan P. In: Patent Law, 2nd ed, Eastern Law House, 1997.
12. The Patents Act 1970, Universal Law Publishing Co. Pvt. Ltd, 2005. p. 6-31, 42-45.
13. Ramakrishna T. In: Basic Principles and Acquistation of IPR. CIPRA, NLSIU, Bangalore, 2005.

Identity-Crisis Under the Compulsive Social Forces in Perumal Murugan's novel 'One Part Woman'

Dr. Neeru Varshney
Assistant Professor
Department of English
S. V. College, Aligarh

Abstract:

An identity crisis is a psychological condition in which a person feels profoundly unsettled about their self-identity, values, and beliefs. It frequently happens during times of big life transitions, such as adolescence, young adulthood, or significant life changes like career moves or personal problems. People who are experiencing identity crises may wonder about their identity, values, and place in society or their social circles. Anxiety, uncertainty, and a sense of being lost might result from this internal battle. While overcoming an identity crisis can be difficult, it can also be a chance for personal development and self-realization. Individuals can benefit from support from friends, family, or therapy to get through these uncertain times. "One Part Woman" by Perumal Murugan expertly explores the profound identity crisis that Kali and Ponna go through while being suffocated by obnoxious social pressures. The novel deftly illustrates how social pressure, moral difficulties, and traditional gender roles influence the identities of its protagonists. The purpose of the study paper is to assess "One Part Woman" from the perspective of a married couple experiencing an identity crisis. It also looks at the societal customs that are so ingrained in the human psyche that they undermine the joy of marriage. The current study work employs a qualitative methodology, using various techniques like content analysis and interpretive.

Keywords: Identity-crisis, compulsive force, insecurity, and anxiety.

Introduction:

A person may go through an identity crisis, which is a psychological phenomena in which they are profoundly unsettled about their self-identity, values, and beliefs. It frequently

happens at times of big life transitions, such as adolescence, young adulthood, or significant life upheavals like professional changes or personal difficulties. An identity crisis can cause someone to question who they are, what they believe in, and how they fit into society or their social groups. Feelings of worry, uneasiness, and disorientation might result from this internal conflict. Erik Erikson, a psychologist, popularized the idea by arguing that a successful resolution of identity crises is essential for a child's psychosocial development. Individuals can eventually get a greater grasp of their identity and a more stable sense of self through reflection, investigation, and self-discovery. Identity crises can take many different forms, including adjustments to one's relationships, job, or personal style as a person tries to match their self-concept to their changing self-understanding. While dealing with an identity crisis can be difficult, it can also be a chance for development and self-awareness. Individuals can benefit from support from friends, family, or therapy to get through these uncertain times. "One Part Woman" by Perumal Murugan expertly explores the profound identity crisis that Kali and Ponna go through while being suffocated by obnoxious social pressures. The novel deftly illustrates how social pressure, moral difficulties, and traditional gender roles influence the identities of its protagonists. The internal conflicts that Kali and Ponna face as they attempt to balance their needs and wants with society expectations demonstrate the significant influence that social standards have on human identity. The purpose of the study paper is to assess "One Part Woman" from the perspective of a married couple experiencing an identity crisis. It also looks at the societal customs that are so ingrained in the human psyche that they undermine the joy of marriage. The current study work employs a qualitative methodology, using various techniques like content analysis and interpretive. The text has been used to gather primary data. Additionally, research papers and articles are used to acquire secondary data.

Review of Literature:

The issue of identity crisis is one that literary authors frequently tackle in their writings because it offers a rich and challenging setting for the creation of characters and narrative. A character's internal struggle to define who they are, comprehend their place in the world, or resolve competing aspects of their identity is often the focus of an identity crisis in literature. This motif can appear in a variety of ways:

Coming-of-Age Stories and novels frequently follow young protagonists on their quests for identity as they age from youth to adulthood. The difficulties of forming an identity during this crucial stage are explored in works by authors like J.D. Salinger ("The Catcher in the Rye") and J.K. Rowling ("Harry Potter" series).

Writers frequently explore how people struggle with their cultural or ethnic identities, particularly when they feel pulled between conflicting worlds or encounter cultural confrontations. A good example is "The Brief Wondrous Life of Oscar Wao" by Junot Diáz.

Gender and Sexual Identity-Writers like Virginia Woolf (in "Orlando") and Jeffrey Eugenides (in "Middlesex") explore gender and sexual identity, presenting individuals that challenge, rethink, or transcend conventional ideas of identification.

Existentialism and alienation: Works by existentialist writers like Albert Camus ("The Stranger") frequently explore themes of existential angst, loneliness, and the quest for meaning, which are crucial to the identity crisis.

Psychological Inquiry: Some authors, such as F. Scott Fitzgerald ("The Great Gatsby"), explore the psychological facets of identity by presenting individuals who create new personas or practice self-deception to conceal their true selves.

Identity and Society: Writers like Ralph Ellison ("Invisible Man") examine how societal expectations and prejudices can cause someone to lose their identity or struggle to assert their identity in the face of systemic difficulties.

The identity crisis is a multifaceted and lasting issue in literature that enables authors to explore the complexity of the human experience. It provides readers with an opportunity to reflect on common concerns about identity, community, and the pursuit of meaning, making it an engaging topic for literary inquiry.

Objectives of the Study:

The research paper aims to evaluate the novel 'One Part Woman' under the scrutiny of identity-crisis of married couple. It also studies the social traditions so deeply entrenched in human psyche that spoil the happiness of marital life. Plus, The present research paper focuses that how the internal sufferings due to social pressure the leading characters in the novel suffer.

Research Methodology:

The present research paper applies a qualitative methodology under which different methods like content-analysis and interpretative have been adopted. Primary data have been

collected through the text. Plus, secondary data is gathered from research papers and articles.

Identity-crisis in One Part Woman:

In "One Part Woman" (also known as "Madhorubhagan" in Tamil), written by Perumal Murugan, the main characters Kali and Ponna struggle with severe identity crises as they deal with the obnoxious social forces that dominate their life in a traditional rural Indian milieu. The story, which is set in early 20th-century Tamil Nadu, centers on a couple's fervent desire to become parents and the unrelenting social pressure that drives them to moral and emotional ruin. The idea of an identity crisis becomes particularly prominent in this setting as Kali and Ponna struggle with the tension between their individual ambitions and the overpowering impact of society conventions and traditions.

Traditional Gender Roles and Identity Crisis:

Traditional gender norms are ingrained in the conservative society that the book portrays. Men are expected to provide for and defend their families, while women are largely valued for their capacity to procreate. These tight roles mold Kali and Ponna's identities and cause them to experience an identity crisis.

Ponna struggles with the social ideal that her value is primarily based on her capacity to procreate. Her inability to fulfill her role as a future mother, which is inextricably related to her identity as a woman, causes severe self-doubt and an identity crisis. She is continuously unsure of her value and place in society because she does not fit the stereotypical image of a mother.

On the other side, Kali faces challenges in navigating his roles as a spouse and provider. He genuinely cares about Ponna and wants to shield her from the mental suffering and social embarrassment that come with being childless. He experiences a crisis of manhood as a result of not being able to provide his family with a kid, which makes him feel inadequate and emasculated.

Community Pressure and Identity Crisis:

The novel's rural community exerts tremendous pressure on Kali and Ponna to conform to its traditional values and norms. The community views childlessness as a curse and a source

of shame, which intensifies the couple's identity crisis. Kali and Ponna constantly feel the weight of the community's judgment and scorn. They are isolated and humiliated, and their identities within the community are defined by their childlessness. The fear of being ostracized and ridiculed forces them into a state of constant turmoil as they navigate their sense of self within the suffocating confines of community expectations.They are forced to navigate their sense of self within the constricted boundaries of communal expectations out of a perpetual state of upheaval by the fear of being shunned and mocked.

Ardhanareeswarar Festival and Identity Crisis:

The novel's distinctive and contentious Ardhanareeswarar festival plays a crucial role in Kali and Ponna's identity struggle. In accordance with the custom, childless couples are permitted to have consenting relationships with other partners during the festival in the hopes of becoming parents. While it might be a way to end their childlessness, it also calls into question their morals and sense of self.

Ponna faces a serious moral conundrum as a result of her decision to take part in the event. She struggles to reconcile her commitment to being a devoted wife with her overwhelming desire to play the mother she is expected to be by society. She experiences a crisis of conscience as a result of the festival's pressure to face her own ideals and convictions. Even Kali experiences emotional distress after witnessing his wife take part in the festival. His sense of self as a spouse is severely compromised as he deals with his feelings of resentment, betrayal, and impotence.

Identity-crisis Within Marriage:

The novel's main theme is the couple's identity problem in the context of their marriage. Although Kali and Ponna had a strong emotional bond and shared great love, the pressure to become parents fractures their union. They differ from other couples in their community because their shared anguish and longing define their marital identity. The transformational aspects of Kali and Ponna's married identities are explored throughout the book. Their deep bond of love keeps them together through their difficulties. Their identity as a pair is shaped by their mutual yearning for a child and their readiness to go to considerable measures to satiate that desire. The book emphasizes how strong their connection is despite external constraints and the ways in which One's concept of self can be redefined by love. The lack of infertility in Ponna, however, causes a problem in the marital identity. The strain from society is so great that marital bliss starts to fade and anxiety and concern take its place. The story examines how

their marital identity changes as they deal with the outside factors that could split them apart. Their common desire for a child turns becomes a source of tension as well as a link, and their search for a resolution shapes who they are as a pair.

Emotional Turmoil and Self-Doubt:

Intense inner upheaval and self-doubt are hallmarks of the identity crisis that Kali and Ponna are going through. Due of her sorrow and belief that she is lacking something without a kid, Ponna begins to seriously doubt her status as a woman. As he watches his wife suffer, Kali struggles with thoughts of a lack of masculinity, inadequacy, and an identity crisis as a husband and guardian. The story examines how societal pressures may have an emotional and psychological toll on people, leading them to doubt their value and purpose in life.

The Power of Choice and Individual Autonomy:

In the end, "One Part Woman" presents issues regarding personal autonomy and the influence of free will on identity. The voyage of Kali and Ponna invites readers to consider the effects of following social norms vs making decisions in line with one's own values and goals. Even in the face of powerful social influences, the story emphasizes the significance of agency in determining one's identity.

Conclusion:

In conclusion, "One Part Woman" by Perumal Murugan is a richly nuanced examination of identity crises against the backdrop of compulsive social forces. It digs into the psychological, emotional, and ethical struggles that its protagonists experience as they attempt to balance societal expectations, accepted conventions, and the desire for personal fulfillment. A thought-provoking and emotionally engaging work of fiction, the novel asks readers to consider the tremendous influence of social and cultural factors on the construction and alteration of personal identities.

Acknowledgement:

I am highly thankful to my ... who has assisted me in this research paper. Moreover, I am thankful to Dr.... for proper guidance.

References

1. Raman, N. Kalyan (1 December 2013). "Boats Against The Current: The Kongunadu novels of Perumal Murugan". Caravan Magazine. Retrieved 18 October 2015.
2. "Perumal Murugan". Penguin Books of India.
3. Rajendran, S. P. (10 July 2016). "Tamilnadu: Writers Condemn Burning of Tamil Novel by Hindutva Outfits". Peoples Democracy. 40 (28).
4. "'Perumal Murugan was asked to exile himself by police'". The Hindu. Retrieved 23 May 2017.
5. "Tamil writer Perumal Murugan breaks his silence, will return with 200 poems". The Indian Express. 22 August 2016. Retrieved 23 May 2017.
6. Kolappan, B (19 April 2017). "One Part Woman bags Sahitya Akademi award". The Hindu. Retrieved 20 April 2017.
7. Naik, Purnachandra. (2019) "Love in the Times of 'Caste Killings'".
8. Murugan, P. (2020) "One Part Woman". Penguin India..
9. Murugan, P. (2018) "One Part Woman". Grove Atlantic.
10. Heath, Will. (2020) "Review: One Part Woman by Perumal Murugan". Books & Bao. Retrieved 3 January 2020.
11. Sehgal, Parul. "A Novel That Roiled India Is Now Translated Into English". The New York Times.
12. Ygnasri, S. (2020) Cultural Identity and Identity crisis in Perumal Murugan's novels one-part woman and Pyre, Journal of Emerging Technologies and Innovative Research, January 2020, Volume 7, Issue 1

The Historical Background of Physical Education and Sports: Development and Contribution to Social Health Upliftment

Dr Shahanawaz Khan
Department of Physical Education
Shri Varshney College, Aligarh.

Abstract

This research paper delves into the historical background of physical education and sports, tracing their evolution from ancient civilizations to modern times. It explores the development of physical education, the emergence of organized sports, and the inclusion of women and marginalized groups in sports. Furthermore, it investigates the substantial contributions of physical education and sports to social health upliftment.

The historical exploration reveals the profound cultural and educational significance of physical education in ancient Greece and Rome, emphasizing the interconnectedness of physical and mental well-being. During the medieval period, physical education was primarily associated with military training, focusing on chivalry and combat skills.

The paper also highlights the pivotal role of key figures like Pierre de Coubertin in the revival of the modern Olympic Games and the subsequent growth of organized sports. In the context of social health upliftment, this research paper discusses the positive impact of physical education and sports on physical health, mental well-being, and the promotion of values like teamwork, discipline, and fair play. It examines their role in fostering social inclusion, community bonding, and unity among diverse populations. Furthermore, it addresses the empowerment and economic impact of sports on individuals and communities, underlining their significance in diplomacy and cultural exchange.

This paper not only delves into the historical narrative of physical education and sports but also emphasizes their enduring influence on societal well-being and calls for continued research and advocacy in this field to maximize their contribution to social health upliftment.

Introduction

Physical education and sports have played a pivotal role in the development of human societies and have been a consistent thread throughout the tapestry of human history. These endeavors are more than mere leisure activities or competitive events; they are powerful forces that have shaped cultures, enriched lives, and contributed significantly to social health upliftment. The historical journey of physical education and sports, from their roots in ancient civilizations to their modern-day manifestations, reflects a deep-seated recognition of the intimate connection between physical well-being, mental health, and societal advancement.

In examining the historical background of physical education and sports, this paper embarks on a journey through time, unearthing the origins of these practices and their subsequent evolution. We traverse the annals of history, from the athletic contests of ancient Greece and the martial training of medieval knights to the formation of modern sports organizations and the inclusion of women and marginalized groups in sporting events. In doing so, we uncover the intricate web of social, cultural, and educational influences that have interwoven with the development of physical education and sports.

But this journey does not merely entail a retrospective gaze into the past. It is equally an exploration of the profound and lasting impacts that physical education and sports have had on the overall well-being of individuals and societies. These contributions are not confined to the physical realm alone; they encompass the enhancement of mental health, the cultivation of values such as teamwork and fair play, the promotion of social inclusion, and the empowerment of individuals and communities.

In this context, the historical background of physical education and sports is far from a distant narrative; it is a vibrant and living testament to the potential for positive change and social health upliftment. It beckons us to reflect on the enduring significance of these practices and to recognize the myriad ways in which they continue to shape our lives, fostering healthier, more inclusive, and more resilient societies. As we journey through history, let us uncover not only the lessons of the past but also the inspiration to propel physical education and sports toward a brighter and healthier future.

Historical Background of Physical Education and Sports:

The historical roots of physical education and sports are deeply embedded in the fabric of human civilization. From the earliest days of humanity, the need to move, to compete, and

to demonstrate physical prowess has been fundamental. The historical background of physical education and sports is a rich tapestry woven over centuries, reflecting cultural, educational, and societal dynamics that continue to influence contemporary practices.

Ancient Civilizations: Physical education and sports find their origins in the ancient civilizations of the world. One of the most prominent examples is ancient Greece, where physical fitness and athletic prowess were highly esteemed. The Greeks introduced the Olympic Games in 776 BC, emphasizing not only athletic excellence but also moral and intellectual growth. In this context, physical education was deeply intertwined with the holistic development of the individual.

Medieval and Renaissance Periods: The medieval period witnessed a shift in the nature of physical education, with an emphasis on martial training and chivalry. Knights engaged in rigorous combat training, practicing swordsmanship, archery, and jousting. This martial focus remained influential throughout the medieval and Renaissance eras.

The Renaissance and Enlightenment Eras: During the Renaissance, physical education took on a more comprehensive educational role. Figures like Johann Amos Comenius advocated for the inclusion of physical education in school curricula, recognizing the interdependence of physical and mental well-being. The Enlightenment furthered this notion, highlighting the value of physical education for the cultivation of an enlightened citizenry.

The 19th Century and the Advent of Modern Sports: The 19th century saw the development of modern physical education and sports. European educators like Friedrich Jahn promoted gymnastics as a means of enhancing physical and moral development. It was during this era that organized sports began to take shape, with sports clubs, governing bodies, and competitive leagues being established.

The Revival of the Olympic Games: Pierre de Coubertin, a visionary French educator, played a pivotal role in the revival of the modern Olympic Games. The first modern Olympics took place in Athens in 1896, marking a resurgence of the ancient athletic ideals. Coubertin's efforts helped bridge the historical continuum, connecting the past with the present.

The 20th Century and Beyond: The 20th century witnessed significant advancements in women's participation in sports, including the introduction of women's events in the Olympics and the development of women's professional sports leagues. This period also saw a surge in the expansion of sports science, sports medicine, and sports-related technology.

Throughout these historical periods, the significance of physical education and sports in fostering not only physical health but also mental well-being and the development of character

became increasingly evident. The intertwined history of these practices showcases their enduring relevance as tools for social health upliftment.

As this paper explores the historical background of physical education and sports, it is important to recognize the profound impact these practices have had on societies throughout history. They have served as crucibles for the development of individuals, fostering values, unity, and cultural exchange while continuing to contribute to the social health upliftment of communities worldwide. This history forms the foundation upon which the modern understanding of the roles of physical education and sports in society is built.

Development of Physical Education and Sports:

The historical background of physical education and sports is not a static tableau but a dynamic tapestry of evolution and adaptation that has unfolded over centuries. The development of these practices reflects an intricate interplay of cultural, educational, and societal factors, shaping and reshaping their significance throughout history. This section of our exploration delves into the transformative journey of physical education and sports from their ancient origins to their contemporary forms, emphasizing their roles in individual well-being and social health upliftment.

Ancient Foundations: The origins of physical education and sports can be traced back to ancient civilizations, with Greece being a prominent exemplar. In ancient Greece, physical fitness was intrinsically linked to the development of a well-rounded individual, encompassing not just the body but also the mind and spirit. The ancient Greeks introduced the Olympic Games in 776 BC, an event that celebrated physical prowess, camaraderie, and moral and intellectual growth. This ancient foundation established the enduring principle that physical education was not merely about physical activity but was a holistic endeavor aimed at nurturing the complete person.

Medieval Martial Focus: The medieval period witnessed a shift in the nature of physical education, with a pronounced martial emphasis. Knights and warriors engaged in rigorous combat training, mastering swordsmanship, archery, and other combat skills. Physical education, in this era, was closely tied to military preparedness, chivalry, and the cultivation of a warrior ethos.

The Renaissance: The Renaissance period brought about a revival of interest in the holistic development of individuals. Figures like Johann Amos Comenius advocated for the inclusion of physical education in school curricula, recognizing the inextricable link between physical

well-being and intellectual development. The Renaissance, and later, the Enlightenment, underscored the importance of physical education in creating well-rounded citizens.

Emergence of Modern Sports: The 19th century marked a significant transition in the development of physical education and sports. European educators, such as Friedrich Jahn, promoted gymnastics as a means of physical and moral development. It was also during this era that organized sports began to take form, with the establishment of sports clubs, governing bodies, and competitive leagues. The burgeoning interest in organized sports paved the way for the development of modern sports.

Revival of the Olympic Games: Pierre de Coubertin's vision and determination led to the revival of the modern Olympic Games in 1896. This historic event bridged the gap between ancient and modern athletic ideals, reinforcing the enduring significance of physical education and sports. The Olympics became a symbol of unity, bringing nations together in the spirit of friendly competition.

The 20th Century and Beyond: The 20th century witnessed the significant expansion of women's participation in sports, with the inclusion of women's events in the Olympics and the development of women's professional sports leagues. This period also saw the rise of sports science, sports medicine, and technological advancements that continue to shape the world of sports and physical education.

The development of physical education and sports from ancient civilizations to the contemporary era mirrors the ebb and flow of societal values, educational philosophies, and individual aspirations. It exemplifies how these practices have continually adapted to meet the ever-changing needs of society. As we navigate this historical journey, it becomes evident that physical education and sports have not only evolved but have also maintained their central roles in fostering physical and mental well-being, promoting values, encouraging social inclusion, and contributing to the overall upliftment of society.

Inclusion of Women and Marginalized Groups:

The historical trajectory of physical education and sports has been marked not only by their evolution as practices but also by their changing attitudes towards inclusivity. The inclusion of women and marginalized groups in these realms represents a powerful testament to the resilience and adaptability of physical education and sports in addressing societal disparities and inequalities. In this section, we embark on a journey through history to understand the challenges and triumphs in the quest for a more inclusive world of physical activity.

Historical Marginalization: For much of history, physical education and sports were domains predominantly inhabited by men, often characterized by gender-based and socioeconomic biases. Women and marginalized groups, including racial and ethnic minorities and individuals with disabilities, faced systemic exclusion from participating in sports and physical activities.

Challenging Norms: The late 19th and early 20th centuries witnessed the first stirrings of change. Women like Catherine Beecher in the United States and Madame Alice Milliat in Europe began to challenge the prevailing norms. Beecher emphasized the importance of physical education for women, advocating for the inclusion of physical activities in women's education.

Breaking Barriers: The early 20th century saw trailblazers like Alice Coachman and Wilma Rudolph breaking racial barriers in athletics. The Paralympic Games, initiated in the mid-20th century, created opportunities for individuals with disabilities to compete at the highest level of sports. The inclusion of women's events in the Olympics further broke the gender barrier and acknowledged the exceptional abilities of female athletes.

Legislation and Advocacy: In the latter half of the 20th century, legislation such as Title IX in the United States mandated gender equity in educational programs, including sports. This landmark legislation triggered a seismic shift in women's sports participation. International organizations, including the International Olympic Committee (IOC) and the United Nations, have advanced initiatives aimed at promoting gender equality in sports.

Professionalization and Recognition: The professionalization of women's sports and the establishment of women's leagues in various sports have contributed to the recognition and respect accorded to female athletes. Sporting legends like Billie Jean King, Serena Williams, and Martina Navratilova have not only excelled in their respective sports but have also become advocates for gender equality in sports.

Inclusive Practices: The inclusion of marginalized groups and individuals with disabilities has seen significant progress through adaptive sports programs, which provide opportunities for people of all abilities to engage in physical activities. Organizations like the Special Olympics and Paralympics have paved the way for inclusive competition and the celebration of diversity in sports.

As we explore the historical inclusion of women and marginalized groups in physical education and sports, it becomes evident that while significant strides have been made, challenges and disparities persist. However, these historical transformations underscore the transformative potential of physical education and sports as agents of social change. The journey

from exclusion to inclusion not only exemplifies the power of perseverance but also highlights the profound impact these practices can have in promoting social health upliftment by fostering diversity, equity, and the celebration of all individuals' capabilities and contributions in the world of sports.

Contribution to Social Health Upliftment:

The historical development of physical education and sports is inseparable from their profound contributions to the upliftment of social health. Throughout history, these practices have functioned as dynamic agents of positive change, enriching the physical, mental, and social well-being of individuals and communities. This section explores the manifold contributions of physical education and sports to the broader realm of social health upliftment.

Physical Health and Well-being: Physical education and sports have long been recognized for their vital role in enhancing physical health and well-being. Regular physical activity not only promotes physical fitness and reduces the risk of chronic diseases but also fosters robust cardiovascular health, strengthens muscles and bones, and supports healthy body weight. The cultivation of physical health through sports contributes to the longevity and vitality of individuals and communities.

Mental Health and Well-being: Beyond the physical benefits, sports and physical education offer significant advantages for mental health. Engaging in physical activities helps alleviate stress, reduce symptoms of anxiety and depression, enhance mood, and elevate overall psychological well-being. The sense of achievement and mastery that comes with sports participation contributes to increased self-esteem and mental resilience.

Promotion of Values and Character Development: Sports and physical education provide fertile ground for the cultivation of essential values and character development. Team sports, in particular, emphasize the importance of cooperation, sportsmanship, and fair play. These experiences transcend the field of play, imparting valuable life skills that contribute to social harmony and positive citizenship.

Social Inclusion and Community Bonding: Physical education and sports play a pivotal role in fostering social inclusion and community bonding. They bring together individuals from diverse backgrounds, uniting them in the shared pursuit of common goals. Through team dynamics and collective support, sports create a sense of belonging and unity that transcends societal divisions.

Empowerment and Economic Impact: Sports have the power to empower individuals and communities. They offer opportunities for skill development, education, and employment, particularly in underserved areas. The economic impact of sports extends to job creation, infrastructure development, tourism, and the revitalization of local economies, contributing to the upliftment of communities.

Cultural Exchange and Diplomacy: International sporting events offer a platform for cultural exchange and diplomacy, promoting mutual understanding between nations. Sports transcend language and cultural barriers, fostering connections and friendships on a global scale. The Olympics, in particular, exemplify how sports can be a conduit for peace and diplomacy.

Promotion of Healthy Lifestyles: Physical education in schools and the popularization of sports encourage the adoption of healthy lifestyles from an early age. By instilling the importance of regular physical activity and good nutrition, physical education and sports contribute to a future generation with a heightened awareness of health and well-being.

As we reflect on the historical contributions of physical education and sports to social health upliftment, it becomes apparent that these practices are not mere pastimes but powerful catalysts for positive change. Their far-reaching impacts extend beyond individual health and well-being, influencing the social fabric of communities, nations, and the world at large. The historical journey of physical education and sports underscores their enduring significance as vehicles for social health upliftment, calling upon us to recognize and harness their potential in creating healthier, more inclusive, and more harmonious societies.

Challenges and Future Perspectives:

The historical background of physical education and sports is a journey marked by transformation, progress, and profound contributions to social health upliftment. However, it is not without its challenges and areas in need of further development. As we look back on this historical narrative and consider its impact on contemporary society, we must also acknowledge the hurdles and chart a path toward a more inclusive and equitable future.

Challenges:

1. **Inequalities in Access:** One of the enduring challenges is the unequal access to sports and physical education, with disparities based on factors such as socioeconomic status, geography, and disability. The lack of access for marginalized populations hinders the full realization of the benefits of physical activity.

2. **Gender Disparities:** While progress has been made in the inclusion of women in sports, gender disparities still persist. Female athletes continue to face unequal pay, limited opportunities, and gender-based discrimination in various sports.

3. **Youth Participation:** The rise of technology and screen time has led to decreased physical activity among youth. Encouraging and sustaining youth participation in sports and physical education programs is essential for fostering a healthier and more active generation.

4. Overemphasis on Competition: The hyper-competitive nature of sports, especially in elite-level and professional sports, can lead to issues such as performance-enhancing drug use, cheating, and mental health challenges among athletes.

5. Social and Economic Barriers: Economic and social barriers can limit participation in organized sports and physical education programs. The cost of equipment, facilities, and coaching can be prohibitive for many individuals and communities.

Future Perspectives:

1. Inclusive Sports Initiatives: Initiatives that prioritize inclusion, such as adaptive sports programs, are vital for addressing disparities in access. Programs that cater to individuals with disabilities and underserved communities can make sports more accessible to a wider population.

2. Gender Equity in Sports: Continued advocacy and policy changes are needed to achieve gender equity in sports. This includes equal pay for female athletes, increased representation in leadership roles, and the elimination of gender-based discrimination.

3. Youth Engagement and Education: Promoting physical education and sports in educational institutions and communities is essential for engaging youth and imparting the value of an active lifestyle. Encouraging a love for physical activity early in life can have lasting impacts on overall health.

4. Mental Health Support: Recognizing and addressing mental health challenges in sports is crucial. Promoting mental health awareness, reducing the stigma surrounding mental health issues, and providing support for athletes are all vital steps.

5. Sports for Social Change: Leveraging the power of sports for social change and development is a promising perspective. Sports diplomacy, peace-building initiatives, and community development through sports can create a more inclusive and harmonious world.

6. Technology and Innovation: Embracing technology and innovation in sports can enhance accessibility, training, and performance. Virtual training programs, sports analytics, and wearable technologies are revolutionizing sports and physical education.

7. Holistic Health Approach: A shift toward a more holistic approach to health, emphasizing the interconnectedness of physical, mental, and social well-being, can guide future practices in physical education and sports.

The historical background of physical education and sports has paved the way for significant contributions to social health upliftment. By addressing the persistent challenges and embracing forward-looking perspectives, we can build on this rich history to create a more inclusive, healthier, and more equitable future through sports and physical education.

Conclusion:

The historical journey through the development of physical education and sports has illuminated the profound impact of these practices on the upliftment of social health. From their ancient origins to their contemporary manifestations, physical education and sports have evolved as powerful agents of positive change, weaving a narrative that underscores the intricate interplay between physical, mental, and societal well-being.

Throughout history, these practices have been more than physical activities; they have been holistic endeavors, promoting the harmonious development of the individual and, by extension, society. The historical background of physical education and sports has revealed their integral role in shaping cultures, fostering values, promoting diversity, and unifying communities. Their ability to transcend language, culture, and borders has made them conduits for diplomacy, cultural exchange, and international understanding.

The journey has also been one of inclusivity, with women and marginalized groups gradually breaking through barriers that once excluded them from the world of sports. As we look back on their struggles and triumphs, we recognize that the inclusion of women and marginalized communities in sports is not only a mark of progress but also an affirmation of the universal potential of all individuals.

The historical development of physical education and sports has provided a foundation for the promotion of physical health, mental well-being, values, and social inclusion. It has empowered individuals and communities, instilled a sense of belonging, and contributed to economic growth. The lessons of the past have forged a path to a healthier and more inclusive future.

Yet, we must also confront the challenges that persist, from inequalities in access and gender disparities to the risk of overemphasis on competition and the impact of social and economic barriers. As we journey forward, the historical narrative of physical education and

sports offers valuable insights into how we can address these challenges and build a more equitable and inclusive future.

The story of physical education and sports is an ongoing narrative, a tale of progress and potential. It is a testament to the capacity of individuals and societies to adapt, evolve, and overcome. As we continue to explore the intersection of physical education and sports with social health upliftment, we are reminded that the historical background is not a static tableau but a dynamic force, propelling us toward a future where physical, mental, and social well-being thrive in harmony. In this, we find inspiration and the promise of a brighter, more inclusive, and healthier tomorrow.

References

1. Kirk, D., & Macdonald, D. (Eds.). (2017). The Routledge Handbook of Physical Education Pedagogies. Routledge.
2. Siedentop, D. (2009). Introduction to Physical Education, Fitness, and Sport. McGraw-Hill Education.
3. Darnell, S. C., & Smith, A. C. T. (2014). Race, Sport and the American Dream (2nd ed.). Human Kinetics.
4. Coakley, J. (2015). Sports in Society: Issues and Controversies (11th ed.). McGraw-Hill Education.
5. Houlihan, B., & Green, M. (2008). Comparative and International Sport Development. Routledge.
6. Parry, J., & Long, J. (2018). Sport and Social Justice: The Power of the Popular. Macmillan International Higher Education.
7. Beecher, C. E. (1856). Physiology and Calisthenics for Schools and Families. Harper & Brothers.
8. Milliat, A. (1921). Les sports féminins: La femme et le sport en France. Félix Juven.
9. International Paralympic Committee. (n.d.). History. https://www.paralympic.org/history
10. Title IX of the Education Amendments of 1972, 20 U.S.C. § 1681 (1972).
11. International Olympic Committee. (2020). Gender equality in sport: Progress and challenges. https://stillmed.olympic.org/media/Document%20Library/OlympicOrg/IOC/Who-We-Are/Commissions/Women-and-Sport/IOC-Gender-Equality-in-Sport-2020-EN.pdf
12. International Paralympic Committee. (n.d.). About us. https://www.paralympic.org/about-us
13. Coachman, A. (1948). Coachman: World's Champion High Jumper. American Sports Publishing Company.
14. Rudolph, W. (1977). Wilma: The Story of Wilma Rudolph. G.P. Putnam's Sons.
15. United Nations. (n.d.). Sport for Development and Peace. https://www.un.org/sport/content/sport-development-and-peace
16. Special Olympics. (n.d.). Our Story. https://www.specialolympics.org/about/our-story
17. Paralympic Games. (n.d.). History of the Paralympic Games. https://www.paralympic.org/athens-2004/history
18. World Health Organization. (n.d.). Physical activity. https://www.who.int/health-topics/physical-activity#tab=tab_1
19. International Olympic Committee. (2020). The economic impact of the Olympic Games. https://stillmed.olympic.org/media/Document%20Library/OlympicOrg/News/2019/12/Economic-Impact-of-the-Olympic-Games.pdf
20. United Nations. (n.d.). Sustainable Development Goals. https://sdgs.un.org/goals

Notes

1. Kirk, D., & Macdonald, D. (Eds.). (2017). The Routledge Handbook of Physical Education Pedagogies. Routledge.
2. Siedentop, D. (2009). Introduction to Physical Education, Fitness, and Sport. McGraw-Hill Education.
3. Darnell, S. C., & Smith, A. C. T. (2014). Race, Sport and the American Dream (2nd ed.). Human Kinetics.
4. Coakley, J. (2015). Sports in Society: Issues and Controversies (11th ed.). McGraw-Hill Education.
5. Houlihan, B., & Green, M. (2008). Comparative and International Sport Development. Routledge.
6. Parry, J., & Long, J. (2018). Sport and Social Justice: The Power of the Popular. Macmillan International Higher Education.

Please consult your institution's guidelines for formatting and citation styles when preparing your research paper.

Impact of Dr. Ambedkar's Ideas on Women's Status and Rights

Rekha
Research Scholar,
Dr. Ambedkar Chair, Faculty of Law,
Swami Vivekanand Subharti University, Meerut.

Abstract

Dr. Ambedkar the decisive fighter and a deep scholar has tried crucial attempts to guide the general public on the route of Liberty, Equality and Fraternity. He was first Indian to break down the hindrances in the technique for advancement of females in India. He started out the development of solid and genuine attempts by categorizing the fundamental Civil Code for Hindus and diverse elements of the Indian culture. This study focuses on Dr. B. R. Ambedkar's opinions and perspectives regarding women empowerment. The study also evaluates the work of Dr. B. R. Ambedkar as a thinker and social reformer in the liberation of social status of women in the society. Additionally, Dr. Ambedkar's dedication to social change intended to abolish traditions harmful to women's well-being. His views were not isolated but were part of a greater vision for social justice and equality, seen in the Indian Constitution's provisions. Dr. Ambedkar aggressively sought to implement his ideals, forming organizations and promoting women's involvement in the socio-political movement he headed.

Keywords: Women empowerment, Education, Equality, Social Justice, Discrimination

Introduction

Dr. Bhimrao Ramji Ambedkar, most often known by his nickname Babasaheb Ambedkar, was a prominent political figure in India and its legal system. The political and social climate of India has been forever altered as a result of his thoughts and work. While he is mostly recognized for his unrelenting pursuit of social justice and the abolition of caste-based discrimination, Dr. Ambedkar also held innovative and forward-thinking beliefs on the empowerment of women in India. Not only did he have forward-thinking ideas on women's rights and gender

equality, but his writings[1] have had a lasting impact on the national conversation about women's empowerment. Dr. Ambedkar believed that education was the key to achieving gender equality. He was certain that education would be the means by which centuries of prejudice based on gender could finally be overcome in Indian society. He saw the importance of education in helping women break free of limiting stereotypes and fulfill their full potential as individuals and as a society. Dr. Ambedkar advocated for girls' access to excellent education as a method of empowering them intellectually and emotionally as well as preparing them for the workforce. He argued that women should have the same access to higher education as men and that they should be treated as intelligent and capable individuals. His advocacy for education that is not biased against either gender helped pave the way for women to gain more independence in India.

The importance of women in politics and leadership was not lost on Dr. Ambedkar. He saw that political advocacy was a potent means of protecting women's rights and interests. He fought for women's political empowerment in a very patriarchal country. He considered it a great injustice that women were excluded from political debate and the decision-making processes of the country. Dr. Ambedkar's views on women's political equality opened the path for their participation in Indian politics. He was instrumental in drafting the Indian Constitution, which included provisions for women's suffrage and equal representation in government at all levels. This proactive strategy to securing women's presence in politics was a significant step toward female emancipation, and it remains one of the primary legacies of Dr. Ambedkar's vision.

Dr. Ambedkar also advocated for women to have equal economic opportunities as men. He realized that economic independence was crucial for women to end their subjugation and exploitation. In a primarily agricultural and caste-based culture, he fought for economic possibilities for women, particularly those from underprivileged backgrounds. He thought that women should not be limited to staying at home and caring for children, but should instead enter the workforce and make meaningful contributions to their communities. Dr. Ambedkar's push for economic equality resulted in programs and legislation designed to improve the status of women by giving them more opportunities to support themselves financially. Many current government initiatives in India that aim to increase women's economic participation may trace their genesis to these original concepts. Dr. Ambedkar fought hard for many causes, including equality in education, voting rights, and economic freedom. He understood that entrenched cultural practices and beliefs were often at the heart of the problems that led to women's subjugation. His devotion to social change was obvious in his attempts to remove caste-based discrimination and untouchability. He used the same reasoning to the movement for equal rights for women. Child marriage, dowry, and purdah were all traditions that Dr. Ambedkar strongly opposed since they were harmful to women and prevented them from achieving their

full potential. His commitment to social justice and the advancement of women's rights paved the way for a more equal and fair society. Dr. Ambedkar's commitment to social reform as a method to increase the status of women in Indian society was crucial to the development of the country.

However, Dr. Ambedkar's innovative and game-changing ideas for women's equality did not arise in a vacuum. They were a component of his larger plan to create a more fair and equal society. He thought that the fight for gender equality was intrinsically tied to the fight for social justice and equality more generally. Being the primary author of the Indian Constitution, he made sure that it included provisions for affirmative action to help lower-income and minority groups, including women. Dr. Ambedkar's dedication to social justice and equality established the legal basis that safeguards and advances women's rights in India. Dr. Ambedkar's work on the Indian Constitution was pivotal in ensuring women's equality for the first time in the country's history. He presided over the Constitution Drafting Committee, therefore his input was crucial in creating the nation's highest legislation. The Indian Constitution is more than simply a legal instrument; it is also a moral and ethical compass enshrining the guiding principles and values of the Indian people. The constitutional provisions that protect women's rights and promote gender equality bear the distinct imprint of Dr. Ambedkar's influence. His dedication to the ideals stated in the Preamble—justice, liberty, equality, and fraternity—provides a solid foundation for the advancement of women in India today. The Constitution protects basic liberties, including those essential for women's empowerment, such as the right to equality and nondiscrimination, the right to freedom, and the right to life and personal liberty.

In addition, the Indian Constitution includes measures designed to advance women's health and equality. Affirmative action may be used to remedy past disadvantages, and Article 15(3) gives the state the authority to create particular measures for women and children. Article 39(a) requires the government to prioritize providing citizens with access to appropriate means of subsistence. In Article 42, it is emphasized that the state should provide for the protection of women in the workplace and the provision of maternity leave. These constitutional protections for women are an expression of Dr. Ambedkar's hope for a fair and equal society in which all members may participate fully. Dr. Ambedkar's dedication to women's emancipation went beyond mere theory and constitutional measures. He devised programs to help women get an education and progress their careers as part of the social and political revolution he spearheaded. The All India Women's Conference and the BahishkritHitakarini Sabha, both of which advocated for the rights of women and notably those from underrepresented groups, were both founded with his help. These groups were instrumental in fighting for equal rights and better conditions for women.

His dedication to the advancement of women is shown in his choice of a wife, Dr. Savita Ambedkar, who was a pioneer in her own way. She earned a degree and was involved in her husband's political and social movements as one of the first Dalit women in India. Her successes and efforts to the cause of women's empowerment served as an encouraging example for women throughout the nation. India has come a long way in empowering women because to the principles of Dr. B.R. Ambedkar, whose legacy lives on today. Indian women have achieved great gains in the realms of academia, politics, and the workplace, and they are not done shattering glass ceilings or proving sexist assumptions wrong. Women have always occupied key roles in state and national administrations, and this number has grown as reserved seats for women have encouraged more women to enter politics. Women have been given the tools they need via economic empowerment initiatives to become self-sufficient and make meaningful contributions to the economy. As a result of social changes, more progressive views of women are becoming the norm.[2]

The fight for women's rights in India has come a long way, but there is still more work to be done. Women from disadvantaged origins still experience numerous types of oppression, including gender-based discrimination and violence. Dr. Ambedkar's theories are still instructive for tackling these persistent problems. It is just as important now as it was before to work to remove discrimination against women, improve women's access to resources like education and healthcare, and encourage them to become financially independent.

Women Empowerment

The Indian constitution was mostly drafted by Dr. Ambedkar. He provided women with powerful sacred safeguards. Ambedkar's goals for women are spelled out clearly in the Indian constitution. Articles 14, 15, and 16 of the constitution provide strong legal backing for gender parity. In its preamble, key rights, significant duties, and order requirements, the Indian Constitution honors the principle of sexual orientation fairness. He started recruiting women to fight for equality and the elimination of hierarchies in disadvantaged communities. He realized that until the women were released, nothing could be done. He encouraged and cared for women to fight against class discrimination. In his address to the large assembly of women at the Nagpur ladies' meeting on July 20, 1942, he exhorted the attendees to "get their act together" and to "nullify conventionalism, ceremony, and standard propensities" that stood in the way of their progress. The importance of empowering women in society should be prioritized and brought to the forefront. Five aspects contribute to women's empowerment: a sense of personal growth, the freedom to make choices, equal access to resources, autonomy in

personal and professional spheres, and the ability to affect societal change for a more equitable distribution of wealth and power on a global scale. Ambedkar believed strongly that uplifting women will enhance society as a whole. The activities of allowing females worldwide need to follow the vision of Dr. Ambedkar. He conceded that training had the potential to drastically improve the lives of formerly disadvantaged people. They won't know their worth, their responsibilities, or their rights unless they have an education.

Constitutional Rights and Women

The Indian Constitution has just a few of clauses that work toward empowering women so that they may achieve equality with males in Indian society. For example Article14 - All are equal in the eyes of law and equally protected by the law. What this entails in practice is parity in political, economic, and social institutions. Discrimination based on a person's sex is forbidden under Article 15. Article 15(.3) allows for gender-based discrimination that is advantageous to women. Article 16 states that no citizen will be subject to discrimination on the grounds of religion, caste, creed, or sex in issues pertaining to employment or appointment to any office. Under no circumstances may a kid under the age of 14 be employed in a factory, mine, or other potentially dangerous workplace. Articles 39 and 39(d) provide that A fair wage for a fair job, and a fair way to support oneself. Within its means, the state must ensure that all people have access to employment, education, and public assistance as outlined in Article 41. In Article 42, the state guarantees safe working conditions and maternity leave for its citizens. Article 44 guarantees all Indian nationals access to the same Civil Code wherever they may be found in the country. Article 46 requires the government to safeguard vulnerable populations from discrimination and exploitation while also prioritizing their own interests in terms of education and economic development. Article 47 - It is the responsibility of the state to enhance the living conditions and nutritional status of its citizens, as well as the health of the general public. Article 51 (A) (C) - Fundamental duty to abandon activities, detrimental to the dignity of women. In the Panchayati Raj System, seats are distributed according to the criteria laid forth in Articles 243D(3), 243T(3), and 243R(4). As Chairman of the Drafting Committee, Dr. B.R. Ambedkar attempted a sufficient inclusion of women's and oppressed classes' rights in the Indian Constitution. To him, the law was a means to an end of establishing a fair and just society. He wrote the principles of freedom, equality, and brotherhood into the Indian Constitution. Article 30(1) guarantees the freedom of linguistic or religious minorities to create and run educational institutions of their choosing in order to grant equal educational rights to the oppressed class. Article 30(2) forbids the government from discriminating against a school because it is run by a member of a linguistic or religious minority in order to receive

funding for such school. There shall be no discrimination against any person on the basis of religion, race, caste, language, or any of these factors in the admission or treatment of any person to, or participation in, any educational institution maintained by the State and receiving aid out of State funds, as provided in Article 29 (2) of the Constitution of India. Article 46 requires the government to safeguard the most vulnerable members of society from discrimination and exploitation while also prioritizing their own educational and economic advancement.[3]

Dr. B.r Ambedkar Towards the Empowerment of Indian Women

Ambedkar's perspective on women's oppression, social democracy, caste, and the Hindu social order and philosophy is significant to contemporary Indian feminism because of the systemic and functional operations of caste, as well as the growing caste / class divide in feminist political discourse. The fact that Ambedkar was born an untouchable meant that his ideas were never given enough attention by mainstream Indian society, despite the fact that he proved to be a genius and was known as a great thinker, philosopher, revolutionary, jurist - par excellence, prolific writer, social activist, and critic. However, the current social climate calls for a thorough investigation of his vast variety of themes, expansive vision, thorough analysis, logical approach, and vital humanity of his ideas for practical action.[4] Therefore, for the Indian women's movement, Ambedkar is a potent source of inspiration for developing a feminist political agenda that tackles class, caste, and gender issues in the context of today's sociopolitical setup, which retains conservative and reactionary values in many respects, particularly with regard to gender relations. Ambedkar's works and speeches illustrate the ideal principles and practices that will bring India's social and political institutions into the contemporary era. Ambedkar believed that women were especially vulnerable to the negative effects of a strict, caste-based social order.

Ambedkar Views on Women Rights and Justice

When comparing Dr. B. R. Ambedkar to other social reformers like Jyotiba Phule, Raja Ram Mohan Roy, Ishwar Chandra Vidyasagar, and Mahatma Gandhi, it is clear that Dr. Ambedkar's approach to women's rights is distinctive. However, Ambedkar developed his own stance on women's rights, which is reflected in the Indian constitution. His ultimate objective was to establish a fair and equitable society. Ambedkar has ensured this outcome by including many clauses in the Indian constitution that treat women as fully as males. To him, sexual

prejudice should be pulled out from the society and everyone should have equal chance in the society. Ambedkar's contribution ensures women's right to social and economic justice in the Preamble of the Indian Constitution. All citizens of India, regardless of their caste, creed, or sex, shall enjoy (i) social, economic, and political justice; (ii) freedom of thought, expression, belief, faith, and worship; (iii) equality of status and opportunity; and (iv) fraternity assuring dignity of the individual and national unity.[5]

He had fought for the equality of women as well as the rights of the hitherto untouchable. Dr. Ambedkar was quite critical of conventional and traditional norms. He spoke out harshly against the demeaning treatment of women in Indian culture. He firmly thought that women deserved the same legal protections as males and the same access to educational opportunities. He was saddened by the fact that the Hindu faith denied women equal ownership of property.

Dr. Ambedkar introduced an emancipatory bill (the Hindu code Bill) in Parliament to guarantee women's rights. The bill sought to unify the Hindu code in accordance with progressive and modern thought by, among other things, abolishing the various marriage systems practiced by Hindus in favor of monogamy, granting women the right to own property and adopt children, restoring conjugal rights upon divorce, and instituting judicial separation. He wasn't only worried about Hindu women, however. He saw that Muslim women, influenced by Indian culture, were not receiving the rights that were theirs under Islamic Shariah.[6] He also blasted the discrimination Muslim women face while seeking a divorce41. He expressed his sadness for the predicament of Muslim women in India, saying, "No Muslim girl has the courage to repudiate her marriage, although it may be open to her on the ground that she was a child and that it was brought about by persons other than her parents." No Muslim woman would agree that it is appropriate for her marriage contract to include a provision giving her the right to divorce. Despite her best efforts, she will always be stuck in an unhappy marriage since "once married, always married." While a wife is unable to end her marriage, her husband may do so at any time and for any reason.

Ambedkar even argued that the purdah system used by Indian Muslims was in conflict with Islam's actual purdah system. According to him, the purdah system creates a kind of isolation among Muslim women, which has a negative impact on their health and prevents them from leading fulfilling social lives. Men's morality will suffer if they are kept apart from women. He felt strongly that the restriction of women's access to education and religious freedom was not justified by any society that was founded on the principle of equality.[7]

Conclusion

Dr. B.R. Ambedkar's unwavering dedication to the advancement of women in India has left a legacy that is influencing the country's progress toward gender parity to this day. The groundwork for the amazing development achieved by Indian women was created by his holistic strategy, which included education, political representation, economic independence, and social change. Dr. Ambedkar, by his innovative thinking and his actions, established a new, fairer society that welcomed and respected all people.

References

1. Balabantaray, Subhra. (2022). Understanding women empowerment in the 21st century through the writings of Dr. B.R. Ambedkar: A narrative review. 52. 80-88.
2. Gautam, Nisha. (2022). Women Empowerment in India: Contribution of Dr. B. R. Ambedkar.
3. Mukherjee, Bipul. (2020). Rethinking Women Empowerment and Development Discourse from Ambedkar's Perspective. 17-22. 10.9790/0837-2503061722.
4. Tyagi, Manish & Singh, Lal & Basumatary, Dwimalu. (2019). Role of Dr. B.R. Ambedkar in Women Liberation and Empowerment.
5. Kamble, Sheetal. (2019). Dr. Ambedkar's contribution to women empowerment.. 5. 314.
6. Malaiyandi, &Madasamy, Velusamydr. (2018). Dr.BR. Ambedkar Contribution on Women liberation.
7. Ubale, Milind. (2016). DR. BABASAHEB AMBEDKAR'S APPROACH TO WOMEN'S EMPOWERMENT. INTERNATIONAL EDUCATION AND RESEARCH JOURNAL.
8. Kaur, Rajpreet. (2016). Upliftment of Indian Women from Slavery: An Analysis of Dr. Ambedkar 's Contribution for Women's Rights.
9. Singariya,. (2014). Dr. B.R. Ambedkar and Women Empowerment in India. Quest Journals Journal of Research in Humanities and Social Science. 01-04.
10. Mandal, Bankim. (2011). Dr. B.R. Ambedkar: A Champion of Women's Rights and Empowerment. Contemporary Voice of Dalit. 4. 79-90. 10.1177/0974354520110108.

Case studies

- Brown v. Board of Education, 347 U.S. 483 (1954)
- Roe v. Wade, 410 U.S. 113 (1973)
- M.C. Mehta v. Union of India, AIR 1987 SC 965
- Donoghue v. Stevenson, [1932] AC 562
- Marbury v. Madison, 5 U.S. (1 Cranch) 137 (1803)

Notes

1. Balabantaray, Subhra. (2022). Understanding women empowerment in the 21st century through the writings of Dr. B.R. Ambedkar: A narrative review. 52. 80-88.
2. Gautam, Nisha. (2022). Women Empowerment in India: Contribution of Dr. B. R. Ambedkar.
3. Mukherjee, Bipul. (2020). Rethinking Women Empowerment and Development Discourse from Ambedkar's Perspective. 17-22. 10.9790/0837-2503061722.
4. Tyagi, Manish & Singh, Lal & Basumatary, Dwimalu. (2019). Role of Dr. B.R. Ambedkar in Women Liberation and Empowerment.
5. Kamble, Sheetal. (2019). Dr. Ambedkar's contribution to women empowerment.. 5. 314.
6. Malaiyandi, &Madasamy, Velusamydr. (2018). Dr.BR. Ambedkar Contribution on Women liberation
7. Singariya,. (2014). Dr. B.R. Ambedkar and Women Empowerment in India. Quest Journals Journal of Research in Humanities and Social Science. 01-04.